offering for the people on the Day of Atonement (Lev. xvi 5), on the c
festivals, and at the New Moon (Num xxviii. 15, 22, 30, xxix. 5, etc
offence of a ruler (נָשִׂיא, Lev. iv 22 sq) ; at the dedication of the tab
8, 15, comp. Num vii 16, etc) ; and again for the offences of the c
(Num. xv 24), viz when something had been committed " away from
i.e. behind the back of the congregation (2) A *goat* or a *female* laml
offered for the offence of an ordinary Israelite (Lev iv. 28, 32, v 6) ,
of the first year was the sin-offering at the release from the Nazarite's
vi. 14), and at the purification of the leper (Lev xiv 10, 19). *Turt*
young pigeons formed the sin-offerings at purifications (Lev xii 6,
Num vi. 10), and were the substitutes for a lamb or other small catt
poor who were unable to afford the latter (Lev. v 7, xiv 22) If ar
able to offer even pigeons, a tenth part of an ephah of fine flour, but
or frankincense, might be substituted in the case of ordinary offences (

2. The *blood* was brought to more sacred places than was the case in ot
ces, and in the three following degrees *a* In sin-offerings of goats, kids
for individual Israelites (with the exception of the high priest), some of
was smeared on the horns of the altar, and the rest poured out at its
iv 25, 30, 34) The same was done at the sin-offering of a bullock at
cration of priests, Ex. xxix 12, and undoubtedly at that of Levites al
the sin-offerings of bullocks offered for the congregation or for the high
other occasions than the Day of Atonement, the blood was sprinkled se
toward the inner veil, the horns of the altar of incense were smeared t
and the rest was poured out at the base of the altar of burnt-offering (
sqq , 16 sqq) *c* At the greatest of the sin-offerings, viz that on t
Atonement, the blood was taken into the Holy of Holies (see thereon § 1

3. The consumption in sin-offerings of the lower grade (except thos
the consecration of priests) of the *flesh of the sacrifice*, which had come i
contact with God, and was therefore designated as *most holy* (Lev vi
קֹדֶשׁ קָדָשִׁים, comp Knobel on Lev. xxi 22), by the priests in the fore-cou
sanctuary, vi 18 sq In sin-offerings of the higher grade, and those m
consecration of priests, the flesh, together with the skin, head, bones, ent
dung, were burned in a clean place outside the camp (Lev iv 11 sq., 2
xvi. 27) (4) Whoever had his garment sprinkled with the blood of the
ing, was to wash it out in the holy place, evidently to guard against a pr
of the sacred blood. The vessels in which the sin-offerings of the low
had been boiled were, if of earth, to be broken ; if of brass or copp
scoured with the greatest care (vi 28 sq.) In offerings of the higher g
who had burnt the flesh without the camp was to bathe, and wash hi
before his return to the camp (xvi 28) (5).

The *explanation* of the ritual of the sin-offering must be connected w
has already been said on the nature of sacrificial atonement. To substitut
impure soul of the sinner a pure soul, which, being offered to God, may
offerer, is, as remarked, § 127, the meaning of a bloody offering, and con
ly the direct intention of the sin-offering The representation of the
person being the matter in question, the value of the victim corresponds
difference of his theocratic position The reason for the predominance

आत्मपरक

'अज्ञेय'
(सच्चिदानन्द वात्स्यायन)
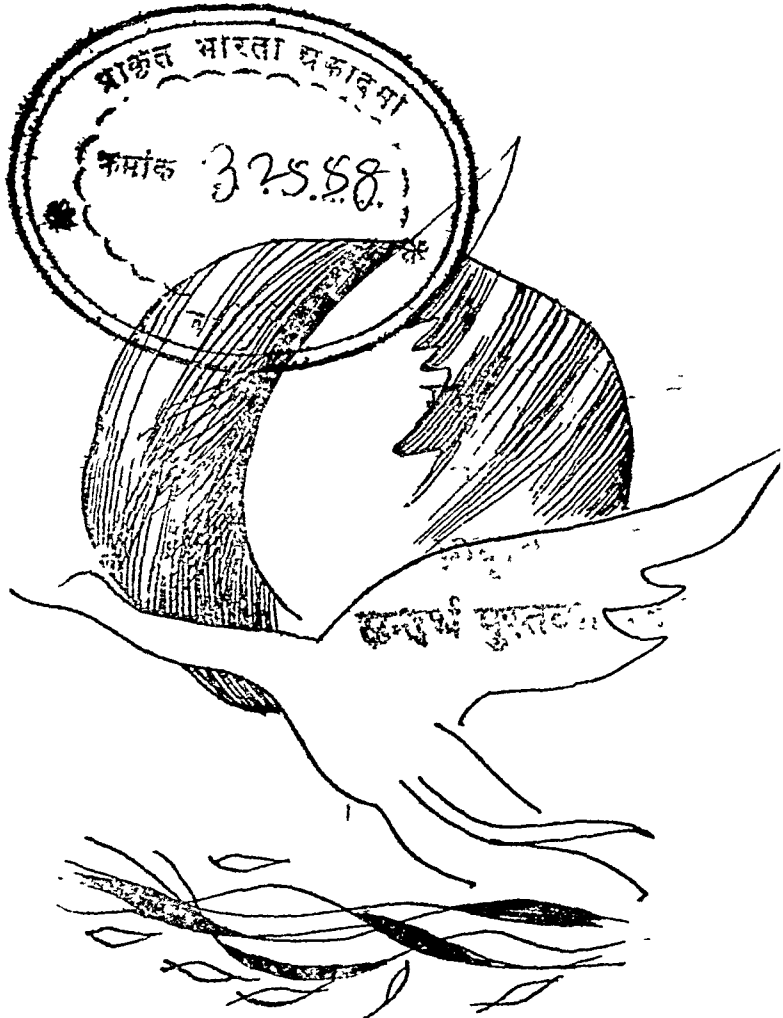
भूमिका

जैसा कि इस प्रकाशन के शीर्षक में ही स्पष्ट कर दिया गया है, यह पुस्तक वास्तव में दो पुस्तकों का पुनर्मुद्रण है जो दोनो ही कुछ वर्षों से अनुपलब्ध थी। इन्हे इस एकत्रित रूप मे पुनः प्रकाशित करने से पहले इस पर काफी विचार किया कि दोनो को अलग-अलग ही फिर से छापना चाहिए अथवा यो जोड़ दिया जा सकता है; अन्त में जोड़ देने के पक्ष मे ही युक्तियाँ भारी रही। 'आत्मनेपद' का पहला प्रकाशन हुआ तो मेरे उन दिनो के पाठको ने उसे लेखक के निकटतर आने के लिए उपयोगी पाया था; वे पाठक उसी रूप को बनाये रखना चाहेगे पर जो तर्क उन्हें पर्याप्त जान पड़ेगा वह नये पाठक के लिए उतना प्रभावशाली नही भी हो सकता है। 'लिखि कागद कोरे' की रचनाएँ भी प्रायः सभी उसी तरह की आत्मपरक या विषयी-सम्प्रेषी रचनाएँ थी जैसी 'आत्मनेपद' की, इस लिए सब को इकट्ठा कर देना ही ठीक जान पड़ा। नये सस्करण ने इस की सुविधा दी तो साथ ही थोड़ा क्रम-परिवर्त्तन भी सम्भव कर दिया जो इन रचनाओ को एकत्र करते समय वाञ्छनीय जान पड़ रहा था। वह परिवर्तन कर दिया गया है, पर दोनो मूल पुस्तको का रूप अलग-अलग पहचाना जा सके इस के लिए आवश्यक संकेत यथास्थान दिये गये हैं।

आशा है कि नये पाठक द्वारा ये रचनाएँ उसी तरह पढी और उपयोगी पायी जायेंगी, और साथ ही पुराने पाठक को यह पुस्तक देख कर ऐसा नही लगेगा कि उस के एक परिचित (और क्या 'प्रिय' भी कह सकता हूँ ?) ग्रन्थ का रूप बदल कर उस की दुनिया छोटी कर दी गयी। जानी-पहचानी पुस्तके जिस हद तक हमारी दुनिया का रूपायन करती हैं यह मैं जानता हूँ; वय-वृद्धि के साथ यह भी पहचानता हूँ कि जाने हुए पथ-चिह्नो के मिट जाने से कैसे जान पड़ने लगता है मानो जानी-पहचानी

दुनिया हम से छिनी जा रही हो ! जिन्होंने पहले संस्करणो का स्वागत किया उन्हे वह आघात पहुँचाना नही चाहता—चाहे जानता हूँ कि दुनिया को तो बदलना ही है, और चाहे उसे बदलने के आयोजन मे आजीवन स्वय लगा रहा हूँ ! जिन्होने वे पुस्तके नही देखी, उन से तो यही आशा कर सकता हूँ कि यहाँ सगृहीत रचनाएँ उन्हे अज्ञेय की अन्य रचनाओ की ओर आकृष्ट करेगी और उनकी ग्राह्यता भी बढायेगी ।

—'अज्ञेय'

निवेदन
('आत्मनेपद' की भूमिका')

कोई भी रचना पूरी हो जाने पर उस के प्रकाशन से पहले संकोच का एक क्षण आता है, जव कृतिकार एक वार अन्तिम रूप से उस का मूल्यांकन करता है और इस प्रकार उसे अन्तिम रूप से अपने से अलग कर देता है—कृति तव पाठक की हो जाती है और कृतिकार उस से मुक्त हो जाता है।

जव कृति के साथ भी सकोच की ऐसी स्थिति आती है, जिस मे मेरी समझ मे कृतिकार आरम्भ से ही अपने से दूर होता है क्योकि वह विभोर होता है, उसी मे डूवा हुआ और तदात्म होता है और अपने को भूल गया होता है; तव इस पुस्तक जैसे लेखन के साथ वह संकोच उस की अपेक्षा कितने गुना अधिक न होगा, जिस मे कि न केवल आत्म-विस्मृति नही है वल्कि आरम्भ से ही एक अतिरिक्त आत्म-चेतना का भाव है, क्योकि सारी पुस्तक ही 'अपने' विपय मे है—अपने व्यक्ति के, अपने जीवनानुभव के, अपनी रचना की प्रवृत्तियो के, अपने विश्वासो के, और उन सूक्ष्म तत्त्वो के जिन्हे लेखक अपने कर्म के वुनियादी मूल्य या प्रतिमान मानता है—जिन की सूक्ष्मता ही उन की गहराई को सूचित करती है ?

'आत्मनेपद' निःसन्देह अत्यन्त आत्मचेतन (सेल्फ़काशस) रचना है। पर आत्मचेतना अनिवार्यतया अहंलीन ही होती हो, ऐसा नही है। आत्मचेतन भाव से लिखी गयी होने के कारण ही पुस्तक लेखक की अहम्मन्यता का प्रमाण हो—वल्कि स्वयं वैसी अहम्मन्यता का स्वीकार!—ऐसा नही है। मैं जानता हूँ कि यह आशा दुराशा मात्र होगी कि इस पुस्तक का प्रत्येक पाठक लेखक के विपय मे किसी भी पूर्वग्रह से मुक्त हो कर इसे पढ़ेगा और पढ़ने के वाद ही इस की वस्तु पर और उस की

आधारभूत मान्यताओं पर अपना मन्तव्य स्थिर करेगा (और, हाँ, उस के लेखक के बारे मे भी, यद्यपि वह सब से कम महत्त्व की बात है), फिर भी यह मैं मानना चाहता हूँ कि पाठक यह देख सकेगा कि 'अपने' बारे मे हो कर भी यह पुस्तक अपने मे डूबी हुई नही है—कम से कम इस के लेखक की 'कृतियो' से अधिक नही ! इतना ही नही, मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि इस के आत्मचेतन होने के बावजूद इस मे भी तद्-गत भाव किसी दूसरी रचना की अपेक्षा कम नही है, और वह 'तत्' लेखक के अह से अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कुछ है, ऐसा कुछ, जो केवल-मात्र साहित्य की दृष्टि से महत्त्व रखता है, जिस के ही साहित्य मे बचे रहने या न रहने का प्रश्न उठ सकता है, क्योकि लेखक और उस का अह तो नश्वर है ही और नश्वरता के नियम से किसी तरह बच नही सकता। (इस लेखक का जो जीवन-दर्शन है, उस मे तो उस नश्वरता को पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया है, बल्कि अपने बने रहने के लिए पुनर्जन्म का हीला भी नही छोडा गया है ··वह तो मानता है कि इस की नश्वरता ही इसे वह अद्वितीयता देती है जो इस का रस और इस का प्रमाण है।)

यह मैं जानता हूँ कि हिन्दी प्रकाशन-क्षेत्र को—उस पूरे क्षेत्र को साहित्य-क्षेत्र कहते झिझक होती है यद्यपि साहित्य-क्षेत्र भी उसी की एक क्यारी तो है ही—समकालीन परिस्थिति मे ऐसी पुस्तक ले कर आना, मानो घमासान युद्ध मे कवच उतार कर और निरस्त्र हो कर, मर्म-स्थलो को जान-बूझ कर अरक्षित कर के आना है—मार खाने आना है। समझदारी उसे नही कहा जा सकता। विवेक को पूरा महत्त्व देते रहने पर भी, इस तरह की समझदारी कभी भी मेरे निकट सम्मान्य या वाञ्छ-नीय नही रही; और मार खाते रहने का मेरा धैर्य दुस्साहस ही माना जाता चला आया है। उस की कोई ग्लानि मन मे नही है क्योकि मान ले सकता हूँ कि अगर भूल भी मुझ से हुई है तो मार खा कर मैं ने उस का शोध कर लिया है ! पर इस पुस्तक के प्रकाशन मे उसी दुस्साहस की आवृत्ति से अधिक कुछ भी है। और उस प्रकार की चर्चा अपने विषय मे पहले नही की है, अथवा अपने निजी जीवन के विषय मे लोगो के कुतूहल को जान कर भी अपने से दूर रखता आया हूँ, तो आज उस का शमन करना चाहने की कुछ सफाई तो अपेक्षित हो ही सकती है। उत्तर मे कहूँ कि कुछ वर्षों से लगता रहा है कि यह कुतूहल (जिसे

आज भी कुछ अच्छा या स्वस्थ या उचित नही मानता हूँ), और अश-मित कुतूहल से उत्पन्न अनेक प्रकार के तनाव, एक दीवार-से मुझे उन से अलग करते रहे है जिन्ही के लिए आखिर मैं लिखता हूँ। और इतना भर होता तो भी पाठको के वृत्त को और छोटा मान कर भी सन्तोप कर लेता; पर क्रमशः स्पष्ट होता गया है कि उस का दवाव कृतिकार व्यक्तित्व के भीतर भी पहुँचता है और कृतिकर्म में वाधक वनता है। कृतिकर्म का भी अतिरिक्त मोह मुझे नही है; जानता हूँ कि एक दिन यत्किंचित् प्रतिभा का भी स्रोत चुक जायेगा और कृतिकारत्व भी सूखे पत्ते-सा झर जायेगा—और चाहता हूँ कि जिस दिन ऐसा हो उसी दिन इस वात को पहचान सकूँ और उस झर जाने को निराकुल भाव से स्वीकार कर सकूँ—**'फूल को प्यार करो, पर झरे तो झर जाने दो'**—**'एक दिन उस दिन जिसे अपनी पराजय भी दे सकूँगा समुद, निस्संकोच, उसी को आज अपना गीत देता हूँ'**—फिर भी जव तक उस कार्य का दायित्व ओढ़े हुए हूँ तव तक उसे अकुण्ठित रखना चाहता हूँ। अगर वह भीतरी है तो उसे वाहर के आक्रमण से पगु नही होने देना चाहता · भीतर से ही जव वह सूख जायेगा तव वह उस की हार नही, निष्पत्ति होगी ··

और यह भी कुछ स्पष्ट होता आया है कि यह भी ऐसा क्षेत्र है जहाँ अविरोध से ही जय हो सकती है। और जव यह स्पष्ट हो गया तो आत्म-चर्चा स्वभाव के नितान्त प्रतिकूल रहते भी जो दीख गया है उसे मैं ने मान लिया है। इस प्रकार यह निरस्त्र हो कर मार खाने सामने आना एक प्रकार का सत्याग्रह ही है। हथियार डाल देना वह नही है। वह युद्ध के नैतिक स्तर को वदल देने का ही प्रयत्न है। जहाँ युद्ध होता है, आक्रमण और प्रतिरक्षा का भाव होता है, वहाँ इस का निर्णय सम्पूर्णतया आक्रान्ता के ही हाथ मे होता है कि किन अस्त्रों का प्रयोग होगा—क्योंकि जैसा आक्रमण होगा उसी के अनुरूप तो उस की काट होगी। जो इस प्रकार आक्रान्ता के वशीभूत नही होना चाहता, उसे प्रतिरक्षा का तर्क भी छोड़ना ही पड़ेगा।

इसी लिए, यह जो कुछ है आप के सम्मुख है। इसे मैं स्वयं 'मैं' भी नही कहना चाहता—इसे 'यह' ही मानना चाहता हूँ जिस से कि इस की निरस्त्रता पूरी हो जाये—ममत्व का तनिक-सा भी कवच उसे न हो।

यहाँ तक अकेले नहीं पहुँचा हूँ। जीवन मे वहुत अकेला रहा हूँ, पर जव कही पहुँचा हूँ तो पाया है कि अकेला नही हूँ, दूसरे भी साथ

आये है—पहुँचाने आये है। इस सौभाग्य के आगे नतमस्तक हूँ। जिन के सहारे और जिन के साथ यहाँ तक आया हूँ वे पथ-संकेत देने के कारण गुरुजन तो है ही, पर उस अतिरिक्त कृपा के बारे मे क्या कहूँ जिस ने मुझे यह दिया है कि वे मेरे प्रणम्य ही नही, मेरे प्रिय भी हो? एक शब्दातीत विस्मय के साथ उसे स्वीकार ही किया जा सकता है—ओढा ही जा सकता है···

—'अज्ञेय'

साँचि कहउँ ?

('लिखि कागद कोरे' की भूमिका)

कोरे कागद का इस से अच्छा उपयोग न जानता होऊँ, सो वात नही। वल्कि यह भी मानना चाहता हूँ कि प्रायशः तो इस से अच्छे ही काम में उसे लगाता हूँ। और सुलझा हुआ पाठक (अगर सुलझ जाने के वाद भी ऐसी पुस्तक पढेगा !) तो यह भी पहचानेगा कि ये लेख वास्तव मे वैसा सत्य नही है जिस के लिए पारम्परिक 'कोरे कागद' का व्यवहार सम्मत रहा। सत्य भी खंड-सत्य (या कभी-कभी मिश्र सत्य) है, और कागद भी ओप-चढ़ा है इस लिए सीमित अर्थ मे ही कोरेपन का दावेदार हो सकता है।

असल मे यह पुस्तक पहले एक और पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में आयोजित हुई थी। पर जव पूंछ अविक लम्वी हो गयी तो सुझाया गया कि काट कर अलग कर देने पर यह स्वतन्त्र रूप से जी सकेगी। मुझे पूरा प्रत्यय तो नही हुआ, पर जैसे लिखने के मामले मे अपना निर्णय अन्तिम मानता हूँ वैसे ही छापने के मामले मे प्रकाशक या प्रकाशकीय सम्पादक की राय को अविक गरिमा देता हूँ। छिपकली की पूंछ कट जाने पर वह नयी पूंछ उगा लेती है यह जानता हूँ; पूंछ भी कट जाने के वाद थोड़ी देर नाचती रहती है यह भी देखा है। पर पूंछ ने भी उसी तरह आगे छिपकली उगा ली हो जैसे छिपकली ने पूंछ, यह तो कभी नही देखा-सुना। अंग्रेज़ी मुहावरे मे कभी दुम भी कुत्ते को हिलाती है, पर वह तो मुहावरेवाज़ी है न—कोरे कागद पर क्या वैसी वात लिखी जाती है!

फिर भी, छपी पुस्तक को देख कर जव ऐसा नही लगा कि इस का परिशिष्ट-पन अव भी सिर पर चढ़ कर वोल रहा है, तव मैंने भी मान लिया कि ठीक है, समय-समय पर लिखे गये ये आत्मपरक निवन्ध, या वोले गये प्रश्नोत्तर, इस संगृहीत रूप मे भी पाठक को रुच सकते है; सुलझे हुए पाठक को थोड़ी देर उलझाये रख सकते हैं और उलझे हुए

पाठक को अपने को सुलझाने मे कुछ मदद दे सकते है। ऐसा मान लेना मेरी भूल न हो, और मेरी आशा निराधार न सिद्ध हो, तो मैं मानूंगा कि मैं सफल भी हुआ और पाठक की ओर से ऋण-मुक्त भी। फिर यह भी है कि जब एक सिद्ध पुरुष ने कोरे कागद पर सत्य लिखने की बात कही थी, तब दूसरे ने लिखे सत्य का अवमूल्यन भी कर दिया था। 'कागद की लेखी' तो यो ही सब झूठ हो जाने वाली है। यह पुस्तक मेरी कागद-लेखी हो कर भी जहाँ-तहाँ पाठक की आँखिन-देखी हो जाय, तो मुझे और क्या चाहिए।

असल मे मुझे शीर्षक देना चाहिए था 'अध साँचि कहउँ मैं टाँकि-टाँकि कागद अध-कोरे'—पर साठोत्तरी उपन्यास के पाठोत्तरी पाठक भी महसूसते (उन्ही की भाषा है) कि इतने लम्बे शीर्षक नही चलने के—केवल पूंछ के शीर्षक हो कर भी नही।

—लेखक

इस संस्करण के लिए टिप्पणी :

अब ये आत्मपरक लेख फिर परिशिष्ट तो नही, पुस्तक का उत्तरार्द्ध हो गये हैं—और उस पुस्तक का भी नही जिस का परिशिष्ट होने को थे। ये लेख भी काफी पढे गये, जिससे अनुमान होता है कि लेखक के निकटतर आने मे ये पाठक के सहायक हुए—इसी लिए इन्हे फिर उपलब्ध किया जा रहा है। और अब प्राय: सभी आत्मपरक रचनाएँ यहाँ एकत्र हो गयी है। आशा है कि पाठक इन की यो सुलभता का स्वागत करेगा।

—लेखक

क्रम

खंड २ : लिखि कागद कोरे

खंड १

आत्मनेपद

१ सन्दर्भ : काव्य
२. सन्दर्भ : आख्यान
३ सन्दर्भ : आलोचना
४ सन्दर्भ : स्थिति
५. सन्दर्भ : मन

कपिला के लिए

सन्दर्भ : काव्य

मेरी पहली कविता

एक खिलौना होता है जिसे 'फिरकी' या 'फिरकनी' या 'भँवरी' कहते हैं। यह लट्टू की ही जाति का होता है—अन्तर इतना कि लट्टू लत्ती से घुमाया जाता है, और यह चुटकी से। पजाव की तरफ इसे 'भमीरी' या 'भुमीरी' कहते है। 'भँवरी' की तरह ही ये शब्द भी 'भ्रम्' धातु से निकले हुए है। अव तो विलायती गाने वाले लट्टुओ और प्लास्टिक की चकई ने इस का स्थान ले लिया, लेकिन मेरे वचपन मे शहरों में भी फिरकनियों का अपना स्थान था। लकड़ी के रगीन गेद-वल्ले से कुछ ही कम महत्त्व पीली या लाल रगी हुई, खराद की लकड़ी की फिरकनी का होता था—और उस पर वने हुए फूलों की डिजाइन पसन्द करने मे वच्चो का वडा समय और मनोयोग खर्च होता था !

यहाँ तक पढ़ते-पढते पाठक सोचने लगेगा कि इस पारिभापिक ऊहा-पोह और सस्मरण का मेरी पहली कविता से क्या सम्वन्ध है ? वड़ा घनिष्ठ सम्वन्ध है, जैसा कि अभी प्रकट हो जायेगा। लेकिन वह वताने से पहले मेरे अपने मन मे जो सन्देह होता है उसी का पहले निवेदन कर देना चाहिए : स्वयं कविता का ही कविता से क्या सम्वन्ध है ? क्योकि विना इस का निवटारा किये यह कैसे वताया जा सकता है कि मेरी आरम्भ की तुकवन्दियो मे से—या विना तुक की लययुक्त पंक्तियो मे से—किसे कविता माना जाय ? और ऐसी भी अनेक रचनाएँ होगी, जिन्हे कभी

कविता मानने की मूर्खता की थी और जिन का अब स्मरण करते ही झेप लगती है ? इसी लिए बात को मैं यहाँ से आरम्भ करना चाहता हूँ कि कविता के सम्बन्ध मे मेरी क्या धारणा कैसी बनी—शब्द का सार्थक, साभिप्राय, रसात्मक प्रयोग किया जा सकता है, यह सम्भावना कैसे मेरे मन मे उदित हुई ··और इसी बात का भँवरी से—या उस के पजाबी नाम 'भुमीरी' से—गहरा सम्बन्ध है।

मै तब शायद चार साल का था—कम से कम पाँच साल से अधिक का तो नही था जब की बात है—क्योंकि लखनऊ की बात है जो मैं ने पाँच वर्ष की आयु मे छोड दिया था। कोई सम्बन्धी बाहर से आकर हमारे यहाँ ठहरे थे। हम बहन-भाइयो के लिए खिलौने लाये थे। मुझे एक फिरकनी मिली। उस का नाम मै नही जानता था, उन्होने बताया—'भुमीरी'। मैं उसे बरामदे मे ले गया और चुटकी से जैसे उन्होने बताया था उसे घुमाने लगा। दो-एक बार तो वह दो-चार चक्कर काट कर ही लुढक गयी। पर इतने मे उस का गुर मैंने पहचान लिया, और फिर तो वह झूमती हुई देर तक घूमने लगी। कौन बच्चा ऐसी विजय पर प्रसन्न न होगा ? मै भी उस के चारो ओर नाचने लगा। लेकिन नाचना भी काफी नही मालूम हुआ—तब मै ने ताली दे-दे कर चिल्लाना शुरू किया—"नाचत है भूमिरी !" छन्द की गति के कारण अनायास ही 'भुमीरी' को 'भूमिरी' बन जाना पडा। लेकिन दो-तीन बार पुकार कर ही मैं सहसा रुक गया। चौक कर मैने जाना कि जो बात मै कह रहा हूँ, उस से वास्तव मे अधिक कुछ कह रहा हूँ—'नाचत है भूमिरी'—मेरी भुमीरी नाचती है, सो तो ठीक, लेकिन अरी, भूमि भी तो नाचती है—'नाचत है भूमि, री'! मन ही मन इस द्व्यर्थक वाक्य को मैं ने फिर दुहराया : सच तो! वह मेरी भूल नही है—वाक्य सचमुच दो अर्थ देता है—उस मे चमत्कार है! और फिर मैं ने दूने जोर से चिल्ला कर और नाच कर, ताली दे कर, गाना शुरू किया—"नाचत है भूमिरी" "नाचत है भूमि, री !" इस से आगे शब्द नही मिले, पर उस समय मै ने जाना कि मेरी भँवरी ही नही, भूमि भी नाचती है—सारा विश्व-ब्रह्माण्ड नाच रहा है और उसी ताल पर, उसी छद मे बँधा, मै भी नाच रहा हूँ—मैं ने एक साधारण वाक्य से एक असाधारण अर्थ निकाल लिया है—मैं आविष्कारक हूँ, स्रष्टा हूँ! मैंने शब्द की शक्ति को पहचान लिया है, पहचान ही नही, स्वायत्त कर

लिया है—और शब्द शक्ति ही तो आद्या है। 'इन द बिगिनिंग वाज़ द वर्ड, एंड द वर्ड वाज़ गॉड' (आदि में शब्द था और शब्द ही ईश्वर था)···

पाठक हँस सकता है। आज मैं भी हँस सकता हूँ। लेकिन इस बोध से उस दिन जो रोमाच हो आया था, उस की छाप आज भी मुझ पर है—और उस दिन से मैं कभी नही भूला हूँ कि शब्द शक्ति का रूप है, कि शब्द का सार्थक प्रयोग सिद्धि है। इसलिए, मेरी पहली कविता कौन-सी थी, इस प्रश्न के उत्तर मे यह वाल्य-कालीन अनुभव प्रासगिक तो है ही, भले ही वह वाक्य कविता न रहा हो। इसी लिए मै ने जिज्ञासा की थी कि कविता का ही कविता से क्या सम्वन्ध है!

अनुप्रास और लय—इन की पहचान अपेक्षया सहल भी होती है, सहज भी · अवोध शिशु लोरियाँ सुन कर ही इन तत्त्वों को पहचानने लगता है। और इन के वोध मे अभिभूत करनेवाला वह तत्त्व नही होता जो शब्द की अर्थ-वोधन-क्षमता को पहचानने से होता है—वह एक दूसरी ही कोटि का बौद्धिक आनन्द है···

कुलपरम्परानुकूल मेरी पढाई रटन्त से आरम्भ हुई: गायत्री-मन्त्र और अष्टाध्यायी के साथ-साथ मुझे अपने वयोवृद्ध गुरु की स्नेहभरी पण्डिताऊ गालियाँ भी अभी तक याद है। लेकिन प्रवुद्ध-चेता पिता ने **'स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभ्यस्···ङसोसाम्ङिओस्सुप्'** की रटाई के साथ-साथ अँगरेजी की मौखिक शिक्षा भी आरम्भ करवा दी थी, और अक्षर-ज्ञान से पहले ही मैं दो-ढाई सौ अँगरेजी शब्द सीखकर वह भाषा वैसे बोलने लगा था जिसे 'फर्र-फर्र अँगरेजी' कहते है। अँगरेजी मे ही कुछ हलकी कविताएँ और तुकवन्दियाँ रट ली थी—हमारा दुर्भाग्य था कि हिन्दी मे वाल-साहित्य तव लगभग नही था—अव भी कुछ वहुत या अच्छा हो, ऐसा नही है। तो अँगरेजी तुक से प्रेरणा पा कर अँगरेज़ी के सहारे ही लोगो को चिढानेवाली कुछ तुकवन्दियाँ भी की थी—और एक-आध वार वडो की इस अवमानना के कारण दण्ड भी पाया था! स्पष्ट है कि इन्हें कविता नही कहा जा सकता—लेकिन 'वागर्थसम्पृक्ति' के ज्ञान के वाद अगला कदम तो छन्द:परिचय ही है!

यह छठे वर्ष की वात है। इस के वाद न जाने क्यो कई वर्षों का अन्तराल है, जिस मे और वहुत-कुछ जाना-सीखा, वहुत-सी दिशाओ मे आगे वढा, पर कविता से कुछ परिचय वढा हो, ऐसा नही याद पड़ता। ग्यारहवे वर्ष मे एक ओर टैनिसन की कविता से परिचय हुआ, तो दूसरी

ओर असहयोग के पहले दौर से और तत्कालीन 'प्रिंस ऑफ वेल्स' को भारत-यात्रा के वहिष्कार के आन्दोलन से। इसी समय स्वामी दयानन्द की गगा को लक्ष्य कर के लिखी हुई उद्वोधनात्मक कविता भी पढी :

गंगा उठो कि नींद में सदियाँ गुजर गयी,
देखो तो सोते-सोते ही वरसें किधर गयीं।

इन सव की सम्मिलित प्रेरणा से मै ने भी गगा की एक स्तुति लिखी थी जो अनन्तर गगा मैया को ही भेंट चढ गयी। वह मुझे स्मरण होती तो पहली कविना के नाम पर कदाचित् उसी का उल्लेख उचित होता—किन्तु एक तो यह अँगरेजी मे थी, दूसरे कविता याद न होने पर भी इतना तो याद है कि इस के छन्द पर, भापा पर, शैली पर, टेनीसन की गहरी छाप थी !

इन्ही दिनो पिता के साथ उटकमड चला गया। मैं स्वभाव से भी एकात-प्रिय था, और परिस्थितियाँ भी अकेला रखती आयी थी—पर उटकमड से तीन मील दूर फर्नहिल नामक स्थान के एक वँगले मे रह कर तो मानो एकान्त मे डूव ही गया—यद्यपि प्रकृति के स्पन्दन-भरे एकान्त मे, जिस मे इस वात की चिन्ता नही थी कि परिवार के वाहर कोई भी हमारा एक शव्द भी समझने वाला न था, न हम किसी का एक भी शव्द समझते थे ! इसी एकान्त-काल मे मैं ने पहले चित्र सग्रह करना शुरू किया—मुख्यतया अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उन के नव-वग सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा के चित्र—और उन के एलवम वनाये। यही एक दिन सहसा पाया कि मैं ने एक हस्तलिखित पत्रिका निकाल दी है—'आनन्द-वन्धु' ! और इस पत्रिका मे पहले पृष्ठ पर कविता से ले कर अन्त मे सम्पादकीय के वाद चित्र-परिचय तक सव-कुछ था—जैसा कि उस से पहले के वर्पो की **'सरस्वती'** मे हुआ करता था—स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व मे ! पहले अक मे तो कविता के नाम पर गुप्तजी की

नीलाम्बर-परिधान हरित तट पर सुन्दर है

वाली स्वदेश-वन्दना दी गयी थी, पर दूसरे अक से समझ मे आने लगा कि इस प्रकार उद्धृत सामग्री देना सम्पादन-कला के विरुद्ध है। दूसरे अक मे वडे भाइयो से भी सामग्री प्राप्त की : एक ने तो ड्यूमा के **'काउंट ऑफ़ मांटेक्रिस्टो'** के आधार पर हिन्दी धारावाही कथा की पहली

किस्त दी, दूसरे ने उस समय याद नही क्या। पर कविता उस अक मे मेरी ही गयी। यह भी पूरी मुझे याद नही है; पर उन्ही दिनो श्री शिव-प्रसाद गुप्त की **'पृथ्वी-प्रदक्षिणा'** निकली थी, जिस मे अमरीका के नियागरा प्रपात को दी गयी कन्या-वलि का उल्लेख था—उसी कहानी से प्रभावित हो कर उसी पर कविता लिखी गयी थी ···**'आनन्द-वन्धु'** का पहला अंक तो वहन-भाइयों ने ही देखा था, दूसरा पिताजी ने भी : उन से इस कविता पर मुझे पाँच रुपये पुरस्कार मे मिले थे। इस पूँजी पर अगले चार वर्ष तक **आनन्द-वन्धु** चल सका···मेरे सम्पादन के अनुभवो मे कदाचित् यही सव से प्रीतिकर है—उस के वाद न तो कभी इतना कम खर्च हुआ, न इतनी वालानशीनी नसीव हुई !

इन्ही दिनो गुप्तजी की कविता के अतिरिक्त मुकुटधर पाण्डेय, श्रीधर पाठक, 'हरिऔध', रामचरित उपाध्याय और आरा के 'प्रेमयोगी देवेन्द्र' की कविता से परिचय हुआ। इन सव से छन्दो के वारे मे कौतूहल वढा। रोला और वीर तो हिन्दी के अति-परिचित छन्द है, जिन से कौन हिन्दी कवि वचा होगा; और गुप्तजी की कृपा से हरिगीतिका और गीतिका पर भी हाथ साफ करने का साहस हुआ। लेकिन कुछ संस्कृत छन्दो ने भी आकृष्ट किया। 'हरिऔध' की यशोदा का विलाप पढ कर मैं ने मालिनी छन्द मे कई एक विलाप लिखे थे—राधा का, प्रवत्स्यत्पतिका वीर-वधू का, इत्यादि। मन्दाक्रान्ता तव इतना अच्छा नही लगा था जितना वाद मे लगने लगा, पर 'शिखरिणी' पर मै मुग्ध था—विशेष कर पिताजी के पढे हुए **'महिम्नस्तोत्र'** के कारण। लेकिन ये छन्द कभी मुझ से सधे नही, और पीछे वरवै के आकर्षण मे अपनी असफलता का दुःख भी भूल गया।

'आनन्द-वन्धु' के कुछ अंक अभी मेरे पास है। जव कॉलेज आया, तो कालेजी विद्यार्थी की नयी अहम्मन्यता के कारण मैं ने कई अक नष्ट कर दिये, केवल कुछ एक रखे जो 'अच्छे' समझे। वाद मे कई वर्ष वाद उन्हे फिर देखा तो कुछ ऐसे कौतूहलप्रद लगे कि फिर रख ही छोडे ! इन मे एक और अंक में एक रचना पर पिताजी के वन्धु रायवहादुर हीरालाल से पुरस्कार मिला था—लेकिन यह रचना गद्य-पद्यमयी थी, और इस मे अपने ही परिवार के सव लोगो का कौतुकपूर्ण परिचय दिया गया था। **'आनन्द-वन्धु'** का पाठक-वृत्त पीछे काफी वढ गया था—और वह दो भाषाओं में निकलने लगा था—अँगरेज़ी अंश तो टाइप भी हो जाता था। इन पाठको मे पिताजी के कुछ मित्र और सहयोगी भी थे, जिन की समा-

लोचनाओ से मुझे वडी सहायता मिली ।

कहानी तो इन दिनो तक एक छप भी चुकी थी—इलाहावाद की एक वालचर-पत्रिका 'सेवा' मे, पर कविता पहले-पहल लाहौर मे अपने कालेज की पत्रिका मे छपी । यह जिस समय लिखी गयी, उस समय मैं अँगरेजी 'गीतांजलि' के प्रभाव मे उसी ढग के रहस्यवादी गद्य-गीत भी लिखने लगा था—जो दैव-कृपा से कभी छपे नही, और मेरे जेल-प्रवास के दिनो न जाने कहाँ खो-खा गये । लेकिन तुक-तालयुक्त कविताएँ उन्ही दिनो छपी थी । पहली कविता अव 'चिन्ता' मे सगृहीत है, और मन होता है कि स्वय न वता कर लोगो से पूछा करूँ, वताइये वह कौन-सी होगी ?' जैसे टेनिसन अपनी 'मॉड' कविता की पक्तियाँ

वर्ड्स इन द हाइ हॉल गार्डन
वेयर क्राइंग एंड कॉलिग
'मॉड, मॉड, मॉड, मॉड,'
दे वेयर क्राइंग एंड कॉलिग

सुना कर पूछा करते थे—'वताइये तो कौन पक्षी थे वह ?'···लेकिन वता ही दूँ, 'चिन्ता' की छठी कविता है, जिस का आरम्भ है—'तेरी आँखों मे क्या मद है···'और अन्त है—'जिस को लख कर तेरे आगे हाथ जोड रह जाता हूँ ।' मेरा अनुमान है कि इस पर श्री ठाकुर की 'गीतांजलि' का प्रभाव परोक्ष रूप से रहा ही, क्योकि किन्ही भी आँखो के मद की महक भी तव तक पहचानी हो, ऐसा याद नही पड़ता । ये भाव कल्पित ही अधिक थे, अनुभूत कम ।

इन दिनो कहानियाँ भी लिखी । इसी समय गुप्त आन्दोलन से भी सम्वद्ध हो गया, और तव कहानियाँ ही अधिक लिखी—एक उपन्यास भी, जो अनन्तर किसी सहयोगी के पास पकडा गया था और खुफिया पुलिस के दफ्तरो मे ही कही डूव गया, जहाँ अभी तक डूवा हुआ है । लेकिन जेल जाने के वाद से जोरो से लिखना शुरू किया । उपन्यास, कहानी, कविता, निवन्ध—सभी कुछ । इन से कभी अवकाश लिया तो पुस्तको का अनुवाद करने वैठ गया । इस समय से फिर लेखन का क्रम वरावर चलता रहा । इसलिए पुराना या 'वुजुर्ग' लेखक होने के मोह मे न पड कर मैं अपने रचनाकाल का आरम्भ तभी से मानता हूँ । और इसी शृखला की पहली कविता को ही पहली कविता कहना भी न्याय-सगत

होगा। आप कहेंगे, ऐसा ही था तो इतनी लम्वी भूमिका क्यो वाँधी, पहले ही कह दिया होता—लेकिन एक तो वह पहली कविता मुझे याद नही है, दूसरे ऐसे मामलो मे असल वात तो भूमिका होती है, नही तो कविता में भला क्या रखा है! फ़रहाद ने पहाड़ खोद कर कौन-सी चुहिया निकाली थी, यह किसे याद है—सव पहाड़ खोदने की वात को ले कर ही तो मुग्ध है। लेकिन इस क्रम की ठीक पहली कविता कौन-सी है, यह याद न होने पर भी पहली दो-चार में से एक तो वता ही सकता हूँ। वल्कि वह यहाँ उद्धृत भी की जा सकती है। वह ठीक पहली नही है, ऐसा भी मैं नही कह सकता—हो भी सकती है; और हो, तो मुझे अच्छा भी लगेगा—क्योंकि वाईस साल वाद आज भी वह मुझे अच्छी ही लगती है—यद्यपि उस की भापा वडी अटपटी है। और उस की वस्तु पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की छाप कुछ पड़ी थी या नही यह भी नही कह सकता। जो हो, कविता यह है :

दृप्टि-पथ से तुम जाते हो जव।

तव ललाट की कुंचित अलकों—
तेरे ढरकीले आँचल को,
तेरे पावन चरण कमल को,

छू कर धन्य-भाग अपने को लोग मानते हैं सव के सव।
मैं तो केवल तेरे पथ से
उड़ती रज की ढेरी भर के,
चूम-चूम कर संचय करके
रख भर लेता हूँ मरकत-सा मै अन्तर के कोषो में तव।
पागल झंझा के प्रहार-सा,
सान्ध्य-रश्मियो के विहार-सा,
सव कुछ ही यह चला जायगा—
इसी धूलि में अन्तिम आश्रय मर कर भी मै पाऊँगा दव!

दृप्टि-पथ से तुम जाते हो जव।

आज यह सहज विश्वास भी कठिन है, और विश्वास हो तो इस की ऐसी सहज उक्ति और भी कठिन; इस लिए यह याद करके सन्तोष ही होता है कि एक समय ऐसा था जव न तो विश्वास कठिन था, न उस की सहज अभिव्यक्ति—और उसी समय मे मैं ने पहली कविता लिखी थी···

प्रतृप्ति : अहं का विलयन[1]

मेरे एक मित्र कहा करते है कि अगर अँगरेजी न पढा हुआ कोई व्यक्ति आधुनिक अँगरेजी कविता से परिचय पाना चाहे, तो उसे 'अज्ञेय' की कविता पढनी चाहिए। वह मेरे मित्र है, इस लिए व्यंग्य करने का उन्हे अधिकार है, और वह उन का उद्देश्य भी है, फिर भी मैं मानता हूँ कि उन की वात मे सार है। यह नही कि इस से मैं प्रकारान्तर से अपने आधुनिक होने का दावा कर रहा हूँ, यह भी नही कि इस से आधुनिक अँगरेजी कविता के विपय मे जो धारणा वनती है उसे मैं सही मान रहा हूँ; केवल यही कि इस से कुछ तो मेरा उद्देश्य स्पष्ट होता है, और कुछ मेरे काव्य की मर्यादाएँ इंगित हो जाती है—उन मर्यादाओ को आप गुण कहे, या विशेपता या केवल दोप, यह आप की रुचि और मति पर निर्भर है।

दृश्य, श्रव्य, वोध्य

आधुनिक काव्य मे 'दृश्य' और 'श्रव्य' का पुराना भेद कम महत्त्व रखने लगा है। यो तो प्राचीन काव्य मे भी चित्र-काव्य होता ही था और अभी तक छन्दःशास्त्रो मे उस के उदाहरण देने की परिपाटी है, पर आधुनिक कविता मे दृश्य और श्रव्य के भेद मिटाने के वहुत से साधन वरते जाते है। मैं ने उन का उपयोग लगभग नही किया है, न मैं उन सव का समर्थन कर रहा हूँ। उन का उल्लेख भी कर रहा हूँ तो यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि आधुनिक कविता न केवल दृश्य यानी दृष्टिगम्य है, न केवल श्रव्य यानी श्रवणगम्य। उस का प्रयास है कि वह

१. विभिन्न अवसरो पर रेडियो से कविता-पाठ के साथ व्याख्यारुपेण जो कुछ कहा जाता रहा, उस का एक कलन। प्रस्तुत वस्तु तीन प्रसारणो पर आधारित है, जो सन् १९४९-५१ मे इलाहावाद से हुए थे। इन की पृष्ठिका सन् १९४७-५० की अर्थात् मुख्यतया **'हरी घास पर क्षण भर'** की कविता थी।

सीधी-सीधी बोधगम्य हो। उसे सफलता मिलती है कि नही, मिल सकती है कि नही, यह और बात है—उस का उद्देश्य यह है। वह सीधे चेतना को छूना चाहती है, इस लिए निरे शब्दों के निरे अर्थ से आगे जा कर वह ध्वनियों और अन्तर्ध्वनियो, स्वरो और अन्त.स्वरो से उलझती है, और सवादी और विवादी स्वरो को ले कर अन्वेषण करती है। आप चाहें तो कह लें कि वह एक साथ दो विरोधी दिशाओ मे चलती है—एक तरफ वह 'छन्द के बन्ध' तोड़ती है तो दूसरी तरफ वह संगीत यानी गेयतत्त्व को अधिक अपनाना चाहती है।

यह तो हुई आधुनिक और शास्त्रीय काव्य के उद्देश्यगत भेद की बात। भारतीय और यूरोपीय काव्य-शिल्प मे एक अन्तर यह भी है कि अनुप्रास का प्रयोग तो हमारी कविता मे—यो भी और अर्थपुष्टि के लिए भी—होता है, पर स्वरो की शक्ति का उतना नही, जब कि अँगरेजी काव्य मे अनुप्रास घटिया अलकार है और अभिव्यंजना के लिए स्वरो का भरपूर उपयोग होता है।

आधुनिक कविना पर मनोविज्ञान की गहरी छाप है। क्यो? क्योकि व्यक्ति और उस की परिस्थिति मे इतना कम सामजस्य, इतना तीखा विरोध, कभी नहीं हुआ; और उस विरोध के दबाव की कवि के मन पर गहरी छाप है। इतनी गहरी, कि वह उसे सीधे-सीधे व्यक्त भी नही कर पाता है, केवल ध्वनित करता है, केवल एक सकेत देता है जिस से हम आगे बढ कर उसे देख सके। एक सौन्दर्य होता है जो बाहर फुलवाड़ी मे बैठता है, एक होता है जो घर मे रहता है और अतिथियो द्वारा देखा जा सकता है; एक और होता है जिसे हम बन्द कमरे की खिडकी से आते हुए आलोक को देख कर अपनी सवेदना के सहारे ही मूर्त कर लेते है। मानसिक तनाव से धनुप की प्रत्यचा-सी तनी हुई, अन्तर्जीवन की तीखी चेतना से स्वर-सी सयत, लेकिन जीवन की विविधता के बोध से विशृंखल होती हुई भी—आज की कविता का सौन्दर्य इस तीसरी कोटि का ही सौन्दर्य है।

उपयोगिता : कवि की, कविता की

मेरी कविता 'हिन्दी मे लिखी गयी अँगरेजी कविता' है, ऐसा कह कर कुछ लोग समझते है कि उन्होने प्रशंसा की है, कुछ समझते है कि यह निन्दा है। मैं तो नही समझता कि मेरी कविता मे ऐसा कुछ है जो कि

भारत की ही काव्य-परम्परा द्वारा अनुमो दित न होसकता हो। पर जैसा कि सर्वदा होता आया है और होता रहेगा, एक-एक युग की कविता काव्य के उन्ही सर्व-सम्मत गुणो मे से एक-एक को अधिक महत्त्व देती आयी है और दूसरो को गौण मानती आयी है। कभी शब्द-सगीत ही सब कुछ हो जाता है, कभी अर्थ-गौरव, कभी व्यजना और ध्वनि के विना कविता घटिया मानी जाती है और कभी कविता मे समाज की आलोचना को ही एक मात्र उद्देश्य माना जाता है। आज एक वर्ग ऐसा भी है जो कविता को न केवल समाजशास्त्र का आनुषंगिक मानता है, वल्कि समाज की आलोचना भी सीधे-सीधे छन्दवद्ध अभिधा मे माँगता है। कहना चाहिए कि यह कविता की आधुनिक दुर्गति है; दुर्गति भी हर काल मे होती आयी है जैसे कि साधना और खोज।

मैं शायद इस प्रवाह से कुछ अलग पड गया हूँ—जिस मे मेरे सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनो है। मैं ने कविता का उपयोग करना नही चाहा, क्योकि मैं ने नही माना कि मेरे उपयोग करना चाहने से वह उपयोगी होती है। मै मानता हूँ वह तव उपयोगी होती है जव मैं स्वय उपयोगी हूँ; उस मे जीवन की पूर्णता तव है जव मै ने पूर्ण जीवन के प्रति अपने को समर्पित किया है। दुहाई देने से ही कविता नही निकलती ! और अपने प्यार के वदले अपनी भूख का दुखडा रोने से कोई विशेप अन्तर नही पडता, केवल श्रोता के लिए वह दुखडा और भी कम प्रीतिकर हो जाता है।

सपने मै ने भी देखे हैं—
मेरे भी है देश जहाँ पर
स्फटिक-नील सलिलाओ के पुलिनों पर
सुर-धनु सेतु बने रहते हैं।···
आज अगर मै जगा हुआ हूँ अनिमिष—
आज स्वप्न-वीथी से मेरे पैर अटपटे भटक गये हैं—
तो वह क्यो ? इस लिए कि आज
प्रत्येक स्वप्न-दर्शी के आगे
गति से अलग नहीं पथ की यति कोई—
अपने से वाहर आने को छोड़
नहीं आवास दूसरा !
भीतर—भले स्वयं साईं बसते हो।

पिया-पिया की रटना !
पिया—न जाने आज कहाँ हैं,
सूली पर जो सेज बिछी है, वह—
मेरी है !

छोटी कविता : भाव-संहति और भाव-समुच्चय

मैं ने कहा कि अलग पड जाना मेरे लिए दुर्भाग्य और सौभाग्य दोनो हैं। पर दुर्भाग्य शायद नही कहना चाहिए—क्योकि उस से जो कष्ट होता है और जो विरोध मिलता है वह एक तरह से मेरे लेखन को मॉजने मे मदद ही करता है। और सौभाग्य भी कदाचित् नही कहना चाहिए, क्योकि अकेलेपन मे कभी-कभी जैसी सहानुभूति मिलती है उस से गड़ जाना पड़ता है ! मेरी एक पिछली कविता-पुस्तक की जव कापी तैयार हो रही थी, तव एक वन्धु पढने के लिए उसे माँग कर ले गये थे। वह सम्पादक भी थे, इसलिए उन्होने सोचा, लगे हाथ कुछ सामग्री भी जुटा ली जाय, क्योकि आज कल के कवि, आसानी से तो कावू मे आते नही। लिहाज़ा उन्होने कुछ कविताएँ छाँट कर नकल कर ली। पुस्तक का एक भाग किसी को समर्पित किया गया था जिन्हे मैं 'कैरा' नाम से जानता था और जिन तक मेरी वाणी कठिनाई से ही पहुँच पाती। वन्धु ने ढाई पंक्ति के समर्पण-वाक्य को भी कविता मान कर विना मुझे वताये छाप दिया। मैं ने तो जव देखा तव हँस लेना काफी समझा, लेकिन अनन्तर सुना कि उसे लेकर गरमागरम वहसे हो जाया करती है। और जिन वन्धु ने वह छापा था (उन की दृष्टि से 'छापी थी' !) वह मुझे और सव तरह अपात्र मान कर भी (क्या सभी स्नेह-पात्र अपात्र नही होते !) उन ढाई पंक्तियो के वाक्य को अभी तक कविता ही मानते है जिसे मैं ने भी गद्य ही समझ कर लिखा था।

इस विषयान्तर का कारण है। मैं ने कुछ वहुत छोटी-छोटी कविताएँ लिखी हैं। छोटी कविता को महत्त्व भी देता हूँ। 'नावक के तीर' वाली वात ही नही है, यों भी मैं मानता हूँ कि भावना-प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है, नही तो अपने भावो का 'पैराफ्रेज़' होने लगता है। **'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छायी'** वह एक ऑसू वन कर आये, यहाँ तक तो ठीक है; किन्तु जव वह वरसात की झडी-सी वरसने लगती है तव वह शायद वही पीड़ा नही रहती, और घनीभूत तो भला

रह ही कैसे सकती है ! लम्बी कविताएँ भी होती है, हो सकती है, अच्छी भी हुई है; पर उन की कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज फिर दूसरी हो जाती है—भाव की सहृति और तीव्रता नही । वह ढग दूसरा है, और कहूँ कि मेरा वह नही है । छोटी कविताओ का अर्थ गलत भी समझा जा सकता है, (और बिलकुल नही भी समझा जा सकता है) लेकिन ऐसा हो तो वह अनिवार्यतया कविता का ही दोष है, ऐसा क्यो माना जाये ? 'किताब और खोपड़ी के टकराने से खोखली ठकार हो तो क्या सदैव किताब ही दोषी होती है ?'

नीति और आचरण के मान

हमारा देश गाँवो का देश है, यह पुरानी बात है । लेकिन सभ्यता की प्रगति देश का जीवन-रस खीच कर शहरो मे भर रही है । (और राजनीति की प्रगति शहरो के सभ्य जीवन की कारयित्री प्रतिभा को महानगर या राजधानी मे केन्द्रित कर रही है, मिट्टी की उर्वरा-शक्ति का स्थान रासायनिक खाद ले रही है, नदी-झरनो का काम नहरे करने लगी है ।) इस के कारणो मे यहाँ न जाना होगा, यहाँ इतना कहना यथेष्ट है कि गाँवो की सस्कृति जिन नैतिक मान्यताओ के साथ बँधी थी, शहरो की सभ्यता मे उन के लिए स्थान नही है । और उन के बदले कोई दूसरे मान स्थापित किये गये हो ऐसा भी नही है । ऐसे लोग हैं जो कह देगे कि गँवई सस्कृति के नैतिक मान सामन्तकाल के थे और अब उन का कोई मूल्य नही है, लेकिन इस से कम से कम मेरी तसल्ली तो नही होती, क्योकि आचरण के मान बदलने पर भी नीति की आवश्यकता नही मिटती, निरी अवसरवादिता सास्कृतिक आदर्श नही है, फिर वह चाहे किसी भी वर्ग की क्यो न हो !

अन्तिम उक्ति—मौन

आज का कवि पाता है—और अगर नही पाता है तो मैं कहूँगा कि उसे पाना चाहिए—कि व्यजना के पुराने साधन पर्याप्त नही है । कवि नयी सूझ, नयी उपमाएँ, नया चमत्कार कविता मे लाता है । ये धीरे-धीरे परिचित हो कर हमारी भाषा को सम्पन्नतर बनाते है—लेकिन स्वयं मर जाते हैं; उन का चमत्कार अति-परिचय के ज़ग से मैला हो जाता है । भाषाओ के बढने का यही नियम है, हमारी बोली के एक-एक शब्द के

पीछे ऐसे कितने मृत और ध्वस्त चमत्कारो का इतिहास है, इसे वे समझते हैं जिन का भाषा की ओर ध्यान है—और आज भाषा संक्रान्ति के इस काल में उधर ध्यान दिये विना कौन रह सकता है ?

तो व्यंजना के नये माध्यम की खोज मे, अगर कभी कवि पाता है कि उसे जो कहना है, वह मौन ही मे कहा जा सकता है, तो क्या वह विलकुल भूला है ? क्या इस मे वह सन्तो-मनीषियो के साथ नही है—क्या स्वयं प्रकृति के साथ नही है ? नाद अगर आकाश का, शून्य का गुण है, तो उस की सम्पूर्णतया मुक्त अभिव्यक्ति का क्षेत्र और कौन-सा हो सकता है—सिवा नीरवता के ?

व्यक्तित्व और अहं का विलयन

किसी कवि की कविता मे प्रवहमान अन्तर्धाराएँ क्या हैं, यह पहचानना वास्तव मे कवि का नही, आलोचक का काम है। यह आज के कवि का दुर्भाग्य ही मानना चाहिए कि उसे इन अन्तर्धाराओं के—अपनी कविता की प्रवृत्तियो के—वारे मे जव-तव कुछ कहना पड़ता है—या वाध्य हो कर कहना नही पड़ता तो भी कहने के अनेक अवसर दिये जाते हैं, और परिस्थितिगत प्रोत्साहन तो मिलता ही रहता है। लेकिन उस के दुर्भाग्य मे भी किसी हद तक कविता का कल्याण छिपा है, क्योकि कवि का दुर्भाग्य कविता के दुर्भाग्य से अलग नही है, और वास्तव मे आधुनिक कविता की विशेषता यह है कि वह कवि के व्यक्तित्व के साथ अधिकाधिक वँधी हुई होती जा रही है। काव्य रचना का—किसी भी कला-सृष्टि का—अधिकार तभी आरम्भ होता है जव व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलयन हो जाय, यह मानना तो दूर की वात रही, आज का कवि साधारणतया इतना भी नही मानता कि कविता, या कि कला-सृष्टि, व्यक्ति के विलयन का माध्यम है; कि कविता के द्वारा कवि व्यक्ति को वृहत्तर इकाई मे विलीन कर देता है। वरंच आज का कवि तो कविता को, व्यक्तित्व की, व्यक्ति के अहं की, प्रखरतर अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करने वाली रचना मानता है। मैं कहूँ कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नही हूँ, अधिक से अधिक उस श्रेणी मे हूँ जो कविता को अहं के विलयन का साधन मानते हैं। वल्कि सच कहूँ तो इतना भी इस लिए कि मैं युग की सीमा को इस हद तक स्वीकार करता हूँ, और उस मे वद्ध होने को विवश हूँ। नही तो यह मुझे सर्वथा स्वीकार्य है कि प्राचीन

कवियो की महत्ता का असल रहस्य यही है कि वे अह को विलीन करके ही लिखते थे, उन के लिए कविता स्वास्थ्य-लाभ का साधन नही, वल्कि स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द-साधना थी। ठीक आदर्श वही है यह मै मानता हूँ; मेरी कविता उस की अनुगामिनी नही है तो यह मेरी सीमा है। उस सीमा के लिए किसी हद तक मेरा युग भी उत्तरदायी है, इतना ही अपने वचाव मे कह सकता हूँ। या शायद इतना और भी कह सकता हूँ कि इस परिणाम तक पहुँचने मे—इसे स्पष्ट निरूपित करके अपने सामने रखने और स्वीकार कर लेने मे—मुझे कुछ समय लगा।[१] मैं जो लिखता रहा हूँ, उस मे यदि कोई क्रमिक विकास है और वह परिपक्वता की ओर है, तो इतना ही लज्जित होने का कारण नही है कि आरम्भ की रचनाएँ कच्ची है—और क्या होती ?

१. **'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये'** मे 'कवि के प्रति कवि'

नम कवि, जो भी तुम
नाम छोड ही नाम छोड गये,
जो जव-जव हम शास्त्र रच मुदित हुए
सचित हमारा अहकार—
स्मित-भर से तोड गये ·

प्रयोग और प्रेषणीयता

कवि का कथ्य उस की आत्मा का सत्य है। [यह एक गोल-सी बात है, अतः इस के सत्य होने की सम्भावना काफ़ी है!] यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है। किन्तु यदि हम यह मान लेते है, तब हम 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक-सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उस के कई स्तरों की उद्भावना करते है, और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है।

और आज इसी की सम्भावना अधिक है कि कवि इन बीच के स्तरों में से किसी एक पर हो। 'व्यापकता' वैसे भी सापेक्ष्य है; जीवन की बढ़ती हुई जटिलता के परिणाम-रूप 'व्यापकता' का घेरा क्रमशः अधिकाधिक सीमित होना चाहता है।

एक समय था जब कि काव्य एक छोटे-से समाज की थाती था। उस समाज के सभी सदस्यों का जीवन एकरूप होता था, अतः उन की विचार-संयोजनाओं के सूत्र भी बहुत कुछ मिलते-जुलते थे—कोई एक शब्द उन के मन में प्रायः समान चित्र या विचार या भाव उत्पन्न करता था। इस का एक संकेत इसी बात में मिलता है कि आचार्यों ने काव्य-विषयों का वर्गीकरण सम्भव पाया, और कवि को मार्ग-दर्शन करने के लिए बता सके कि अमुक प्रसंग में अमुक वस्तुओं का वर्णन या चित्रण करने से सफलता मिल सकेगी। आज यह बात सच नहीं रही। आज काव्य के पाठकों की जीवन-परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है; एक ही सामाजिक स्तर के दो पाठकों की जीवन-परिपाटियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उन की विचार-संयोजनाओं में समानता हो ही नहीं, ऐसे शब्द बहुत कम हों जिन से दोनों के मन में एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित हों।

प्रयोग : वैशिष्ट्य के लिए नही, साधारणत्व के लिए

यह आज के कवि की सब से बडी समस्या है। यो समस्याएँ अनेक है—काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, सवेदना के पुन सस्कार की, आदि—किन्तु उन सब का स्थान इस के पीछे है, क्योकि यह कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सब से बडी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उस मे नही है—शब्दो के साधारण अर्थ से बडा अर्थ हम उस मे भरना चाहते है, पर उस बडे अर्थ को पाठक के मन मे उतार देने के साधन अपर्याप्त है। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।

प्रयोग सभी कालो के कवियो ने किये है यद्यपि किसी एक काल मे किसी विशेष दिशा मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमश अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रो मे प्रयोग हुए है उन से आगे बढ कर अब उन क्षेत्रो का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हे अभी नही छुआ गया, या जिन को अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पा कर विराम-सकेतो से, अको और सीधी-तिरछी लकीरो से छोटे-बडे टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरो मे, लोगो और स्थानो के नामो मे, अधूरे वाक्यो से—सभी प्रकार के इतर साधनो से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई सवेदना की सृष्टि को पाठको तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। पूरी सफलता उसे नही मिली—जहाँ वह पाठक के विचार-संयोजक सूत्रो को नही छू सका, वहाँ उसे पागल प्रलापी समझा गया, या अर्थ का अनर्थ पा लिया गया। बहुत से लोग इस बात को भूल गये कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बडी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा की क्रमश. सकुचित होती हुई सार्थकता की केचुल फाड़ कर उस मे नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है—और अहकार के कारण नही, इसलिए कि उस के भीतर इस की गहरी माँग स्पन्दित है, इसलिए कि वह 'व्यक्ति-सत्य' को 'व्यापक-सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है, पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बह कर आते हुए लावा से भी भर कर और जम कर रुद्ध हो गयी है, प्राण-सचार का मार्ग उन मे नही है।

जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उस की सम्पूर्णता मे

पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इस के वाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या वढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अधः या अन्तर् या वहिर्मुखी है, इत्यादि।

स्वान्तःसुख

मै 'स्वान्तःसुखाय' नही लिखता। कोई भी कवि केवल मात्र 'स्वान्त.-मुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने मे मैने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवो की भॉति अहं मुझ मे भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नही है; पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने-आप मे सम्पूर्ण है? अपनी अभिव्यक्ति—किन्तु किस पर अभिव्यक्ति? इसी लिए 'अभिव्यक्ति' मे एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ, और इस के परिणामरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उस से कोई निस्तार मुझे नही दीखा। अभिव्यक्ति भी सामाजिक या असामाजिक वृत्तियो की हो सकती है, और आलोचक उस का मूल्यांकन करते समय ये सब वाते सोच सकता है, किन्तु वे वाद की वातें हैं। ऊपर प्रयोगशीलता को प्रेरित करने वाली जो अनिवार्यता वतायी गयी है, अभी तो उसी की सीमाओं की ओर संकेत करना चाहता हूँ। ऐसा प्रयोग अनुज्ञेय नही है जो 'किसी की किसी पर अभिव्यक्ति' के धर्म को भूल कर चलता है। जिन्हे वाल की खाल निकालने मे रुचि हो वे कह सकते है कि यह ग्राहक या पाठक कवि के वाहर क्यो हो—क्यो न उसी के व्यक्तित्व का एक अंग दूसरे अंग के लिए लिखे! अहं का ऐसा विभागीकरण अनर्थहेतुक हो सकता है; किन्तु यदि इस तर्क को मान भी लिया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति किसी के प्रति है और किसी की ग्राहक [या आलोचक] वुद्धि के आगे उत्तरदायी है। जो [व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड] लिख रहा है, और जो [व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड] सुख पा रहा है, वे है फिर भी पृथक्। भाषा उन के व्यवहार का माध्यम है, और उस की माध्यमिकता इसी मे है कि वह एक से अधिक को वोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नही है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा द्वारा गम्य [एसोटेरिक] हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उस की शक्ति नही, विवशता है; धर्म नही, आपद्धर्म है।

प्रतीकों का महत्त्व[1]

जिस प्रकार अच्छी समीक्षा अच्छे साहित्य पर निर्भर करती है, उसी प्रकार अच्छे साहित्य के निर्माण के लिए अच्छी समालोचना भी आवश्यक शर्त होती है। और समालोचना मे अभिप्राय निरी चर्चा मे नही है, बल्कि यह बिलकुल सम्भव है कि पूर्वग्रह-युक्त अधिक चर्चा से साहित्य के विकास मे बाधा ही पड़े। क्योंकि साहित्य का रसास्वादन करने के लिए यह आवश्यक है कि एक तो स्वाद-क्षमता हो, दूसरे उस के लिए अनुकूलता हो—उस के प्रति खुलापन और उत्सुकता हो। निरी चर्चा का परिणाम बहुधा इस से उलटा होता है: वह मन को बन्द कर देती है और ग्राहकता को रुद्ध करती है।

यह बात कविता के बारे मे और भी अधिक सच है। और आज के से मताग्रही युग मे तो कौन कवि ऐसा होगा जिस ने इस की सच्चाई का अनुभव न किया हो!

इस मामले मे मेरा दुर्भाग्य किसी हिन्दी कवि से कम नही रहा है। यो पहले अपने कवित्व के बारे मे कोई गलतफ़हमी मुझे रही हो तो अब नही है, अब मै स्वय अपने लिखने को उतना महत्त्व नही देता जितना इस बात को, कि जिन चीजो से मुझे प्रेरणा मिली है—या जिन प्रेरणाओ से मुझे यत्किंचित् दृष्टि मिली है—उन के प्रति लोगो मे वह खुलापन ला सकूँ जो मेरी समझ मे काव्य के रसास्वादन की पहली शर्त है। इस बात मे कोई व्याज-गर्व या मिथ्या विनय नही है। मै सचमुच यह अनुभव करता हूँ कि न केवल अनासक्त, असम्पृक्त साहित्य-सेवा की दृष्टि से, वरन् स्वय

१. यह वस्तु पटना और इलाहाबाद से सन् १९५२-५३ मे प्रसारित दो वार्ताओ से ली गयी है। इस की पृष्ठिका सन् १९५०-५२ मे लिखी गयी, अर्थात् मुख्यतया **'बावरा अहेरी'** की, कविताएँ है।

अपने लेखन को ठीक परिपार्श्व मे रखने के लिए, वह उपयोगी होगा।

अपनी कविता के बारे में कभी कुछ कहता हूँ, तो इसी आशा से। नही तो यही मानता हूँ कि कवि ने कविता मे जो कुछ कहा है, उस के बाहर उस का कुछ कथ्य न है, न होना चाहिए; अगर वह अधिक कुछ कहना आवश्यक पाता है तो अपनी असफलता ही घोषित करता है। और युग की प्रवृत्ति से आकृष्ट हो कर अपना प्रचार या अपनी व्याख्या करने लगना या करना चाहना उस के लिए बड़ा अहितकर हो सकता है। यह सीख कि 'बात को सुनो, बात करने वाले की मत सुनो', औरो के लिए तो ठीक ही है, स्वयं बात करने वाले का भी मार्ग-निर्देश उस में है—उसे भी अपने को गौण मानते चलना चाहिए।

इस लिए मेरी कविता—जैसी भी वह है—उसे आप चाहे रुचि से पढे या न पढें, सुने या न सुनें; उस पर विचार जब भी करें तो उसी को सामने रख कर करे, उस के समर्थन या व्याख्या मे मेरे कहे हुए को कोई महत्त्व न दें। हाँ, साधारणत: आधुनिक कविता के बारे मे जो गलत-फहमियाँ हो सकती हैं या फैलायी जाती है, उन के बारे मे मैं भी कुछ कह सकता हूँ, और अनुरोध करूँगा कि उस पर आप विचार करें।

प्रतीक और जन-मानस

मैं ने अन्यत्र जो कुछ कहा है—और आशा करता हूँ कि स्पष्ट और सुबोध ढंग से ही कहा है—उसे यहाँ नही दुहराऊँगा। यहाँ आधुनिक कविता मे प्रतीकों के महत्त्व के बारे मे ही कुछ कहना चाहता हूँ—उन के महत्त्व के बारे मे, और उन की सृष्टि के तरीकों और कारणों के बारे मे।

कहा जाता है कि प्रतीकों को महत्त्व देना प्रतीकवाद है और यह ह्रासशील प्रवृत्ति है। यह भी कहा जाता है कि प्रतीकवादी भारत मे एक ऐसी परम्परा को ले कर चलते हैं जो विदेशों मे परीक्षा के बाद छोड़ दी गयी। अर्थात्—यह कि प्रतीकवाद एक तो मुर्दा है, दूसरे विदेशी मुर्दा है।

मेलार्मे और रैम्बो और बिम्बवाद के नाम ले कर पाठक को डराना नही चाहता—नामो से मैं ही डरता हूँ! पर क्या कविता मे प्रतीकों का उपयोग सचमुच विदेशी और ह्रासोन्मुख वर्ग की विशेषता है? मैं तो कहूँगा—और थोड़ा-सा भी अध्ययन और पर्यवेक्षण इसे पुष्ट करेगा—कि कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीको की, नये प्रतीको की, सृष्टि करता है, और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड हो जाता है—या जब

जड़ हो जाता है तब वैसा करना बन्द कर के पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है। और, जहाँ तक जनवाद का प्रश्न है, अगर हम यह स्वीकार करें कि हम-आप पढ़े-लिखों के (और साहित्य को ले कर चख-चख करने वाले और दूसरों के) साहित्य से बढ़ कर हम ग्राम-साहित्य को जन-साहित्य मानते हैं—और न मान कर जावेंगे कहाँ?—तो हमें लक्ष्य करना होगा कि जन-साहित्य सदा से और सब से अधिक प्रतीकों और अन्योक्तियों के सहारे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। यह चीज हम संस्कृत में पाते है—वेदों से ले कर वाल्मीकि तक और वाल्मीकि से ले कर कालिदास तक भी, फिर नहीं पाते तो हिन्दी के उस काल में जब उस का काव्य सामन्तों का मुखापेक्षी था। उस के बाद क्या हुआ? यही कि संस्कृत से वह शक्ति अपभ्रंशों में और फिर लोक-साहित्यों में चली गयी, और सामन्ती साहित्य अधर में रह गया। रीति-काव्य में प्रतीक सब से कम है, लोक-काव्य और लोक-गाथा में सब से अधिक। राजनीतिक मतवाद को लेकर जन के नाम की ओट लेना एक बात है, जन-प्रकृति को समझना, जन-मानस की प्रवृत्तियों को पहचानना दूसरी बात।

इस लिए, प्रतीक अपने-आप में अनिष्ट नहीं है। आशंकनीय यह बात होती है कि ये प्रतीक निजी न बन जावें—बन क्या जावें, रह न जावें; क्योंकि निजी को सामान्य बनाना ही तो कवि-कर्म है। व्यापक सत्य को कवि निजी कर के देखता है, और निजी दृष्टि को फिर साधारण बनाता है। साधारण का साधारण वर्णन कविता नहीं है, कविता तभी होती है जब साधारण पहले निजी होता है और फिर, व्यक्ति में से छन कर, साधारण होता है। जो इस को भूलते हैं, उन के पद्य परम सदुद्देश्यपूर्ण हो कर भी कविता नहीं बन सकते, और चाहे जो कुछ हो जावें।

वर्णन और भावन

कविता ज्यों-ज्यों वर्णनात्मकता से भावनात्मकता की ओर बढ़ती है त्यों-त्यों उस में शब्दों के कलन की सतर्कता बढ़ती जाती है। फिर भावनात्मक कविता में भी ज्यों-ज्यों कवि निवेदन से सूचन की ओर बढ़ता है—जो विकास की सहज और सही दिशा है क्योंकि वह समाज-जीवी मानव-प्राणी की प्रवृत्ति के समान्तर चलती है—त्यों-त्यों उस का शब्द-संयम का आग्रह भी बढ़ता जाता है। इस की चरमावस्था प्रतीकवादियों के इस सिद्धान्त में थी कि 'आदर्श कविता में एक ही शब्द होना चाहिए,'

क्योंकि 'एक शब्द—एक प्रतीक, एक चित्र या मूर्ति, एक सम्पूर्णया'... चरम युक्तियाँ चरम होने के कारण ही भ्रान्त हो जाती हैं, फिर भी यह तो मानना होगा कि कम से कम शब्दों के द्वारा वांछित कुछ एक मूर्तियों का उद्भावन अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो सकता है।

प्रतीक और सत्यान्वेषण[1]

जीवन : नि संग विस्मय

जीवन से कौन प्रेम नही करता ? और कवि विशेष रूप से जीवन-प्रेमी माना गया है। उसे न केवल स्वयं जीवन से प्रेम होना चाहिए वरन् दूसरो मे भी जीवन के प्रति प्रेम का भाव जगा सकना और जगाना चाहिए। पर जीवन-प्रेम का अर्थ हर आलोचक के लिए ही नही, हर जीने वाले के लिए अलग-अलग होता है। क्योकि जीवन वास्तव मे निरी एक होने की क्रिया का, नैसर्गिक व्यापारो के अनुक्रम का नाम नही है, जीवन उन के होने के बोध का नाम है। यानी 'कुछ है' नही, 'मैं हूँ' का बोध ही वास्तव मे जीवन है। और, क्योकि जीवन-व्यापारो के साथ जीने वाले का सम्बन्ध सब का अपने-अपने ढग का होता है, इस लिए जीवन-प्रेम भी हर किसी का अलग-अलग होगा ही।

मेरे निकट जीवन के प्रति यह प्रेम एक नि:सग विस्मय का ही भाव है। जीवन मे व्यापारो का यह अनुक्रम, यह परात्परता—सोचने बैठें तो कोई कारण नही है कि यह क्रम एक क्षण से दूसरे क्षण तक चलता ही रहे, जीवन-परम्परा बनी ही रहे। किसी क्षण भी वह हठात् टूट जा सकती है, व्यापार समाप्त हो जा सकता है, जीवन चुक जा सकता है। फिर भी वह है, चलता है, और अनुभवो की एक अन्तहीन माला पिरोता जाता है—कुछ कडुवे, कुछ मीठे, सब अद्वितीय—यह विस्मय कुछ छोटा नही है; पर इसे पहचानने के लिए एक नि:सगता भी अपेक्षित है। हम

१ पृष्ठिका मे सन् १९५७-५८ की कविताएँ, जो नये सग्रह **'अरी ओ करुणा प्रभामय'** मे प्रकाशित हुई हैं, ये व्याख्यात्मक उद्धरण इलाहाबाद के सन् १९५९ के एक प्रसारण से लिये गये हैं।

अपने भीतर पूरी तरह यह स्वीकार कर लें कि कभी भी यह समाप्त हो जा सकता है—यानी नि:सग हो जावे—और उतनी ही सम्पूर्णता से यह भी अनुभव करें कि वह समाप्त नही हुआ है, चल रहा है—यानी विस्मय मे डूब जावें, मेरे निकट जीवनानन्द का यही नुस्खा है। नि.सन्देह ऐसे भी है जो कहेगे कि जीवन के प्रति यह समर्पण ही पर्याप्त नही है, इस जीवनानन्द को भी समर्पित करना चाहिए तभी वह सार्थक है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उस मे इस का विरोध खंडन नही है, इतना ही कहूँ कि वह काव्य की नही, काव्य के आगे की बात है। क्योकि यह कहना, कि वह आनन्द भी समर्पित हो, यही कहना है कि काव्य भी समर्पित हो। और स्पष्ट है कि काव्य के समर्पण का प्रश्न उठने मे ही काव्य का पहले अस्तित्व मान लिया गया है।

प्रात:काल जागना, जाग कर सचेत हो जाना, इन्द्रियो का एक-एक कर जागना—क्योंकि यह तो वैज्ञानिक तथ्य है कि सब एक साथ नहीं जागती—और इस सामान्य जागरण के बाद वह विशेष जागरण जो अपने को अपनी विशेष परिस्थिति के प्रति जगाता है—जो निरी चेतना को अपने परिवेश की चेतना मे बदल देता है—और फिर जाग कर सहसा जागरण का, जीवन का, अखडित परात्परता का विस्मयकर बोध—कि कल रात जो सोया था वही आज जागा है, कि कल और पहले के जीवनानुभव भी उसी के हैं, उसी क्रम मे है, जो आज जाग कर इस क्षण का अनुभव कर रहा है और आगे करता चलेगा···

> किसी तरह रात कटी, पौ फटी :
> मायाविनि छायाओं की काली नीरन्ध्र यवनिका हटी।
> ································
> परिचिति के सहसा सब खुल गये द्वार;
> उमड़ने लगा होने का आदि-अन्तहीन पारावार।
> और यह सब इस कारणहीन, अनधिकृत,
> विस्मयकर संयोग से कि किसी दुःस्वप्न के चंगुल में अचानक
> रात में साँस नहीं उलटी!

यह नि.संग विस्मय पिछली दो-तीन वर्षो की मेरी रचनाओं मे कई रूपो मे प्रकट हुआ है। प्रतीकों के महत्त्व को, और अभिव्यक्ति की सघनता और तीव्रता के लिए उन के उपयोग की पद्धतियो को ज्यो-ज्यों समझता

गया हूँ—अथवा कह लीजिए कि जिस चीज का मूल्य पहले ही जानता था उस का सही उपयोग भी कुछ-कुछ सीख गया हूँ या सीखता जा रहा हूँ—कुछ अपने अनुभव के सहारे, कुछ दूसरो की उपलब्धि के अध्ययन से—त्यों-त्यो उसे अपनी कविता मे लाता गया हूँ।

प्रतीक : सत्यान्वेषण का साधन

जीवन···स्वप्नो और आकारो का एक रगीन और विस्मय-भरा पुज। हम चाहे तो उस रूप से ही उलझे रह सकते है, पर रूप का यह आकर्षण भी वास्तव मे जीवन के प्रति हमारे आकर्षण का ही प्रतिविम्व है। जीवन को सीधे न देख कर हम एक कॉच मे से देखते है, तो हम उन रूपो मे ही अटक जाते है जिन के द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है। कॉच की टकी मे पाली हुई सोन-मछली पर एक छोटी-सी कविता मे यही कहा गया है.

> **हम निहारते रूप :}**
> **कॉच के पीछे हॉंप रही है मछली।**
> **रूप-तृषा भी**
> **[और कॉच के पीछे] है जिजीविषा।**

मछली का प्रतीक कोई नया नही है। प्रतीकार्थ अलग-अलग होते रहे, वह दूसरी बात है। पर कुछ विशेष प्रतीक-रूप ऐसे होते है जो चिरकाल के लिए स्थिर हो जाते है, व्यापक हो जाते है। यह इसी लिए है कि प्रतीक वास्तव मे ज्ञान का एक उपकरण है। जो सीधे-सीधे अभिधा मे नही बँधता, उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते है। जो जिज्ञासाएँ सनातन हैं उन का निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हो जाते है।

किन्तु प्रतीको के द्वारा ज्ञान की खोज अपने-आप मे एक वड़ा कौतूहलप्रद विषय है। क्योकि वह ज्ञान ही दूसरे प्रकार का है। वैज्ञानिक, सागर की गहराई नापने के लिए रस्सी डालता है, या किरणो की प्रतिध्वनि का समय कूतता है। वह एक प्रकार का ज्ञान है। कवि मछली की दौड़ से सागर की गहराई भाँपता हैं—वह दूसरे प्रकार का ज्ञान है। वह प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है—सत्य के अथाह सागर मे वह प्रतीकरूपी ककड फेंक कर उस की थाह का अनुमान करता है। यदि हम

सागर को हमारे न जाने हुए सब-कुछ का प्रतीक मान लें, तो मछली उस प्रतीक का प्रतीक हो जाती है जिस के द्वारा कवि अज्ञात सत्य का अन्वेषण करता है। यहाँ से अन्वेषण की पद्धति का अन्वेषण करे तो और भी कई प्रतीक हमे मिलते हैं—सागर और मछली, नदी, सेतु, जल पर पड़ता प्रकाश, परछाईं, परछाईं को भेदने वाली किरण, और अन्त मे वह प्रकाशमान मछली जो परछाईं को भेद जाती है—वह प्रतीक, जिस के द्वारा अन्वेपी स्वय अपने अहकार से उत्पन्न पूर्वग्रहो की छाया के पार देख लेता है। वह नि.संग साक्षात्कार वडे महत्त्व की वात है—यद्यपि इस वात को भी अभिधा मे कहना उसे हलका वना देना है। अगर प्रतीको द्वारा अन्वेपण को विना प्रतीक-योजना के वखाना जा सकता—तो फिर वैसे अन्वेपण की ही क्या आवश्यकता होती ?

> अभी-अभी जो/उजली मछली/भेद गयी है
> सेतु पर खड़े मेरी छाया—/(चली गयी है कहाँ)
> वही तो / वही-वही तो
> लक्ष्य रही अवचेतन, अनपहचाना / मेरी इस यात्रा का।
> खड़ा सेतु पर हूँ मैं, / देख रहा हूँ अपनी छाया,
> मुझे वोध है नदी वहाँ नीचे वहती है / गहरी, वेगवती, प्लव-शीला।
> ताल उसी की अविरल / लहरों की गति पर देता है प्रतिपल
> स्पन्दन यह मेरी धमनी का
> और चेतना को आलोकित किये हुए है
> असम्पृक्त यह सहज स्निग्ध वरदान धूप का।
> सव में हूँ मै, सव मुझ में है
> सव से गुँथा हुआ हूँ : पर जो / वींध गया है सत्य मुझे वह
> वह उजली मछली है / भेद गयी जो मेरी
> वहुत-वहुत पहचानी
> वहुत-वहुत अपनी यह / वहुत पुरानी छाया।
> रुका नहीं कुछ, / सव-कुछ चलता ही जाता है,
> रुका नही हूँ मै भी खड़ा सेतु पर।
> देखो—देखो—देखो—
> फिर आयी वह रश्मिवाण, दामिनिद्रुत !—देखो—
> वेध रहा है मुझे लक्ष्य मेरे वाणों का !

थिर हो गयी पत्ती

वर्षो पहले की बात है, मेरे एक बडे भाई का विवाह गौरैया चिडिया से हुआ था। बात यो हुई कि भाई मगली थे। उन्हे स्वय ज्योतिप मे कितनी श्रद्धा थी यह तो नही कह सकता, किन्तु भविष्यत् सम्वन्धियो को ग्रह-भय वहुत था और वे वधू के कल्याण की कोई चेष्टा अधूरी नही छोड देना चाहते थे। इसी लिए भाई का विवाह पहले गौरैया से हुआ, और हमारी मानवी भौजाई गौरैया की सपत्नी होकर ही आयी।

इस बात को लेकर हम भाभी को न चिढ़ाये, यह कैसे हो सकता था ? हम उन से प्राय पूछते कि 'वडी भाभी कहाँ है ?' और उन के यह पूछने पर कि 'कौन भाभी ?' तुरत उत्तर देते, 'चिडिया भाभी—और कौन ?'

लेकिन वही अकिंचन गौरैया चिडिया एक दिन मेरा काव्य-गुरु हो जावेगी यह नही जानता था। नि सन्देह गौरैया चिडिया भी यह नही जानती। लेकिन द्रोणाचार्य अगर एकलव्य से दोवारा न मिले होते, और दक्षिणा-स्वरूप उस का अँगूठा न कटवा लिया गया होता, तो भी क्या एकलव्य को उन से मिली हुई प्रेरणा का महत्त्व कम हो जाता ? गौरैया गुर्वी ने मुझ से गुरु-दक्षिणा कभी नही माँगी, और उन के परिवार के लोग जब-तव जो दो-चार दाने मेरे आँगन से उडा ले गये है उन के कारण मुझे पाने का सुख ही अधिक मिला है, अदायगी का कोई भाव मेरे मन मे नही आया। फिर भी गुरु-ऋण को स्वीकार करते हुए उस छह-सात वर्ष की शिक्षा-दीक्षा का भी उल्लेख करना चाहता हूँ जो एक गौरैया चिडिया से मुझे मिली।

सन् '५१ मे एक वार अपनी छोटी-सी कोठरी के भीतर वैठा कुछ लिख रहा था। आँगन की ओर के दरवाज़े पर चिक पड़ी थी जिस के

वाहर मेरे लगाये हुए दो गमले रखे थे। पक्के घरों के मुहल्ले मे हरियाली कही भी वहुत कम थी; इस लिए मेरे पक्के आँगन के दो-चार गमलो के पौधे चिड़ियों के लिए वड़े आकर्षण की चीज थे। दरवाजे के वाहर गमलों मे घी-क्वाँर जाति के दो पौधे लगे हुए थे—उस तप जाने वाले आँगन में अच्छी जाति के पौधे वचते ही नही !

लिखते-लिखते न जाने क्यों—शायद दृष्टि-मंडल की सीमा पर होने वाली किसी हलचल के वोध से—मैं ने सहसा आँख उठा कर चिक के पार पौधे की ओर देखा।

वात कहते देर लगती है। जो घटना देखी उस मे उतनी देर नही लगी थी। एक चिड़िया आ कर क्वाँर की पत्ती के छोर पर टिकी ही थी कि—शायद मेरी ही तरह चिक के दूसरी पार की हलचल का कुछ आभास पा कर—पत्ती को ठेलती हुई फिर उड़ गयी। मानो उस का वैठने आना, पत्ती को छूना और पकडने से भी पहले ठेल कर उड़ जाना अलग-अलग क्रियाओं का क्रम नही, एक ही अविभाज्य क्रिया थी। पंजो के और पंखों के धक्के से आहत लम्वी पत्ती दो-एक वार काँपी और क्रमशः स्थिर होती चली।

मेरे चमत्कृत मन मे कुछ शब्द जागे। 'कुछ शब्द' इस लिए कहता हूँ कि यद्यपि वे एक पंक्ति से भी लिखे जा सकते थे तथापि मेरे मन मे तीन-चार पंक्तियों मे विभक्त ही उदित हुए, मानो कविता का एक पद हो :

उड़ गयी चिड़िया :
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती।

घटना और उस की अनुभूति दोनों इतने ही मे सम्पूर्ण है। लेकिन क्या उन से जो भाव मेरे मन में उदित हुआ वह भी इन शव्दो मे सम्पूर्ण हो गया ? दूसरे शब्दो मे इस प्रश्न को यों पूछूँ, कि मन में कविता के-से अनुक्रम मे जो शब्द उदित हुए थे, वे क्या सम्पूर्ण कविता थे ? या केवल कविता का एक अंग ?

घटना को, या इन शब्दों को मैं न भूल सका। कई महीनों तक वार-वार उन से उलझकर मैं ने उन्हें एक कविता मे ढाला—इन शब्दो का क्रम ज्यो का त्यो था किन्तु आगे-पीछे कुछ और पंक्तियाँ जोड़ी गयी थी। और हाँ, चौंकिये मत !—'पत्ती' की तुक का भी निर्वाह किया गया था।

जब सौभाग्य से उस कविता को छपाने से बच ही गया हूँ तो अब यह बताना आवश्यक नही है कि तुक मे कौन से शब्द आये थे। जब मै ही अपने पर हँस सकता हूँ तो दूसरो को अपने पर हँसाना आवश्यक नही मानता।

कविता लिख कर एक ओर रख दी गयी। साधारणतया इस से उस अनुभूति को चुक जाना चाहिए था और मूल घटना को स्मृति के क्षितिज से नीचे उतर जाना चाहिए था। लेकिन वैसा नही हुआ। वही दृश्य फिर भी बार-बार सामने आता रहा और वे शब्द बार-बार मन को कोंचते रहे। क्योकि सच बात यह थी कि उस अनुभूति की ललकार अभी चुकी नही थी, मैंने जो कविता लिखी थी वह एक प्रकार से धोखा था क्योकि उस ने केवल बुद्धि को तोष दिया था, भाव का रेचन नही किया था।

एक बार फिर इसी को ले कर एक और कविता लिखी। कितना सन्तोष है मुझे कि वह भी मैं ने छपायी नही ! उस के बारे मे इतना और कह दूँ कि उस मे पत्ती की तुक निबाहने की कोई चेष्टा मैं ने नही की थी। यह समझ कर कि ऐसी तुक चेष्टित और इस लिए कृत्रिम ही हो सकती है, मै ने उस का मोह छोड दिया था। अपनी सुविधा के लिए शब्दो मे भी कुछ हेर-फेर कर लिया था—'**काँपी, फिर थिर हो गयी पत्ती**' का रूप बदलकर '**पत्ती काँप के फिर थिर हो गयी**' हो गया था। कहना न होगा कि 'पत्ती' की अपेक्षा 'हो गयी' मे अनुप्रास के लिए कही अधिक गुजाइश है। दूसरी कविता तुक की दृष्टि से उतनी दूषित नही थी जितनी कि पहली, किन्तु यह साफ पहचाना जाता था कि कौन-से शब्द मूल अविभाज्य अनुभूति के है और कौन-से बाद मे जोड़े हुए। जैसे नकली सिक्का चलाना चाहनेवाला अच्छे सिक्को के साथ खोटा सिक्का मिला कर चलाये जाने पर बराबर आशकित रहता है, और दूसरो के न पहचान सकने पर भी स्वय मानो जाली सिक्के को बिलकुल अलग खडा और पुकार-पुकार कर अपना जालीपन घोषित करता हुआ समझता रहता है, उसी तरह मूल अनुभूति से सम्बद्ध शब्दो को छोड कर बाकी शब्द मुझे पुकार-पुकार कर कहते जान पड़ते थे कि 'देखो, देखो, यह कितना बड़ा धोखा कवि कर रहा है—हम बगुलों को रँगकर इन हसो के साथ बिठा रहा है !'

दक्षिण के एक कवि के बारे मे किंवदन्ती है कि उस की मृत्यु के बाद उस के अधूरे काव्य की पूर्ति करने कालिदास बैठे थे तो उन्हे स्वप्न मे दर्शन दे कर सरस्वती ने टोका था. 'मेरे वरद पुत्र के सोने के तार से बुने हुए पट मे तू अपने कच्चे सूत का धागा मत मिला !' और इस से अप्र-

तिभ हो कर कालिदास ने अधूरा काव्य अधूरा ही छोड़ दिया था। लेकिन वह तो दो कवियों की प्रतिस्पर्धा की बात थी, यहाँ तो 'स्वर्ण-पट' भी उसी का था जिस का कि कच्चा सूत !

जो हो। वह अनिष्पन्न अनुभूति, और उस के साथ-साथ अपूर्ण कृतित्व की कसक वर्षों तक बनी रही। मेरी कापी मे लिखे हुए ये कुछ शब्द मेरे साथ-साथ कई देश घूम आये और कई वर्षों का व्यवधान पार कर आये। न उन की ललकार कम हुई, न उन के आह्वान का कोई सन्तोषजनक उत्तर मैं दे सका। कहूँ कि मेरी काव्य-शिक्षा पूरी नही हुई, यह पहचान कर मेरी काव्य-गुर्वी गौरैया ने मेरा पीछा नही छोड़ा और मुझे बार-बार मेरी अधूरी तपस्या का उलाहना देती रही।

सन् '५७ की गर्मियो मे जापान जाने का सुयोग हुआ। जापानी साहित्य थोडा-बहुत पहले भी पढा था और यूरोपीय काव्य और चित्रकला पर जापानी काव्य और चित्रकला के प्रभाव की बात भी मेरी अनजानी नही थी। लेकिन तब से लगातार कुछ महीनो तक बहुत-सा जापानी साहित्य पढ़ता रहा। विशेषतया जाड़ों मे जापान के सुन्दर प्राकृतिक स्थलो में अकेले घूमते या रहते हुए जापानी काव्य मे गहरे उतरने का पर्याप्त अवसर मिला। इतना ही नही, जापान की विशेष साधना-पद्धति (ज़ेन, ध्यान) के सिद्धान्तों से भी परिचय हुआ और धीरे-धीरे यह दीखने लगा कि किस प्रकार इस विशेष दर्शन ने जापानी कविता को ही नही, बल्कि कुछ वर्ष पहले तक के समूचे जापानी जीवन को कितना प्रभावित कर रखा था।

मेरी कापी की वह अधूरी कविता अब भी मेरे साथ थी। मैं जब-तब जापानी लघु मुक्तक 'हाइकू' के संग्रह उठा कर पढता और कुछ-एक मुक्तक पढने के बाद आप्यायित भाव से पुस्तक एक ओर रख कर बैठा सोचता रहता·· कभी-कभी अपनी कापी उठा कर उस के पन्ने उलटता और गौरैया चिड़िया वाली कविता पर आ कर रुक जाता···

ज़ेन साधना-पद्धति का एक अंग है 'कोआन्' अथवा पहेली। यद्यपि इसे पहेली कहना पर्याप्त नही है क्योकि इस का कोई एक बँधा हुआ उत्तर नही होता, हर साधक उस के लिए अपना विशिष्ट उत्तर पाता है। पहेलियो का उद्देश्य ही साधक को बँधे-बँधाये उत्तर के पूर्वग्रह से मुक्त करना होता है। यद्यपि पूर्वग्रह से मुक्त करने के लिए गुरु आवश्यक होता है, तथापि गुरु स्वयं एक पूर्वग्रह है और साधक को गुरु से कुछ पाने की अपेक्षा से

भी मुक्त होना होता है'''साधक के भीतर यथासमय कभी एक उन्मेप ('सातोरी') होता है, और तीखे शुभ्र प्रकाश मे वह पा लेता है पहेली का उत्तर—अभूतपूर्व, अद्वितीय और एक-मात्र असम्पृक्त उत्तर, जो इतना नि:सग है कि स्वय पहेली से भी कोई सम्वन्ध नही रखता—गुरु से या परम्परा से सम्वन्ध की वात तो दूर !

इन सव वातो का सन्दर्भ देने मे खतरा है यह मैं जानता हूँ। किसी विशेप साधना-पद्धति का मेरा कोई दावा नही है—न किसी विशेप उन्मेप अथवा उपलब्धि की वात मुझे कहनी है। ज़ेन के इतिहास और जापानी काव्य पर ज़ेन विचार-पद्धति के प्रभाव का इतिहास कही पृष्ठभूमि मे ही रहा। मुझे उस का लाभ हुआ तो यही कि काव्य-सम्वन्धी वहुत से पूर्वग्रह मुझ से झरते रहे, उन की धुन्ध से अवरुद्ध मेरी दृष्टि मेरे अनजाने ही स्पष्ट होती रही।

अनन्तर जापान से लौट आया। कई जापानी कविताओ का अनुवाद किया था; उन्हे क्रम-वद्ध कर के रख दिया और दूसरे देशो के साहित्यो की ओर प्रवृत्त हुआ।

फिर एक दिन अचानक अपनी कापी उठायी और गौरैया चिड़िया वाली पक्तियो को मूल रूप मे एक नये पृष्ठ पर लिखा; ऊपर शीर्पक दे दिया 'चिडिया की कहानी'। फिर एक वार शीर्पक-युक्त पक्तियो को देखा और सहसा पहचान लिया कि यह कविता है—कि इतनी ही कविता है और मैं जो कुछ उस मे जोडने का मोह कर रहा था वह अधिक से अधिक व्याख्या हो सकता था—नही तो वह भी नही, निरा कूडा ही रह जाता।

मेरे मन के भीतर जो चिड़िया वर्षों से उडती-उडती भी उड नही पायी थी और पत्ती को वर्षों से काँपता ही छोड गयी थी, उस दिन सहसा उड गयी। काँपती हुई पत्ती थिर हो गयी।

मै मानता हूँ कि उस दिन अपने काव्य-शिक्षण का एक सोपान मैं पार कर गया। आप इसे मानें या न माने, आपको पूरा अधिकार है। गौरैया चिडिया मेरी गुरु थी, आप को वैसा गुरु न मिला हो तो उस मे मेरा क्या दोप है ? मिला भी होता तो इस सम्प्रदाय के गुरु की शिक्षा किन्ही दो शिप्यो के लिए कभी एक-सी नही होती—क्या जाने उसी पत्ती से उडती हुई वही चिड़िया आप को क्या सिखा जाती ! किन्तु मेरी एक यात्रा पूरी हुई, इस के लिए मैं गुरु-स्थानीया गौरैया को प्रणाम करता हूँ।

सन्दर्भ : आख्यान

शेखर से साक्षात्कार

कुछ लोगो को अपनी चर्चा वहुत अच्छी लगती है, कुछ लोगो को वहुत बुरी; मुझे जरा भी सन्देह नही है कि मै दूसरी कोटि मे हूँ। मेरे एक मित्र कहते है कि परनिन्दा के वरावर कोई सुख दूसरा है तो आत्म-प्रशंसा का सुख है; मै दोनो मे ही रस नही ले पाता यह मेरा दुर्भाग्य भी हो सकता है। पर जहाँ अपनी चर्चा करना और सुनना दोनो ही मुझे अप्रीतिकर है, वहाँ अपनी रचना की चर्चा के वारे मे मेरा भाव दोरुखा है इसे अस्वीकार करना झूठ होगा। अपनी किसी रचना की दूसरो द्वारा की गयी चर्चा अच्छी ही लगती है, भले ही वह—जैसा कि मेरा अनुभव प्राय. रहा है—प्रतिकूल ही हो। स्वय जव-जव चर्चा करनी पड़ी है मै ने उसे लेखक की हैसियत से अपनी पराजय ही समझा है, क्योकि जो लिखा, उस के वाहर उस के वारे मे कुछ लिखने-कहने की जरूरत क्यो पड़े? और मेरा समकालिक पाठक या आलोचक उसे ठीक न भी समझे तो भी मैं यह क्यो मानूँ कि उसे समझाना मेरा काम है? मैं क्या अध्यापक हूँ—मेरा उद्दिष्ट छात्र है या कि सहृदय है; मेरी रचना कृति है या कि पाठ्य-पुस्तक? यह मान कर भी, कि आज के अस्सी प्रतिशत समीक्षक कर्तव्य-भ्रष्ट भी है और परम्परा-च्युत भी, मैं यह नही मान पाता कि इस लिए उन का काम मुझे करना चाहिए—कम से कम अपनी कृतियों के वारे मे। इस लिए पहले ही साफ कहूँ कि 'शेखर' की चर्चा का यह अवसर मेरे

लिए प्रीतिकर नही है।

फिर क्यो उस की चर्चा करता हूँ ? केवल इस लिए कि इतने वर्षों के अन्तराल के पार, 'शेखर' के असली रूप के बारे मे—और कदाचित् उस के लेखक के असली रूप के बारे मे—मेरे मन मे कुछ कौतूहल हो आया है। 'शेखर' का पहला भाग बीस वर्ष पहले लिखा गया, दूसरा भी कोई तेरह वर्ष पहले, इस बीच क्या वह या उस का लेखक बदल नही गये होंगे ? तीसरे भाग के प्रकाशन से पहले ऐसी जिज्ञासा मन मे आना स्वाभाविक ही है, और उसी मे आज इस अवसर का औचित्य उत्सृत होता है।

शेखर : उपन्यास 'शेखर' नही; पात्र शेखर—उपन्यास मे निरन्तर छटपटाने वाला जीवन्त व्यक्ति शेखर : मान लीजिए कि राह-चलते आज कही उस की मेरी मुठ-भेड हो जाए—तब ?

वह लीजिए—वह रहा शेखर : कुछ बिखरे बाल, व्यस्त अन्तर्मुखी मुद्रा, झुकी आँखें पर बेचैन ललकारते कदम—"क्यों जी, कहाँ रहे तुम इतने बरस—क्या करते रहे ?"

"जी—मैं ने आप को पहचाना नही।"

"हाँ—बेटा, क्यो पहचानोगे तुम ! तुम क्रान्तिकारी प्रसिद्ध हो। बहुत से लोग तुम्हे निरा अहवादी कहते है, और तुम्हारे क्रान्तिवाद को निरा ध्वसवाद—फिर भी तुम्हे असाधारण तो सब मानते है चाहे गाली के रूप मे ही। 'बदनाम होगे तो क्या नाम न होगा ?' और मैं—मैं गालियाँ तो तुम से कम नही खाता रहा, पर आज जो नयी गाली मुझे मिलती है वह यह कि प्रतिक्रियावादी हूँ—'प्रतिगामी शक्तियाँ' हूँ—बहुवचन का प्रयोग अपने को बढ़ाने के लिए नही, इस लिए कर कहा हूँ कि बहुत-सी बुराइयो मे से एक होने के अभियोग को सही-सही कह सकूँ। आज तुम मुझे क्यो पहचानोगे ! पर एक बात मेरी भी सुनोगे ?"

"जी हाँ, कहिए।"

"वह यह कि अगर मैं आज तुम्हारे लिए अजनबी हूँ, तो तुम मेरे लिए विनोदास्पद हो। नही, ऐसे अभिजात ढंग से यह कहने की कोई जरूरत नही है कि 'जी, मेरा अहोभाग्य'। मैं चिढाने के लिए नही कह रहा हूँ, मैं इस लिए कह रहा हूँ कि मुझ से अजनबी हो कर भी तुम मेरे साथ के ऐतिहासिक बन्धन से अलग नही हो सकते। और जब ऐसा है तो क्यो नही हम फिर एक दूसरे से नया परिचय पा ले—हमारे बीच मे

वाहर का कोई व्यवधान क्यों रहे ? इस लिए तुम्हे मेरी वात सुननी होगी—और गैर की वात मान कर नही, अपने एक अभिन्न सम्वन्धी की वात मान कर सुननी होगी ।"

"शायद यह लाचारी तो मेरे साथ है। पात्र एक वार गढ़ा जा कर स्वतन्त्र अस्तित्व तो पा लेता है, पर स्वतन्त्र का अर्थ असम्पृक्त तो शायद नही है। मुझे आप की वात सुननी ही होगी ।"

"धन्यवाद, शेखर। पर मैं यही कहना चाहता हूँ कि तुम नही, मैं आज असम्पृक्त हो गया हूँ। यह मेरी शेखी नही है, फिर भी चाहता हूँ कि उस वात को तुम पहचानो। तुम स्वतन्त्र हो, पर साथ ही इतिहास ने तुम्हें वाँध भी दिया है, तुम जो हो उस से इतर नही हो सकते, तुम्हे विकास की स्वतन्त्रता आज नही है। पर मैं—मैं राह पर हूँ। मैं वढ़ता और वदलता हूँ—अपने राग-विराग से मुक्त होता हूँ—यानी राग-विराग के एक पुज से मुक्त होता हूँ, दूसरे से सग्रथित, नये सम्पर्को मे पड कर पुरानो से असम्पृक्त होता हूँ। और तुम—तुम आज मेरे हो कर भी मेरे नही हो। पराये कभी नही हो सकोगे, पर मेरे भी नहीं हो—और तुम्हारी ये सव उतावली परिवर्तनेच्छाएँ मुझे आज वडी रोचक लगती है पर साथ उद्वेलित नही कर सकती।"

"आप वदल सकते है, अज्ञेयजी, लेकिन ऐसा क्यो, कि मेरा विकास रुद्ध हो गया ? क्या केवल इस लिए कि आपने एक वार मुझे लिख डाला ? रचना केवल अभिव्यक्ति नही है, वह सम्प्रेषण है। तव मैं केवल आप का अपेक्ष्य नही हूँ; प्रत्येक पाठक, प्रत्येक सहृदय मेरे रूप को वदलता है। क्योकि मैं केवल वह नही हूँ जो आपने वना दिया : मेरा हर पाठक हर वार मुझे वनाता है। मैं तट-वासी नही, मैं सेतु-वासी हूँ—और हर साहित्यिक चरित्र ऐसा ही सेतु-वासी है। आप क्या कहना चाहते हैं कि एक सेतु की मेहराव उठा कर चाहे जिस नदी पर रख दी जाये वही रहेगी ?"

"शावाश, शेखर ! देखता हूँ कि तुम से आरम्भ कर के मैं जिस अलगाव के पथ पर चला उसी पर तुम भी चले हो : तुम भी अपने से असम्पृक्त हो।"

"यह तो आप की कृपा है। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि लेखक को यह न भूलना चाहिए कि वह जो असम्पृक्त हो सकता है तो अपने पात्र के ही कारण। एक तटस्थता वह है जिस को पहुँच कर लेखक कृतिकार

वनता है, दूसरी वह है जो उसे पात्र को रचने के वाद मिलती है। आपने जो लिखा, उस मे भोक्ता से द्रष्टा की स्थिति आपने कैसे पायी इसके बारे मे आपने अपनी भूमिका मे लिखा है। यह आरोप तो मैं आप पर कैसे लगाऊँ कि सच्ची तटस्थता आपने तव तक नही पायी थी—पर क्या यह नही कह सकता कि मुझे रच कर, मेरे माध्यम से अपना सचित कुछ विखेर कर ही आप वास्तव मे तटस्थ हो सके ?"

"शेखर, तुम्हारी वात आज मैं खूव समझता हूँ। और जो आरोप तुम नही लगाते, वह मै स्वय लगा सकता हूँ—कि 'शेखर' पुस्तक मे वह सच्ची असम्पृक्त अवस्था नही है जिसे मैं उद्दिष्ट मानता हूँ। इस हद तक मैं ने तुम्हारे साथ अन्याय किया है कि तुम्हे सीढी वना कर मै मुक्त हुआ हूँ—लेकिन मुझे कहने दो कि इतना मुक्त मै आज हूँ कि इसे स्वीकार कर सकूँ। दर्द की वात मै ने तुम्हारी भूमिका मे लिखी है · दर्द का मूल्य आज भी मेरे निकट कम नही है, पर तटस्थता का आज एक नया अर्थ मैं जानता हूँ। साहित्यकार समाज को वदलता है—यानी वह उस का अनिवार्य कर्तव्य और ध्येय है, लेखक अनिवार्यत. सामाजिक क्रान्तिकारी है, इस किशोर मोह से मै ने छुटकारा पा लिया है। लेखक सिवा अपने के कुछ को नही वदलता, सिवा कला की समस्या के कोई समस्या हल नही करता। उस मे कोई समाज-परिवर्तनकारी शक्ति आती है, या उस की कृतियो का कोई ऐसा प्रभाव होता है, तो इसी लिए कि वह केवल अपने को वदलने के शुद्ध आग्रह के कारण व्यक्ति को एक अभ्रश्य सामाजिक मूल्य या प्रतिमान के रूप मे प्रतिष्ठित करता है और समाज मे मूल्य की प्रतिष्ठा ही उस का सच्चा मामाजिक कर्म है। जिस समाज मे ऐसे मूल्यो की प्रतिष्ठा नही है, वह प्रगतिवान् नही हो सकता क्योकि वह गतिवान् ही नही है, उस की जडता का लाभ उठा कर जो शक्तियाँ अपने को प्रतिष्ठित करती है वे सामाजिक उन्नति की शक्तियाँ नही है, और जो कुछ भी हो।"

"अज्ञेयजी, आप एक वात भूल गये है। वल्कि दो वाते। एक तो यह कि मै जो भी होऊँ, आपने तो अभी 'शेखर' पूरा नही किया है, इस लिए पाठक की वात तो दूर, अभी आप स्वय भी मुझे वदल सकते है। दूसरी यह कि आगे आप नया कुछ न भी करे, तो क्या आप जो नयी वात कहना चाहते है उस के भी अकुर आपने मुझ मे ही नही पहचनवा दिये है ? शेखर के अधूरे चरित्र मे भी क्या यह सकेत नही कि क्रान्ति को कम-से-कम साहित्य की देन यही हो सकती है कि वह व्यक्ति-चरित्र को पुष्टतर

वनाने मे योग दे? और—अपनी कमज़ोरी और आप के उद्देश्य स्वीकार करता हुआ कहूँ कि क्या मेरी—शेखर की असफलताएँ भी अन्ततोगत्वा व्यक्ति शेखर की न्यूनताओं के कारण ही नही है ?"

"हाँ, शेखर, यह तो है। तुम्हारे वारे में नयी दृष्टि भी मुझे तुम से ही मिली है। और 'शेखर' के तीसरे भाग मे जो कुछ है—"

"क्षमा कीजिए—वह तीसरा भाग क्या लिख गया है ? छपा तो नही है—?"

"हाँ, लिख गया है, पर लिखा जा कर ही अकारथ भी हो गया है, क्योंकि अलग हो कर जिसे लिख पाया, लिख डाल कर उस से और अलग हो गया—और यह अलगाव अव इतना अधिक हो गया है कि पुस्तक को छापने देते संकोच होता है। तभी का तभी छप जाता तो एक वात थी, अव—अव दूसरी वात है। तुम्हीं ने कहा कि रचना अभिव्यक्ति-भर नही है, सम्प्रेपण है—और आज जव मुझे लगता है कि पहले की अभिव्यक्ति अधूरी है—यानी आज की दृष्टि से अभिव्यक्ति नही है, तो सहृदय समाज के सामने मैं क्या प्रकाशित करूँ—सम्प्रेपण किस का करूँ ? यही आज की मेरी समस्या है—मेरी कला की समस्या।"

"जिसे केवल आप ही हल कर सकते हैं, अज्ञेयजी; मैं उस मे योग नही दे सकता—मैं तो समस्या का एक उपकरण हूँ।"

"नही, शेखर; तुम समाधान के भी उपकरण हो। तुम्हारे ही द्वारा मैं फिर अपने को पहचानूँगा। तीसरा भाग मैं दोवारा लिख रहा हूँ, और मेरा विश्वास है कि उस के वाद तुम और मैं—वीस और दस वर्ष पहले तुम और आज के या कि कल के तुम, और तव का, अव का, भविष्य का मैं—नये सिरे से एक दूसरे को पहचानेंगे।"

"तो फिर मै आप को न पहचान कर क्या अनुचित कर रहा था?"

"नही, शेखर। रचना मे ही मुझे नया संघटन, नया इंटिग्रेशन मिलेगा—और रचना की इस के सिवा दूसरी समस्या नही है कि उस के द्वारा रचना-रचयिता दोनो का संघटन हो।"

"मैं तो अभी आप को फिर से पहचानने लगा—क्योंकि अपने को जोखिम मे डालने को मेरी पहचानी हुई प्रवृत्ति आप में ज्यों-की-त्यों है।"

"लेकिन मेरा विनोद ? मैं कहूँ कि तुम अव भी मेरे विनोद की वस्तु हो तो वुरा तो न मानोगे ?"

"बुरा मानने की क्या बात है ? हर ईश्वर अपनी सृष्टि को देख कर हँसता है, पर कौन उस से अपने को काट लेता है? आप ने मुझे नास्तिक बनाया था या नही, यह तो नही जानता-—पर समझता हूँ कि ईश्वर भी सृष्टियो द्वारा अपना संघटन करता रहता है।"

"शेखर, आस्तिकता का प्रश्न क्यो उठाते हो जब कि वह तुरत ही जाड्य का, एक स्थितिशीलता का आग्रह बन जाता है ? हम आस्था-सम्पन्न रहें, इतना क्या तुम्हारे लिए भी काफी नही है ?"

'शेखर' : एक प्रश्नोत्तरी[1]

"शेखर के विषय मे मुझे कुछ बाते आप से पूछनी है।"

—"ज़रूर पूछिए,—मेरा अहोभाग्य !"

"शेखर की मातृभाषा अँगरेज़ी बना कर क्या आपने पाठको के लिए उस की मनोवृत्ति को समझना कठिन नही कर दिया है ?"

—"मैं तो समझता हूँ कि आसान कर दिया है—क्योंकि पढनेवाले स्वय उसी कोटि के है। हिन्दी के उपन्यास पढनेवाले अधिकतर विदेशी उपन्यास साहित्य से परिचित होते हैं। सब तो नही होते, लेकिन जो केवल हिन्दी से परिचित है वे अधिकतर अब भी उपन्यास को घटिया साहित्य मानते है और जब 'शेखर' लिखा गया था तब तो साहित्य ही नही मानते थे।

"और फिर यह भी सोचिए कि शेखर है कौन? जिस वर्ग का प्रतीक पुरुष वह है, वह क्या सचमुच अँगरेज़ी पर पला नही था ? और इस लिए सच्चे चित्रण के लिए अँगरेज़ी के प्रभाव को स्वीकार करना अनिवार्य नही है ?"

"शेखर के निर्माण के समय क्या किसी विदेशी उपन्यास का कोई पात्र आप के सामने था ?"

—"सामने था यह कहना गलत होगा। पर परोक्ष भी नहीं था यह दावा मैं कैसे कर सकता हूँ ? यही कह सकता हूँ कि किसी पात्र का भारतीय प्रतिरूप बनाने की मैंने कोई कोशिश नही की; न यही भावना मन मे थी कि किसी प्रसिद्ध पात्र जैसा पात्र, उस से अधिक सफलता से

१ दिल्ली रेडियो की प्रेरणा से श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'शेखर' के सम्बन्ध मे एक प्रश्नावली तैयार की थी जिस के उत्तर लेखक ने दिये थे। मूल प्रश्नावली अँगरेज़ी-हिन्दी मिश्र भाषा में थी, किन्तु प्रश्नो का प्रस्तुत रूप प्रश्नकर्ता द्वारा अनुमोदित है।

चित्रित करके दिखाऊँ—'नहले पर दहला' लगाने वाली जो मनोवृत्ति होती है। यो साहित्य पढता हूँ तो उस से प्रेरणा भी मिलती ही है : जव हम किसी कलाकार की प्रतिभा के सामने झुकते है तो उस मे से स्वयं भी कला के प्रति निष्ठावान् होने की कर्तव्य-प्रेरणा पाते है। **'ज्याँ क्रिस्तोफ़'** के अनवरत आत्म-शोध और आत्म-साक्षात्कार का जो चित्र रोलाँ ने प्रस्तुत किया है, उस से मुझे अवश्य प्रेरणा मिली : लेकिन न तो **'शेखर'** उपन्यास **'ज्याँ क्रिस्तोफ़'** जैसा उपन्यास है, न शेखर पात्र वैसा पात्र है। समानता इतनी ही है कि जैसे **'क्रिस्तोफ़'** मे लेखक एक आत्मान्वेपी के पीछे उस का चित्र खीचता चला है, वैसे ही मैं एक दूसरे आत्मान्वेपी के पीछे चला हूँ। **'क्रिस्तोफ़'** मे सर्वत्र उपन्यासकार अन्य-पुरुप मे लिख रहा है, शेखर का रूप उत्तम-पुरुप मे लिखी गयी आत्मकथा का है—लेकिन यह तो तन्त्र यानी टेकनीक की वात है।"

"मै तो तुर्गेनेव के वाजारोव की वात सोच रहा था।"

—"तुर्गेनेव का मैं वडा प्रशसक हूँ, और मानता हूँ कि वाज़ारोव का चरित्र उपन्यास-साहित्य की एक विभूति है। लेकिन शेखर पर वाज़ा-रोव का प्रभाव मै समझता हूँ विलकुल नही है। वाजारोव रूसी निहिलिज्म की देन है। तुर्गेनेव निहिलिस्ट नही था लेकिन उस ने युग की प्रवृत्तियो को पहचाना और विश्लेषण कर के इस प्रवृत्ति का चरम रूप सम्मुख रख दिया। मै भी आतकवादी दल से सम्वद्ध रह कर भी 'कनविंस्ड' आतक-वादी नही रहा, पर मुझे इस मे वडी दिलचस्पी रही कि आतकवादी का मन कैसे वनता है। **'शेखर'** की रचना इसी से आरम्भ हुई। मुझे वाज़ा-रोव की जरूरत नही थी, क्योकि मुझे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्य था। साथ ही यह प्रश्न भी मेरे सामने था, कि आतंकवादी वनता कैसे है, यही भर जानना काफी नही है : अगर मुझे आतंकवाद का दर्शन अपर्याप्त मालूम होता है तो उस से आगे भी वढ कर देखना होगा। और फिर यह भी सकेत देना होगा कि आतकवादी के भीतर भी, उस वाद के प्रति असन्तोष उसे प्रेरणा और शक्ति दे सकता है कि उस से आगे निकल जाये। वाजा-रोव नियतिवादी है। यह तुर्गेनेव का दोप नही, उस की सत्यनिष्ठा है—तत्कालीन निहिलिस्ट इस से आगे नही देखता था। शेखर नियतिवादी नही है। इस का श्रेय मै नही लेता, मानव मे मेरी आस्था अधिक है तो इस का कारण भौतिक दर्शन का तव से आज तक का विकास भी है।"

"शेखर और वाजारोव दोनो मे समान रूप से माता-पिता के प्रति

अवज्ञा का भाव है।"

"हाँ, एक हद तक है। वह पीढियों के परस्पर सम्वन्ध का सूचक है। विना ऐसे सम्वन्ध के आतंकवादी हो नही सकता। आस्तिकता और आस्था, नास्तिकता और अनास्था, दोनों की जड मे पितरो और सन्तान के रागात्मक सम्वन्ध होते है, और आधुनिक मनोविज्ञान इन का अन्वेषण करता है।"

"जव तक किसी पात्र का अन्त न हो जाये, तव तक उस के चरित्र का पूरा चित्र सामने नही आता। आप के सामने क्या शेखर का ऐसा सम्पूर्ण चित्र है?"

"है तो। उस की चर्चा मैं स्वयं नही करता क्योकि जव तक मेरी वात को पाठक अपने लिए न जाँच सके तव तक वह एक प्रकार का आरोप ही होगा। 'शेखर' के तीसरे भाग मे चित्र पूरा हो जाता है, पर वह अभी प्रकाशित नही हुआ है। आप पूछते है, तो कहूँ कि अन्त तक उस की शिक्षा (मेरी दृष्टि में) पूरी हो जाती है: वह हिंसावाद से आगे वढ जाता है। मैं समझता हूँ कि वह मरता है तो एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण मानव वन कर। यो उसे फाँसी होती है--ऐसे अपराध के लिए जो उस ने नही किया है। आप चाहे तो इस में भी वाज़ारोव से समानता देख सकते है—पर मेरे निकट यह निष्पत्ति न तो नियतिवादी है और न निरा सिनिसिज्म: मानव-जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव मुझ में विलकुल नही है, उसे मैं नगण्य नही मानता।"

"शेखर का यह अन्त विचारोत्तेजक और स्फूर्तिप्रद हो सकता है। लेकिन क्या वह उतना ही शानदार है जिनता 'शेखर' मे रामजी का, जिस की फाँसी शेखर देखता है?"

—"रामजी और मदनसिंह—'शेखर' के ये दो विशेष पात्र है: दोनो मे एक ऋजुता है, जीवन के प्रति एक भव्य स्वीकार का भाव। लेकिन उस स्वीकार के पीछे जाइये तो दोनों मे मौलिक अन्तर है। रामजी का स्वीकार सहज आस्था का स्वीकार है। उस के कुछ सहज नैतिक मूल्य या प्रतिमान है, जिन के सहारे वह चलता है: उस की शालीनता उस की आस्था का प्रतिविम्व है। मदनसिंह की ऋजुता उतनी सहज नही है। वह दु:ख से मँज कर वना हुआ व्यक्ति है, उस को जो दृष्टि मिली है वह वहुत अन्धकार मे टोहने के वाद मिली है। मदनसिंह की शालीनता विनय का, '**ह्यू मिलिटी**' का—प्रतिविम्व है। एक तीसरा पात्र

मोहसिन है : उस मे भी ऋजुता है : वह उस के फक्कड़पन का प्रतिविम्व है।

"शेखर की यात्रा इन तीनो से कठिन है। टेकनीक की दृष्टि से ये तीनो उस के अन्त.संघर्ष को और स्फुट करने का काम करते है। मेरा विश्वास है कि अन्त मे ऋजुता उस मे भी आती है : और वह शालीनता स्वातन्त्र्य का प्रतिविम्ब है। शेखर की खोज अन्ततोगत्वा स्वातन्त्र्य की खोज है—या हो, ऐसा उस के लेखक का प्रयत्न रहा।"

'शेखर' का जीवन-दर्शन क्या है, क्या आप सक्षेप मे वताने की कृपा करेंगे ?"

—"वाह-वाह! अगर सक्षेप मे वता सकता तो विस्तार से क्यो लिखता? कला मितव्ययिता का दूसरा नाम है : जो कुछ भी कहा जाये वह संक्षिप्ततम कलारूप मे कहा जाये यही कलाकार का उद्देश्य होता है। यों सूत्र आप चाहे तो कह दूंगा 'स्वातन्त्र्य की खोज'—फिर आप सूत्र की व्याख्या चाहेगे और मैं कहूँगा कि वही तो 'शेखर' है।"

"शेखर के चरित्र मे कई ऐसे अवसर आये है जब उस का भारतीय नीति-शास्त्र की दृष्टि से स्खलन होता है। उस का क्या प्रभाव पाठक-पाठिकाओं पर पडेगा, यह भी आपने सोचा है ?"

—"उत्तर देने से पहले स्वय आप से एक प्रश्न पूछूं ? आप नीति-शास्त्र और नीति मे—या नीति मे और नैतिकता मे—कोई भेद करते है?"

"इस मे आप का क्या अभिप्राय है मैं नही समझा।"

—"वह यह कि अगर नीतिशास्त्र से—युगीन नैतिकता से—ज़रा भी इधर-उधर नही हटना है तब तो नैतिक सघर्ष का चित्रण ही नही किया जा सकता। और प्रचलित नैतिकता का समर्थन-भर करने के लिए कला की साधना, कम-से-कम मुझे तो व्यर्थ मालूम होती है—और मेरा विश्वास है किसी भी कला-साधक को व्यर्थ मालूम होगी। क्योकि कला को नैतिकता के प्रचलित रूप से कोई लगाव नही है—उसे तो नैतिकता के बुनियादी स्रोतो से मतलब है।

"और इतना ही नही, हमारे युग मे यह और भी महत्त्वपूर्ण वात हो गयी, क्योकि--आप स्वय मानेगे—नैतिक रूढियाँ जिस तेजी से इस युग मे टूटी वह वहुत दिनो से नहीं देखी गयी होगी। जव नैतिकता के पुराने आधार नही रहते—तब मानव कैसे नैतिक बना रह सकता है, या रह सके—यह प्रश्न तो कुछ ऐसा है कि कलाकार को ललकारे।"

"खैर। मेरा प्रश्न तो अभी ज्यो-का त्यो है।"

—"अव उस का उत्तर सरल है—वल्कि एक तरह से मै दे चुका : शेखर की स्वातन्त्र्य की खोज, टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के वीच नीति के मूल-स्रोत की खोज है। कह लीजिए कि समाज की खोखली सिद्ध हो जाने वाली मान्यताओ के वदले व्यक्ति की दृढतर मान्यताओं की प्रतिष्ठा करने की कोशिश है। मैं मानता हूँ कि चरम आवश्यकता के, चरम दवाव के, निर्णय करने की चरम अनिवार्यता के क्षण मे हर व्यक्ति अकेला होता है : और उस अकेलेपन मे वह क्या करता है इसी मे उस के आत्मिक धातु की कसौटी है।"

"यह तो घोर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है।"

—"एक अराजकतावादी के मुँह से इस आलोचना को मैं निन्दा तो नही मान सकता !"

"लेकिन पाठक पर प्रभाव की वात तो रह जाती है। हर कोई अपने को ही प्रमाण मानने लगेगा तो समाज कैसे वना रहेगा ?"

"ऐसा खतरा विलकुल नही है, यह तो मैं नही कह सकता। लेकिन कोई भी वडा परिवर्तन लाने के लिए जोखिम तो उठाना पडता है। और यह जरूरी है कि हर पाठक—हर व्यक्ति—समझे कि उसे नैतिक आचरण करना है तो इस लिए नही कि वैसी रूढ़ि है, वल्कि इस लिए कि उस मे वैसी अन्त.प्रेरणा है। समाज मे ऐसे वहुत से लोग होते है जो नैतिक मूल्य मे विश्वास नही करते पर उस के विरुद्ध आचरण भी नही करते—चाहे लोक-भय से, चाहे सुविधा की कमी से, चाहे प्रेरणा ही की कमी से सही। फिर ऐसे भी है कि मूल्यो को मानते तो है पर आचरण उन के विरुद्ध करते है—चाहे दुर्वलता के कारण, चाहे और किसी कारण। ये दोनो प्रवृत्तियाँ ग़लत है, और समाज के सही निर्माण मे योग नही देती। इन से यह कही अच्छा है कि कर्म और विश्वास मे सामंजस्य लाने के लिए नैतिक व्यवस्था को खतरे मे पड़ने दिया जाये। वह कुल मिला कर व्यक्ति के लिए ही नही, समाज के लिए भी श्रेयस्कर है। समाज की नैतिक या आचरण-सम्वन्धी मान्यताएँ उस की इकाइयो की मान्यताओ की औसत होती हैं, इस लिए उस औसत के स्तर को जो भी ऊँचा उठाता है पूरे समाज को उठाता है। मान्यता और कर्म का अविरोध स्वय एक वड़ा आदर्श है—नैतिक मूल्य है। यही ईमानदारी है। सामाजिक रूढि से ऊँचे आत्मा की प्रतिष्ठा से कैसे किसी पाठक का अहित हो सकता है मैं नही समझता। आप पूछते है कि आदमी अपने को ही प्रमाण मानने लगेगा

तो समाज कैसे बना रहेगा ? इस में एक तो यह ध्वनि है कि समाज जो मानता है और व्यक्ति जो मानता है उस में अनिवार्यतया विरोध है—ऐसा ही हो, तो आप ही बताइये, किसी के भी किसी को भी प्रमाण मानने से भी, कोई भी कैसे बना रहेगा ?

"लेकिन इसे छोड़ें भी, तो प्रश्न यह रहता है कि व्यक्ति को जो सत्य दीखता है, उसे अनदेखा कर के वह जो उसे झूठ दीखता है उसे मानता चले—जो स्थिति कि अपने को प्रमाण न मानने मे निहित है—तो इस पर क्या समाज, आप के शब्दों मे 'बना रहेगा' ? सच्चाई मे जोखिम है—पर जोखिम मे बचने की गुंजाइश तो है जब कि पाखण्ड निश्चित मरण है—नीरन्ध्र, अमोघ सर्वनाश ।"

"आप के इन उत्तरो से मुझे पूर्ण सन्तोष तो नही हुआ, पर आप के दृष्टिकोण को सामने रख कर एक बार फिर से 'शेखर' को पढने की तीव्र इच्छा अवश्य उत्पन्न हुई है ।"

—"तब तो मै कृतार्थ हुआ ।"

'नदी के द्वीप' : क्यों और किस के लिए

अपनी किसी कृति के बारे मे कुछ कहने का आकर्पण कितना खतरनाक है, इस को वे लोग पहचानते होगे जिन्होने कवि सम्मेलनों आदि में कवियों को अपनी कविता की व्याख्या करते सुना है। कृतिकार को जो कहना है, जव उस ने कृति में वह कहा ही है, और मानना चाहिए कि यथाशक्य सुन्दर रूप मे ही कहा होगा, तव क्यो वह उसे कम सुन्दर ढंग से कहना चाहेगा? एक जवाव यह हो सकता है कि जो कृति मे सुन्दर ढग से कहा गया है, वह व्याख्या मे सुवोध ढग से कहा जायेगा। तो इस जवाव मे सुन्दर और सुवोध का जो विरोध मान लिया जाता है, उसे कम से कम मैं तो स्वीकार नहीं करता। सुवोधता भी सौन्दर्य का ही एक अग है या होना चाहिए। ऐसा जरूर हो सकता है कि वस्तु के अनुकूल रूप-विधान मे—और इस अनुकूलता मे ही सौन्दर्य है—सुवोधता इस लिए कम हो कि वह वस्तु भी वैसी हो। तव इस दशा मे सुवोध वनाने मे हम वस्तु से कुछ दूर ही चले जावेंगे। कोई भी वस्तु, कृति मे अपने सुन्दरतम और इस लिए सुवोधतम रूप मे आनी चाहिए, तभी वह कृति कला-कृति है। अगर वह सुवोधतम होकर भी सहज सुवोध नही हुई है, तो यह तभी हो सकता है कि उस स्थिति मे वह वस्तु अधिक सुवोध नहीं हो सकती, और अगर ऐसा है तो व्याख्या सुवोध तभी होगी जव वह कृति के सम्पूर्ण को खंडित कर के उसके खंड को ही—या अलग-अलग खडो को ही देखे।

'नदी के द्वीप' मे भूमिका नही है। इसी लिए नही है कि मैंने सीख लिया, उपन्यास मे उपन्यासकार को जो कहना है, वह उपन्यास से ही प्राप्य होना चाहिए; न सिर्फ होना चाहिए, उपन्यास से ही हो सकता है, नही तो फिर उपन्यासकार ने वह कहा ही नही है। मैं क्यो मान लूँ कि मेरा पाठक इतना वुद्धि-सम्पन्न नही होगा कि मेरी वात पहचान ले ? वल्कि

इतना ही नही, यह भी तो सम्भव है कि मैंने जो कहा है, उसे मैं स्वय दूसरे रूप मे उतना ठीक न पहचानूँ, न जानूँ ? स्पष्ट है कि कहानीकार भी इस वात को मानता है कि 'कहानी पर विश्वास करो, कहानीकार पर मत करो'। नही तो कहानी क्यो लिखता, विना कहानी के ही निरी व्याख्या क्यो न लिख डालता? ऐसे भी लेखक हैं जिन्होने कृति से वडी भूमिकाएँ लिखी है—कभी-कभी भूमिकाएँ ही पहले और प्रधान मान कर लिखी है, और फिर कृति मे केवल भूमिका मे प्रतिपादित सिद्धान्तो को उदाहृत कर दिया है। लेकिन ऐसी दशा मे भूमिका को ही कृति मानना चाहिए, और तथा-वर्णित कृति को उस की एक अलकृति, एक दृष्टान्त।

'नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। इस से इतर कुछ वह क्यो नही है, इस का मैं क्या उत्तर दूँ ? और दूँ ही, तो वह मान्य ही होगा ऐसा कोई आश्वासन तो नही है। व्यक्ति अपने सामाजिक सस्कारो का पुज भी है, प्रतिविम्व भी, पुतला भी; इसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओ का भी प्रतिविम्व और पुतला है—'जैविक' सामाजिक के विरोध मे नही, उस से अधिक पुराने और व्यापक और लम्वे सस्कारों को ध्यान मे रखते हुए। फिर वह इस दाय पर अपनी छाप भी वैठाता है, क्योकि जिन परिस्थितियो मे वह वनता है उन्ही को वनाता और वदलता भी चलता है। वह निरा पुतला, निरा जीव नही है, वह व्यक्ति है, वुद्धि-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति। तो अव हम चाहे तो व्यक्ति को जैसा वह है वही से ले सकते है, उस विन्दु से आरम्भ कर के उस की गति-विधि को देख सकते है, या फिर मुख्यतया इसी पर विचार कर सकते है कि वह जैसा है वैसा हुआ क्यो; और वैसा हो कर वह क्या कर रहा है, इसे गौण मान ले सकते है। पहले मे सामाजिक शक्तियो को निहित मान कर चलते है और व्यक्ति-चरित्र ही सामने होता है, दूसरे मे व्यक्ति गौण होता है और सामाजिक शक्तियाँ ही प्रधान पात्र हो जाती है। जहाँ तक शिल्प-विधान का प्रश्न है, दोनो प्रक्रियाएँ अपना स्थान रखती है, दोनो की विशेषताएँ और मर्यादाएँ है। और दोनो के अपने-अपने जोखिम भी। सतर्क कलाकार जोखिम से वच कर चल सकता है। शतरज का खेल देखें, तो राजा-वजीर, हाथी-घोडे आदि मोहरो को राजा-वजीर, हाथी-घोडा ही मान कर खेल का विकास देख सकते है, या फिर उन सव की प्रवृत्तियो और मर्यादाओ और चालो को गौण या 'स्थिति-जन्य' कह कर इसी अनु-सन्धान मे लग सकते है कि क्यो राजा राजा है और प्यादा प्यादा, या

घोड़ा क्यों ढाई घर की चाल चलता है और हाथी तिरछी; या क्यो प्यादा बढ़ कर वजीर तक बनता है, राजा नहीं, और क्यों राजा प्यादा नही बनता। या यह भी सोचा जा सकता है कि प्यादे को वज़ीर मान ले और घोड़े को प्यादा तो खेल कैसा चले ? वह भी बड़ा रोचक अनुसन्धान हो सकता है, चाहे यह प्रश्न रह ही जाये कि क्या वह शतरंज फिर भी है ?

तो मेरी रुचि व्यक्ति मे रही है और है, **'नदी के द्वीप'** व्यक्ति-चरित्र का ही उपन्यास है। घटना उस मे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे काफी है, पर घटनाप्रधान उपन्यास वह नही है। **'शेखर'** की तरह वह परिस्थितियों मे विकसित होते हुए एक व्यक्ति का चित्र और उस चित्र के निमित्त से उन परिस्थितियो की आलोचना भी नही है। वह व्यक्ति-चरित्र का—चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है। उस मे पात्र थोड़े है; वल्कि कुल चार ही पात्र है। चारो मे फिर दो, और दो मे फिर एक और भी विशिष्ट प्राधान्य पाता है। **'शेखर'** से अन्तर मुख्यतया इस बात में है कि **'शेखर'** मे व्यक्तित्व का क्रमश: विकास होता है; **'नदी के द्वीप'** मे व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं। हम जो देखते है वह अमुक स्थिति मे उन का निर्माण या विकास नही, उन का उद्घाटन भर है। और चार पात्रो मे जो दो प्रधान है उन पर यह बात और भी लागू होती है; बाकी दो पात्रों में तो कुछ क्रमिक विकास भी होता है। आप चाहे तो यह भी कह सकते हैं कि **'नदी के द्वीप'** चार सवेदनाओ का अध्ययन है। उस मे जो विकास है, वह चरित्र का नही, संवेदना का ही है।

उपन्यास क्या है या क्या नही है, इस को ले कर बहुत बहस हो सकती है, लेकिन उस मे लेखक का कोई सम्पूर्ण जीवन-दर्शन नही तो जीवन के संबंध में विचार तो प्रकट होते ही हैं। **'नदी के द्वीप'** के लेखक के वे विचार क्या है ? यहाँ कहना होगा कि वे स्पष्ट कम ही कहे गये हैं, लेखक की ओर से तो बिलकुल नही, पात्रो की उक्तियो या कर्मो मे सीधे या प्रतीपभाव से ही वे प्रकट होते है, और वह भी सम्पूर्ण जीवन के सम्बन्ध मे नहीं, उस के पहलुओ के। **'नदी के द्वीप'** एक दर्द-भरी प्रेम-कहानी है। दर्द उन का भी जो उपन्यास के पात्र हैं, कुछ उन का भी जो पात्र नही हैं। किसी हद तक वह कहानी असाधारण भी है—जैसे कि किसी हद तक पात्र भी असाधारण हैं—सब नही तो चार मे से तीन के अनुपात से। लेकिन इस हद तक असाधारणता दोष ही होती है, ऐसा मैं

नही मान लूँगा। 'नदी के द्वीप' समाज के जीवन का चित्र नही है, एक अग के जीवन का है; पात्र साधारण जन नही हैं, एक वर्ग के व्यक्ति हैं और वह वर्ग भी सख्या की दृष्टि से अप्रधान ही है; लेकिन कसौटी मेरी समझ मे यह होनी चाहिए कि क्या वह जिस भी वर्ग का चित्रण है, उस का सच्चा चित्र है ? क्या उस वर्ग मे ऐसे लोग होते है, उन का जीवन ऐसा जीवन होता है, सवेदनाएँ ऐसी सवेदनाएँ होती है ? अगर हाँ, तो उपन्यास सच्चा और प्रामाणिक है, और उस के चरित्र भी वास्तविक और सच्चे है; न साधारण टाइप है, न असाधारण प्रतीक है। और मेरा विश्वास है कि 'नदी के द्वीप' उस समाज का, उस के व्यक्तियो के जीवन का जिस का वह चित्र है, सच्चा चित्र है। नि'सन्देह उपन्यास के मूल्याकन मे इस से आगे भी जाना होता है, इस प्रश्न का उत्तर खोजना होता है कि लेखक मे तटस्थता कितनी है, अमुक वर्ग के सस्कारो से वह कहाँ तक असम्पृक्त रह सका या हो सका है। पर वह बात पात्रो की या वस्तु की असाधारणता से अलग है।

वास्तविकता के इस निर्वाह के साथ 'नदी के द्वीप' मे एक आदर्शपरकता भी है। वास्तव और आदर्श मे कोई मौलिक विरोध नही होता, यह कहना शायद आवश्यक नही है। इतना ही है कि जो आदर्श वास्तव की भूमि से नही उठता, वह निराधार ही रहता है, उसे पाया नही जा सकता, उस की ओर बढा नही जा सकता, वह जीवन नही देता। तो 'नदी के द्वीप' मे क्या आदर्श है ? कदाचित् यह मुझे कहने की कोशिश भी नही करनी चाहिए, क्योकि जैसा मैंने आरम्भ मे कहा, यही वह क्षेत्र है जहाँ कथाकार की ओर नही, कथा की ओर देखना चाहिए। कथा से अलग आदर्श को निकाल कर मै कहना चाहता या कह सकता तो कथा क्यो लिखता ? यो उपन्यास के आरम्भ मे सूत्र-रूप मे जो उद्धरण दिये गये है—एक शेली का, एक स्वय लेखक की कविता से, वे अर्थ रखते है' दर्द मे भी जीवन मे आस्था, जीवन का आश्वासन—जो शेली के सन्दर्भ से ध्वनित होता है, और दर्द से मँज कर व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास, ऐसा स्वतन्त्र कि दूसरो को भी स्वतन्त्र करे—जो 'अज्ञेय' के सन्दर्भ से ध्वनित होता है। आदर्श के ये दो सूत्र कथा मे है, चरितनायक भुवन एक को ध्वनित करता है तो मुख्य स्त्री-पात्र रेखा दूसरे को। चन्द्रमाधव और गौरा स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं, और भुवन तथा रेखा के प्रतिचित्र भी। चारो एक ही समाज या वर्ग के प्राणी है। पर चन्द्रमाधव का चरित्र-विकास

विकृति की ऐसी ग्रन्थियो से गुथीला हो गया है कि उस का विवेक भी उसे कुपथ पर ले जाये, और उस की सदोन्मुखता आत्म-प्रवंचना के कारण है। इसी मे वह भुवन का प्रति-भू है। दूसरी ओर गौरा तथा रेखा भी प्रत्यवस्थित किये गये हैं। त्याग की स्वस्थ भावना एक को दृष्टि देती है तो दूसरी मे एक प्रकार के आत्म-हनन का ही कारण वनती है—यद्यपि उस की भावना इतनी उदात्त है कि हम उसे अपनी सहानुभूति दे सकें। यानी आप दे सकें—क्योंकि मैं ने तो सभी पात्रो को अपनी सहानुभूति दी है। भले ही साधारण सामाजिक जीवन मे कुछ से मिलना-जुलना चाहूँ, कुछ से वचना चाहूँ, पर अपनी कृति के क्षेत्र मे तो सभी मेरी समवेदना के पात्र हैं।

शिल्प के वारे मे मेरा कुछ न कहना ठीक है, पर नाम के वारे मे एक वात कह दूँ। इस नाम की मेरी एक कविता भी है। पर दोनो मे विशेष सम्वन्ध नही है। उपन्यास लिखना आरम्भ करने से पहले, जव मैं उसे लिख डालने के लिए कही जा छिपने की वात सोच रहा था तव दो-एक मित्रो ने पूछा था कि नाम क्या होगा। मैं ने तव तक निश्चय नही किया था। उन्ही से पूछा—"आप ही सुझाइये।" कविता के कारण ही एक मित्र ने यह सुझाया; मैं ने कहा, "अच्छा, यही सही।" फिर मेरे लिखना आरम्भ करने से पहले ही नाम का विज्ञापन भी हो गया। यो नाम का निर्वाह उपन्यास में हो गया है, ऐसा मेरा विश्वास है।

'नदी के द्वीप' मैं ने किस के लिए लिखा है ? अगर कहूँ कि सब से पहले अपने लिए, तो यह न समझा जाये कि यह पाठक की अवज्ञा करना है। कदापि नही। वल्कि मैं मानता हूँ कि जो अपने लिए नही लिखा गया, वह दूसरे के सामने उपस्थित करने लायक ही नही है। यहाँ 'अपने लिए' की शायद कुछ व्याख्या अपेक्षित है। 'अपने लिए,' अर्थात् अपने को यह वात सप्रमाण दिखाने के लिए कि मेरी आस्था, मेरी निष्ठा, मेरे सवेदना-जाल की सम्पूर्णता और सच्चाई, मेरी इटिग्रिटी उस मे अभिव्यक्त हुई है। जव तक अपने सामने इस का जवाव स्पष्ट न हो तव तक दूसरे के सामने किसी लेखक को जाना नही चाहिए; उस से भूल हो यह दूसरी वात है।

फिर, अपने वाद, सवेदनशील, विचारवान्, प्रौढ अनुभूति के पाठक के लिए। स्पष्ट है कि ऐसा कहना, यह कहना नही कि जन-जनार्दन के

लिए। साहित्य पाठक मे कुछ तैयारी, अनुकूलता और परिपक्वता माँगता ही है। पुराने आचार्य तो इसे मानते ही आये, आज-कल भी यह मत नितान्त अमान्य तो नही है। जन की दुहाई देने वाले भी प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष रूप से मानते हैं कि पाठक की सवेदनाओ की व्यापकता और परिपक्वता का कुछ महत्त्व होता है। तो—क्या **'नदी के द्वीप'** मैं ने आप के लिए लिखी है? यदि आप यहाँ तक मेरी बात ध्यान दे कर पढते रहे है तो कहूँगा कि हाँ, आप के लिए भी, फिर आप चाहे जो हो। और यदि इससे पहले ही आप ऊब चुके है, या दूसरा कोई मत बना चुके है, तो फिर मेरी हाँ भी आप तक कैसे पहुँचेगी?

और अगर आज आप मे वह परिपक्वता नही है तो? तो आप के शुभेच्छु के नाते मैं मनाता हूँ कि कल वह हो!

श्लील और अश्लील[1]

"साहित्य में श्लील और अश्लील का प्रश्न उठाना कहाँ तक उचित है ? श्लील और अश्लील की परिभाषा क्या, मर्यादा क्या ?"

—श्लील और अश्लील का प्रश्न नया नही है। समय-समय पर अलग-अलग प्रकार के लोगो ने इसे उठाया है। यह कहना कठिन है कि इस प्रश्न को उठाने वाले सभी व्यक्तियों की दृष्टि असाहित्यिक रही है, यद्यपि अधिकतर ऐसे लोगो ने प्रश्न को साहित्य के बाहर से ही देखा है। कुछ की दृष्टि तो अत्यन्त संकुचित रही है; कुछ ने केवल अपनी कुंठा और दुर्बलता का आरोप साहित्य पर किया है। पर हम मान भी ले कि प्रश्न उठाने वाले सभी बडे विवेकी और नीतिवान् रहे, तो भी इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि प्रश्न का अन्तिम उत्तर कोई नही पा सके। यह इसी लिए आवश्यक है कि जो कुछ भी उत्तर या सही दृष्टि-कोण हो सकता है, उस तक पहुँचने के लिए सब से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि श्लील और अश्लील देश-काल पर आश्रित है। उन की कोई परिभाषा न केवल शाश्वत नही हो सकती वरन् आत्यन्तिक भी नही हो सकती। श्लील और अश्लील केवल समय (कनवेंशन) है; जो हर समाज और सामाजिक स्थिति के अपने अलग-अलग होते है। इसी लिए जिस संस्कृत काव्य को एक दिन आर्य-साहित्य का गौरव समझा जाता था, उसे दूसरे दिन गर्हणीय घोषित किया जा सका; जो ग्रन्थ लिख कर प्रणेता एक दिन 'ऋषि' गिने गये उसे दूसरे दिन एक 'राजर्षि' ने 'भारत का कलंक' ठहरा दिया। नागर समाज 'ग्राम्यता' को अश्लीलता का पर्याय मानता है; ग्राम-समाज शोहदापन और शहरीपन

१ ये प्रश्न **'ज्ञानोदय'** के सम्पादक द्वारा प्रस्तुत किये गये थे, उत्तर उस पत्र के 'प्रणय अंक' मे छपे थे।

को एक समझता है…

क्या श्लील और अश्लील की कलागत मर्यादा का विचार करते समय वे ही मानदंड लागू होंगे जो जीवन-गत नैतिक मर्यादाओं का विचार करते समय लागू होते हैं ?

—श्लील और अश्लील का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है। साहित्य का प्रश्न वह नही है। उसी प्रश्न को जब सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न बना कर हम साहित्य की मर्यादा के भीतर लाते हैं, तब वास्तव मे प्रश्न वही रहता ही नही, दूसरा ही हो जाना है। यह उल्लेख्य है कि जहाँ श्लील और अश्लील के बारे मे कभी नीतिवादियो मे भी एकमत नही हो सका, वहाँ इसी प्रश्न के साहित्यिक प्रतिरूप के बारे मे साहित्य-स्रष्टा प्राय एकमत रहे है।

देखना अश्लील नही है, अधूरा देखना अश्लील है। इतना ही नही, शिशु और माता की एक-दूसरे के सम्मुख नग्नता—नगापन या अश्लीलता नही है; यह भी कि अनुरागबद्ध प्रणयी-युगल की एक-दूसरे के सम्मुख नग्नता भी नगापन या अश्लीलता नही है। वहाँ अश्लीलता उसी को दीखती है, जो अधूरा देखता है—जो केवल नगापन देखता है, उसे औचित्य देने वाली पूर्णता को नही। यह बात जितनी पाठक के बारे मे लागू है उतनी ही लेखक के बारे मे; अगर वह वैसा देखता है, या दिखाना चाहता है, तो वह अश्लील है क्योंकि वह अधूरा है अर्थात् असाहित्यिक है।

कलाकार के लिए जीवन मे क्या आवश्यक है, प्रश्न को इस रूप मे पूछना मतिभ्रम पैदा करना है। जो समाज मे जीता है, उस का समाज के साथ पारस्पर्य स्वाभाविक और अनिवार्य है। वह समाज से चाहता है कि समाज उस को पनपने और पुष्ट होने दे; समाज उस से ठीक यही चाहता है। यह इस समझौते का अग है कि व्यक्ति सामाजिक आचरण के कुछ नियम माने।

ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति को समाज की तत्कालीन मान्यताएँ गलत और असह्य जान पडे; जैसे कि ऐसा भी होता है कि समाज को व्यक्ति के विचार या आचरण खतरनाक जान पड़ें। तब टकराहट होती है या नया सन्तुलन होता है, या कोई टूटता है या बहिष्कृत होता है या हट जाता है। जहाँ तक नये समय या कनवेंशन का प्रश्न होता है, जो जयी है वही ठीक है—क्योंकि प्रतिष्ठित का ही नाम मर्यादा है। किंतु कनवेशन के क्षेत्र से अलग इस सघर्ष का भी ऐतिहासिक मूल्यांकन अलग

ढंग से हो सकता है। और जहाँ साहित्य का प्रश्न है, वहाँ तो आचरण-सम्बन्धी यह सारा संघर्ष ही बेमानी है। जिस कलाकृति के रचयिता के जीवन और आचरण के बारे मे हम कुछ नही जानते, क्या यह कहना होगा कि उस का मूल्यांकन हम नही कर सकते ? और अगर एक कृति के मूल्यांकन मे कृतिकार के जीवन का व्यौरा अप्रासगिक है, तो दूसरी कृति के साथ वैसा क्यों नहीं—क्यो न ऐसे व्यौरे को साहित्यिक प्रतिमानो से अलग कुछ माना जाये ?

कोई सामाजिक प्राणी सामाजिक रूढ़ि को गलत मानता है तो उसे तोड़ने के लिए—या सही मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए—वह कितना जोखिम उठाने को तैयार है, यह उस का निजी प्रश्न है। कुछ 'निवाह ले चलने' मे कल्याण समझते हैं, कुछ अड़ना ठीक समझते हैं फिर चाहे जो हो।

साहित्य मे कृतिकार अगर किसी साहित्यिक रूढ़ि को—चाहे वह तत्कालीन सामाजिक मूल्यों से ही सम्बन्ध रखती हो—ग़लत समझता है तव उस के सामने भी ठीक वही प्रश्न होता है : निवाहता चलूँ, या लड़ मरूँ ? कुछ निवाहते चलते है, कुछ लड़ मरते है। कुछ लड जाते हैं और मरते भी नही, कुछ अमर ही हो जाते है। प्रतिक्रिया साहित्यकार की शिक्षा-दीक्षा, प्रवृत्ति, चरित्र और सामर्थ्य पर निर्भर है, परिणाम इन सब के अलावा परिवेश पर भी—सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थिति पर भी···

क्या प्रत्येक कलाकार के लिए आवश्यक है कि वह अपनी कृति की महत्ता और स्थायित्व की दृष्टि से स्वयं भी आचारगत और विशेषकर प्रणय-सम्बन्धी सामाजिक मान्यताओं से बँध कर चले ? अपवादों के विषय में आप क्या कहेंगे ?

—प्रश्न को जितना मैं समझा हूँ, उस का उत्तर ऊपर की वातो मे निहित है। कृति की महत्ता, या उस के स्थायित्व की सम्भावना, वाहर की वातो से कोई सम्बन्ध नही रखती, और लेखक के जीवन की घटनाएँ भी इस सन्दर्भ मे 'वाहर की वातें' हैं। वड़े-वडे नीतिध्वजी वकवास लिख गये; कभी कोई आवारा भी वड़ी चीज लिख गया। यह नही कि जीवन की घटनाओ का कोई असर रचना पर नही पड़ता; केवल इतना कि साहित्य मे हमारा वास्ता केवल उस असर से है जो कि कृति मे लक्ष्य है, जीवन की घटना से नही।

आप की जिन विशेष कृतियों और पात्रों के सम्बन्ध में अश्लीलता का आरोप किया गया है, उन के पक्ष-विपक्ष में रचयिता की हैसियत से

आप का मन्तव्य क्या है ?

—इस विपय मे क्या कह सकता हूँ जब कि, अगर मेरा साधारण निरूपण ठीक है तो, पक्ष-विपक्ष रहते ही नही ? अगर मै स्वय देख सकता हूँ कि मेरा देखना अधूरा देखना है, तो क्या मै पूरा न देखूँगा ? उदाहरण भर दे सकता हूँ : **'नदी के द्वीप'** मे अश्लीलता किसी वर्णन मे नही मानता; दृष्टि मे वह है तो न लेखक की और न रेखा या भुवन की; वल्कि चन्द्रमाधव की दृष्टि मे वह है। कह सकते है कि भुवन या रेखा वास्तविक नही है, चन्द्रमाधव अधिक वास्तविक है; जो कहते है मुझे उन से वहस नही क्योकि शायद यह ठीक ही है कि थोडी वहुत अश्लीलता ही अधिक वास्तविक है···

एक आलोचना-विशारदा ने **'नदी के द्वीप'** के स्त्री-पात्रो को इसलिए अस्वाभाविक और असम्भव वताया है कि उन मे ईर्ष्या नही है। मेरे निकट ईर्ष्या भी अधूरी दृष्टि का, अपरिपक्वता का, परिणाम है। एक वय मे—वय मानसिक भी होता है—ईर्ष्या स्वाभाविक हो सकती है; पर मै मानता हूँ कि वच्चा वडा भी हो सकता है। युवती के लिए—हिन्दी उपन्यास की नायिका के लिए भी !—वयस्क हो जाना नितान्त अस्वाभाविक नही है।

अश्लील का अस्तित्व या उद्भव कहाँ है ? प्रणय-व्यापार में, या उस के चित्रण में, या कलाकार के मन में, या कही और ?

—अगर प्रश्न को 'रस का अस्तित्व कहाँ है ?' वाले शुद्ध कितावी प्रसग मे नही देखना है, तो उत्तर उतना कठिन नही है। शर्म आँखो की होती है, तो उघडापन भी आँखो मे होता है। अगर लेखक की दृष्टि अधूरी, उघडी (अतएव असाहित्यिक) थी तो अश्लीलता वही है, और उस से उत्पन्न लेखन मे भी, अगर पाठक की दृष्टि वैसी है तो वहाँ।

प्रश्न का एक पहलू और हो सकता है; कि कोई रचना अगर अपरिपक्व पाठक मे असामाजिक भावनाएँ जगाती है, तो क्या वह खतरनाक नही है ? 'सेसरशिप' का यह प्रश्न साहित्य का नही, सामाजिक नियन्त्रण का प्रश्न है। दवाएँ खतरनाक हो सकती है; उन के वितरण का नियन्त्रण केवल प्रयोक्ता को ही नही, दवा को भी दुरुपयोग से बचाता है। सामाजिक स्वास्थ्य का यह प्रश्न समस्या का एक स्तर है। एक दूसरा भी है : दवा तो यो भी विशिष्ट प्रयोग की चीज है : रुग्णावस्था से सम्बन्ध रखता है। पर वच्चे के लिए तो गर्म दूध से भी ख़तरा हो सकता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि गर्म दूध वुरा है, केवल रोगी का खाद्य है। तव ?

इस 'तब' का उत्तर भी साधारण जीवन की समस्या है, साहित्य की नहीं; पर होती भी तो यही उत्तर होता कि "तब वही कीजिए जो साधारण जीवन मे करणीय है"—ऐसी व्यवस्था रखिए कि बच्चा और गर्म दूध दोनों एक-दूसरे से बचे रहें, और बच्चा प्रकट निषेध से होने वाले आकर्षण से भी बचा रहे।

रेखा की भूमिका[1]

'नदी के द्वीप' मे श्लील और अश्लील के सम्बन्ध मे जो प्रश्नोत्तर छपे थे, उस की बातो को नही दोहराऊँगा। मुझे स्मरण है कि मैं ने बातचीत के सिलसिले मे (पटना मे) कहा था कि 'अश्लीलता की परिभाषा युग के साथ बदलती रहती है।' आप ने इस का स्पष्टीकरण चाहा है। जो जुगुप्सा उत्पन्न कर दे वह अश्लीलता है, यह अश्लील की एक परिभाषा है। जुगुप्सा का अर्थ है गोपन करने की इच्छा। और यह स्पष्ट होना चाहिए कि छिपने-छिपाने की इच्छा जिन परिस्थितियो मे होती है वे निरन्तर बदलती रहती है। इस लिए इस अधूरी परिभाषा की दृष्टि मे भी अश्लीलता का अर्थ बदलता रहता है। इस के अलावा मनोविज्ञान ने मूल प्रवृत्तियो के बारे मे जो नयी दृष्टि दी है उस से जो परिपक्वता पाठक को मिली है (या मिलनी चाहिए) उस ने भी अश्लीलता के क्षेत्र को सकुचित कर दिया है। जैसे बच्चे की नग्नता बडो मे जुगुप्सा नही उत्पन्न करती, बल्कि बड़े बच्चो को क्रमश यह सिखाते है कि अपने समाज के पहरावे के नियमो के अनुरूप सकोच का भाव उन मे जागना चाहिए; उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र मे भी जब अपरिपक्व को परिपक्व के सम्मुख लाया जाता है तब जुगुप्सा नही होनी चाहिए—और ऐसे साक्षात् मे अश्लीलता नही माननी चाहिए। अगर मेरी यह स्थापना उचित है कि मनोविश्लेपण की नयी खोजो ने हमे परिपक्वता दी है तो स्पष्ट है कि उस मे अश्लीलता की परिधि भी बदली है। यह ठीक है कि बहुत से पाठकों मे वह परिपक्वता नही होती जिस

१ यह एक पत्र के कुछ अश हैं जो एक अध्येता द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नो के उत्तर में लिखा गया था। पत्र में रेखा के चरित्र के अतिरिक्त भी कुछ बातो का उल्लेख है, किंतु सभी **'नदी के द्वीप'** से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बद्ध हैं, अत शीर्षक में अव्याप्ति दोप होने पर भी आशा है कि वह भ्रामक न होगा।

की आज हम अपेक्षा कर सकते हैं, लेकिन इस परिस्थिति मे जो करना चाहिए उस का सकेत मैं ने 'प्रश्नोत्तर' मे दे दिया है। जो नियमन समाज को करना चाहिए, उसे लेखक अपने ऊपर ओढ़ ले या ओढना चाहे तो वह निरा दम्भ ही होगा—वैसे ही जैसे जो काम राजशक्ति के क्षेत्र के होते है उन्हे व्यक्ति का अपने ऊपर ओढ़ना चाहना दम्भ होगा—या मूर्खता।

रेखा 'नदी के द्वीप' का सब से अधिक परिपक्व पात्र है। यह मैं पहले लिख चुका हूँ कि मेरी दृष्टि मे वही उपन्यास का प्रधान पात्र भी है। वही अपनी भावनाओ के प्रति सब से अधिक ईमानदार है और अपने प्रति सब से अधिक निर्मम। एक दूसरी तरह की ईमानदारी चन्द्रमाधव मे भी है लेकिन वह दस्यु की ईमानदारी है—जो नोच-खसोट कर पा लेना चाहता है किन्तु मूल्य चुकाने को तैयार नही है।

रेखा का जीवन-ध्येय और जीवन-दर्शन ? इस प्रश्न का उत्तर मेरे लिए कठिन है। और शायद यह लेखक के क्षेत्र से वाहर की भी वात है। क्योकि इस विषय पर कहानी मे जो नही मिलता है वह प्रस्तुत किया जा कर अविश्वास्य रहेगा। इतना शायद कहानी मे से निकाला जा सकता है कि रेखा अपनी भावनाओ के प्रति सच्ची रहना चाहती है, भीतर के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उस ने समर्पण की सीमा तक पहुँचा दिया है। जहाँ यह व्यक्ति की वहुत वडी शक्ति है, व्यक्तित्व के विकास का एक उत्कर्ष है, वहाँ यह उस की एक पराजय भी है। क्योकि केवल 'अपने मे जो है उस के प्रति समर्पण' काफ़ी नही है। अपने से वाहर और वड़ा भी कुछ है जिस के प्रति भी उतना ही निःसंग समर्पण वास्तव मे चरित्र की पूर्ण विकसित और परिपक्व अवस्था है। रेखा की ट्रैजेडी उस के इसी समर्पण के अधूरेपन की ट्रैजेडी है—जितना ही वह पूरा है उतना ही वह अधूरा है क्योकि वह अधूरे के प्रति है। ट्रैजेडी तव होती है जव जो 'दड' मिलता है वह भोक्ता के 'दोषो' के कारण नही, उस के गुणो की त्रुटियो के कारण मिलता है—"फार द फॉल्ट्स ऑफ़ देयर वर्चूज।"

टेकनीक की दृष्टि से दोनों स्त्री-पात्र—रेखा और गौरा, तथा दोनो पुरुष-पात्र—भुवन और चन्द्रमाधव, प्रत्यवस्थित (काउंटरपोज़) हो गये हैं। किन्तु वास्तव मे स्थिति यह नही है कि दोनो स्त्री-पात्र एक-दूसरे के चरित्र को उभारते है, या दोनों पुरुष-पात्र एक-दूसरे को। वास्तव मे उपन्यास के प्रति-चरित्र रेखा और चन्द्रमाधव है। रेखा भावना की सच्चाई के प्रति समर्पित है या होना चाहती है, चन्द्रमाधव सहज प्रवृत्ति की तृप्ति

को ही अपना लक्ष्य बनाता है। रेखा का आदर्श है दान, चन्द्रमाधव का लब्धि। इसी लिए रेखा मे ईर्ष्या नही है और चन्द्रमाधव मे प्रेम उन के बिना मानो अभिव्यक्ति ही नही पा सकता।

रेखा और गौरा मे ईर्ष्या न होने की आलोचना हुई है। ऐसे भी है जो मानते है कि ईर्ष्या के बिना प्रेम नही है, या ईर्ष्या के बिना नारी नही है। ईर्ष्या-भरा प्रेम या ईर्ष्या-भरी नारियाँ मैंने न देखी हो, ऐसा नही है। नि.सन्देह अधिकतर ऐसा ही होता है। लेकिन जीवन का अनुभव अधि-सख्य या अधिमात्र का ही अनुभव नही है—जो परिपक्वता की ओर ले जाये वही अनुभव है। मैं मानता हूँ कि ईर्ष्या प्रेम का सब से बड़ा शत्रु है और प्रेम की स्वस्थ वयस्कता के मार्ग मे सब से बड़ा रोड़ा। मैं नही मानता कि ईर्ष्यामुक्त प्रेम असम्भव है या अस्वस्थ है या अस्वाभाविक है। बल्कि यह मानता हूँ कि प्रेम में जिन को भी जितना अधिक ईर्ष्या से मुक्त मैंने पाया है उन का उतना ही अधिक सम्मान कर सका हूँ—चाहे उस देश-काल मे, चाहे दूसरे देश-कालो में।

यो, यदि यह सूचना आप के किसी काम की है तो—यह भी कहूँ कि बीसियो वर्ष से ईर्ष्या की समस्या मे सैद्धान्तिक दिलचस्पी रही है। एच० जी० वेल्स के दो उपन्यास इसी प्रश्न को लेकर है जिन मे से एक मुझे विशेष प्रिय है; ये दोनो ही कॉलेज के जमाने मे पढे थे, जब समाज को बदलने का मेरा आग्रह तत्कालीन वेल्स के आग्रह से कुछ कम नही था। वेल्स के दिये हुए तर्क आज कुछ अतिसरलीकरण जान पड़ते हो वह दूसरी बात है, लेकिन मानवीय व्यक्ति के चरित्र-विकास के लिए ईर्ष्या-मुक्ति का जो सैद्धान्तिक प्रश्न उन्होने उठाया था वह मुझे आज भी एक जीवित प्रश्न जान पड़ता है।

'नदी के द्वीप' का समाज[1]

'नदी के द्वीप' के पात्रो के विषय मे आप के प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है ? जो उपन्यास मूलत: चार-पाँच वैयक्तिक संवेदनाओ का अध्ययन है उस के पात्र 'समाज से कटे हुए' है या नहीं, यह प्रश्न मेरे लिए तो प्रासंगिक ही नही हुआ। एक पेड़ की शाखा-प्रशाखा की रचना देखने के लिए क्या यह पहले निश्चय कर लेना अनिवार्य (या आवश्यक भी) है कि वह पेड जंगल से कटा हुआ है या कि जंगल का अग है ? उपन्याम अनिवार्यतया पूरे समाज का चित्र हो, यह माँग विलकुल गलत है। उपन्यास की परिभाषा के बारे मे यह भ्रान्ति (जो देश मे या कम से कम हिन्दी मे काफी फैली हुई मालूम होती है) साहित्य के सामाजिक तत्त्व को गलत समझने का परिणाम है। कह लीजिए कि छिछली या विकृत प्रगतिवादिता का परिणाम है।

'नदी के द्वीप' के पात्र किसी हद तक अवश्य असाधारण है। वैसे ही जैसे भारत मे पढ़ा-लिखा व्यक्ति किसी हद तक असाधारण अवश्य है, जहाँ साक्षरता का स्तर अट्ठारह प्रनिशत है, शिक्षितता का आधा प्रतिशत और सुशिक्षितता का कितना ? ०.२ प्रतिशत ? समाज के जिस अंग मे से **'नदी के द्वीप'** के पात्र आये है उस का वे गलत प्रतिनिधित्व नही करते। मेरे लिए उन की इतनी सामाजिकता पर्याप्त है। इस के आगे उन में से प्रत्येक चरित्र एक सही सुनिर्मित विश्वसनीय व्यक्ति-चरित्र हो और जीवन्त हो कर सामने आ सके, यही मेरा उद्देश्य रहा और इतना मात्र मै कलात्मक उद्देश्य मानता हूँ। यो दूसरे भी उद्देश्य हो सकते है, यह अलग बात है।

1 काशी के एक विद्यार्थी के प्रश्न के उत्तर मे लिखे गये पत्र का अश।

'शेखर' से 'नदी के द्वीप' का अधिक सम्बन्ध मुझे तो नही दीखता। पर लेखक की बात पाठक क्यो मानने लगा, खास कर जब वह ऐसा समझता हो कि वह कुछ देख सकता है जो भले ही स्वयं लेखक को भी न दीखा हो।

इतना अवश्य है कि 'शेखर' का तीसरा भाग मेरे सामने है और केवल मेरे सामने है, पाठक के सामने नही है। इस लिए यह असम्भव तो न होना चाहिए कि 'शेखर' के पहले दो भागो का तीसरे भाग के साथ सम्बन्ध, और 'नदी के द्वीप' से उन सब का अलगाव मैं पाठक की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह देख सकूं—अपने सभी पूर्वग्रहों के बावजूद।

सन्दर्भ : आलोचना

प्रतिष्ठाओं का मूल स्रोत

हिन्दी में आज आलोचना की जितनी अप्रतिष्ठा है, उतनी शायद कभी नही थी। आलोचना से हमारा अभिप्राय साहित्यालोचन अथवा आलोचना के सिद्धान्त नही, व्यावहारिक ग्रन्थ-समीक्षा है। ऐसा क्यो है? इस प्रश्न पर विचार करने लगे तो साथ ही ध्यान होता है कि केवल समीक्षा की नही, समीक्षा के माध्यम या आधार, हमारे पत्र और पत्रिकाओ की भी उतनी ही अप्रतिष्ठा है। और कुछ और पीछे जा कर देखे, तो यह भी लक्ष्य होता है कि हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भ के युग मे हमारे पत्रकारो की जो प्रतिष्ठा थी, वह आज नही है। साधारण रूप से तो यह बात कही जा ही सकती है, अपवाद खोजने चले तो भी यही पावेंगे कि आज का एक भी पत्रकार या सम्पादक वह सम्मान नही पाता जो कि पचास-पचहत्तर वर्ष पहले के अधिकतर पत्रकारो को प्राप्त था। जो पाठक ये पंक्तियाँ पढ़ेगा वह शायद सम्पादक नही होगा इसलिए स्वयं उसे ललकारना तो व्यर्थ होगा : उसे इतना ही कहना होगा कि आज के सम्पादक-पत्रकार अगर इस अन्तर पर विचार करे तो स्वीकार करने को बाध्य होगे कि वे न केवल कम सम्मान पाते है बल्कि कम सम्मान के पात्र हैं—या कदाचित् सम्मान के पात्र बिलकुल नही हैं, जो पाते हैं वह पात्रता से नही, इतर कारणो से।

इस परिस्थिति की चर्चा सम्पादको के सम्मुख ही करनी चाहिए, या कि साधारण पाठक के लिए भी उस का कुछ उपयोग है? मैं तो समझता

हूँ कि साधारण पाठक के सामने इस प्रश्न को उठाने का पर्याप्त कारण है। क्योंकि यह केवल विशेषाधिकार-प्राप्त पत्रकार-बिरादरी का प्रश्न नहीं, हिन्दीभाषी मात्र के लिए एक प्रश्न है, और—कम से कम कागज़ी प्रस्ताव के आधार पर!—यह मान लिया गया है कि कुछ वर्षों की निर्दिष्ट अवधि के भीतर सभी भारतवासी हिन्दीभाषी हो गये होंगे।

बहुत दूर तक इस अप्रतिष्ठा की जड़े व्यावसायिकता के प्रसार में हैं। वे दिन लद गये जब पत्र निकालना साधना थी और साहित्यिक पत्र निकालना तो पूरी कृच्छ्र तपस्या। आज का पत्रकार पेशेवर आदमी है, उस का दिमाग ट्रेड-यूनियन की लीक पर चलता है (क्योंकि मालिक का दिमाग पूँजीवादी पटरी पर जमा है)। पुराना सम्पादक ही मालिक होता था क्योंकि वह मिल्कियत नही, मुसीबत थी; आज बहुधा मालिक ही सम्पादक होता है क्योंकि अधिकार उसे चाहिए, काम करने वाले पेशेवर पत्रकार तो बहुत मिल जावेंगे जो उस के आदेश से काम करेंगे!

जिस प्रकार सम्पादक की अप्रतिष्ठा व्यावसायिकता मे निहित है, उसी प्रकार समीक्षा की भी। क्योंकि प्रकाशन भी एक व्यवसाय है, और बिक्री के लिए विज्ञापन चाहिए, और समीक्षा विज्ञापन का एक रूप है—या बनाया जा सकता है[1]—इसलिए प्रकाशक और पत्रो और पत्रकारो का तालमेल एक व्यावसायिक आवश्यकता है। और फिर आलोचक भी पेशेवर आलोचक है—क्योंकि या तो वह लेखक है और इस लिए प्रकाशक के हित के साथ उस के हित बँधे है, या वह पत्रकार ही है और सीधे ओखली मे सिर दिये बैठा है। या वह स्कूल-कालेज-युनिवर्सिटी मे पढ़ाता है, और आलोचना लिखेगा तो पाठ्य-क्रम मे आने के लिए उसे अमुक होना होगा या नही होना होगा—और आलोचक के लिए पाठ्य-पुस्तक का आकर्षण वह फिसलन है कि बस, एक बार गिरे और गये—कर्दम-वासी जीव से मानव तक के सारे जैविक विकास पर पानी फिर गया! शिक्षण भी तो

१ कितने प्रकाशक अब स्वय अपनी 'समीक्षा-पत्रिकाएँ' निकालने लगे है। अपना प्रकाशन, अपनी पत्रिका, अपने 'समीक्षक' जो बहुधा प्रकाशक के अपने प्रकाशित, प्रकाश्य, या प्रकाशनाकांक्षी लेखक होते हैं—कैसी सागोपाग व्यवस्था है! पजाबी में कहावत है **आप्पेई मैं रज्जी-पुज्जी, आप्पेई मेरे बच्चे ज्यूण।** —स्वय मैं ने पेटभर भोजन पाया, स्वय अपने को पूजा-दक्षिणा दी, स्वय अपने को आशीर्वाद दिया कि मेरे बच्चे जियें!

आज व्यवसाय है, और युनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर के अपने को 'कुल-पति' कह लेने से स्थिति वदल थोड़े ही जाती है !

लेकिन यहाँ तक पहुँच कर इस वात को ले उडना भूल होगी कि व्यावसायिकता या पूँजी ही सव दोषो की जड है; और हम निर्दोष है और कुछ नही कर सकते। पूँजी के शासन का समर्थन हमे अभीष्ट नही है, लेकिन उस से उवरने के लिए नारेवाजी काफी नही है। 'अमुक दुष्ट है क्योकि उस ने हमे वाँध लिया'—यह नतीजा कुछ मदद नही कर सकता जव तक कि हम यह भी न सोचे कि 'हम मे क्या दुर्वलता थी कि हम वँध गये ?'

क्या केवल यही कि हम ने नारे नही लगाये, या कि काफी जोर मे नही लगाये ? जी नही। नारे तो हम ने लगाये, लेकिन यह सोचने के लिए कभी नही रुके कि क्या उन मे कुछ सत्य भी कभी था ? या अगर कभी था, तो आज भी है या कि दम तोड चुका; और हमारे चिल्लाने मे ही उस की उलटी साँसें डूव गयी ?

जो लोग पूँजी के शासन से वचने के लिए यथेष्ट सतर्क थे, आलोचना की मर्यादाओ की उन्होने कम उपेक्षा नही की। वल्कि शायद उन्होने उस की मट्टी को अधिक पलीदा, क्योकि उन्होने समीक्षा को राजनीति का साधन वनाया, और उस राजनीति का जिस मे शाश्वत की खिल्ली उडा कर तात्कालिक सुविधा को ही शाश्वत सिद्धान्त वना डाला गया था। शाश्वत कुछ नही है, आलोचना के सिद्धान्त समाज को प्रतिविम्वित करते है और इसलिए समाज के साथ वदलते है, इस प्रतिपाद्य से आरम्भ कर के समीक्षा को विशुद्ध अवसरवादिता के हाथो वेच दिया गया। साहित्य के मान—कोई भी मान, नैतिक मान भी—समाज के, देश-काल के, सम-कालीन सास्कृतिक विकास के प्रतिविम्व है; और क्योकि विकास एक अवस्थिति नही, एक अनवरत गतियुक्त क्रिया है, इसलिए ये मान भी वदलते है और उन पर आधारित हमारे निष्कर्ष और निर्णय भी कालान्तर के साथ संशोधनीय हो जाते है, यह कहना एक वात है। लेकिन रोज़-रोज़ के सन्धि-विग्रहो से देश-काल, समाज, संस्कृति उसी के अनुरूप रोज़-रोज़ नही वदल जाते। राजनीतिक सुविधा के आधार रोज़ वदल सकते हैं पर नैतिक-सांस्कृतिक मान गिरगिट की चमड़ी के रंग नहीं है। जैविक विकास मे उदाहरण लीजिए : वन्दर या उस के किसी जाति-भाई से मानव का विकास हुआ, दोनो अलग हैं और दोनो का अपना-अपना स्थान

है जिस पर आप चाहे तो ऊँच-नीच की भावना भी रोप सकते है, पर विकास-गति के नाम पर आज के वन्दर को कल मानव और परसो फिर वन्दर नही सिद्ध किया जा सकता। इसे ऐतिहासिक दृष्टि नही कहते, और इस पर आधारित आलोचना-शास्त्र (—क्योकि आप मानिए न मानिए, ठीक वैसा ही विधान भी है जिसे देख कर लोग दिन-दिन तय कर लेते है कि आज कौन ठीक और कौन वे-ठीक लिख रहा है!—) वैज्ञानिक, शास्त्रीय, ऐतिहासिक, भौतिक, कुछ नही हो सकता; वह या तो शुद्ध धोखा हो सकता है, या—अगर उस के प्रचारक स्वय उस पर विश्वास कर रहे है तो—कोरी आत्म-प्रवचना। वकरे को आप कामधेनु कहिए, कह सकते है; और काफी चिल्ला कर और दुराग्रह से कहेगे तो सामने वाला कोई भी भला आदमी चुप हो जायेगा कि कहने दो; पर इतने पर ही गलस्तन से दूध नही दुह लिया जा सकेगा, किसी दूसरे इष्ट की तो वात ही क्या!

असल मे समस्या यही है कि हमारे पास आज किसी चीज़ को मापने के लिए मापदंड नही है। पुराने माप कुछ तो पुराने थे ही, घिस-घिसा गये थे और नया शोध माँगते थे, कुछ को हम ने अवज्ञा और कुशिक्षा और शक्ति-लालसा और परमुखापेक्षिता और दास-वृत्ति नही तो अनुकरण-वृत्ति के कारण स्वय नष्ट कर दिया। यह वात केवल साहित्य पर नही लगती, हमारे सारे सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन पर लगती है। हमारे पास कोई नीति नही है, क्योकि नीति के कोई आधार नही है। प्रत्युत्पन्न-मतित्व को हम ने नैतिक क्षेत्र मे ला विठाया; विठाया ही नही, सिहासन दिया; और अव वह चरम सीमा पर पहुँच कर हमे अवसर-नीति से चला रहा है, और हम हक्के-वक्के देख रहे है कि यह क्या हुआ! क्या हमारे पास नीति है? शास्त्र है? क्या हमारे पास सस्कृति भी है? और इस घवराहट मे एक प्रतिक्रियावादी दौड़ता है पीछे को कम से कम मौर्यो-गुप्तो के साम्राज्य तक, तो दूसरा प्रतिक्रियावादी दौड़ता है रूसी साम्राज्य की ओर! अगर हमारे पास आज कोई सस्कृति नही है, टूटी-फूटी, भ्रष्ट-ध्वस्त, पगु-दुर्वल, चाहे कैसी भी वह हो, अगर हम उसी को अपने प्राणो के वल से नही जीवन्त और गतिवान् कर सकते—तो क्या इन दूर के साम्राज्यो से हम सस्कृति ला कर यहाँ विठा सकेंगे?—एक साम्राज्य जो काल के आयाम मे दूर है, और दूसरा जो देश के आयाम मे उतना ही दूर है! जिस देश मे हर कार्य के साथ शान्तिपाठ की परम्परा थी, और आज भी

ऐसे लोग कम नही है जो शान्ति की भावना को सहज ही आत्मसात् कर लेते है, उस देश मे नेतृत्व का दम भरने वाला एक व्यक्ति पूछे कि शान्ति किस चिड़िया का नाम है, और नये मियाँ खलील एक इस्पाती फाख्ता आप के सामने ला कर खडी कर दें कि 'इस चिड़िया का—हम जरा यह फाख्ता उड़ाते है और शान्ति के इस प्रतीक के लिए आप लड़ मरिये।'

विपयान्तर हो गया है, लेकिन वहुत नही, और सर्वथा अप्रासंगिक भी नही। फिर भी, 'शान्तं पापम्' कह कर अपने विषय पर लौट आवे।

तो, पत्रकार, सम्पादक, आलोचक की अप्रतिष्ठा का प्रमुख कारण यह है कि उस के पास मानदड नही है। यही हरिश्चन्द्रकालीन सम्पादक-पत्रकार—या उतनी दूर न जावें तो महावीरप्रसाद द्विवेदी का समकालीन भी—हम से अच्छा था। उस के पास मानदंड थे, नैतिक आधार थे और स्पष्ट नैतिक उद्देश्य भी। उन मे से अगर कोई ऐसे भी थे जिन के विचारो को हम दकियानूसी कहते, तो भी उन का सम्मान करने को हम वाध्य होते थे क्योकि स्पष्ट नैतिक आधार पा कर वे उन पर अमल भी करते थे—वे चरित्रवान् थे। आज—विचार-क्षेत्र मे हम अग्रगामी भी कहला लें, तो कर्म के नैतिक आधारो की अनुपस्थिति मे निजी रूप से हम चरित्र-हीन ही हैं और सम्मान के पात्र नही है···

इस सारे मसले को साधारण लेकिन समझदार हिन्दी पाठक के सामने रखने का यही कारण है। वास्तव मे परिस्थिति उतनी असाध्य नही है। क्योकि ऐसा नही है कि संस्कृति के नाम पर आज हमारे पास कुछ नही है और हमे कही न कही से कलम ला कर इस वजर मे लगानी है—और वंजर है इस लिए खाद, पानी और यहाँ तक कि हवा भी कही दूर से ला कर यहाँ जमानी है कि वह चालानी पौधा पनप सके। हमारे पास वहुत कुछ है जो आशा का आधार है, वल्कि हमारे पास जो कुछ है वही तो आशा का आधार है, और उसी मे से हमे नया आलोक, नयी गर्मी, नयी गति पानी है। और इस के लिए आवश्यक है कि हम जिस तरह अपने शरीर, अपने श्रम, अपने कार्य को आर्थिक दासता से वचाने या उवारने के लिए सतर्क रहते है, उसी तरह अपने मन, अपने चिन्तन, अपनी बुद्धि को वैचारिक दासता से वचाने और उवारने के लिए भी सतर्क और सन्नद्ध रहे। भारत मे वौद्धिक-सास्कृतिक स्वाधीनता की परम्परा रही, पर आज वह स्वाधीनता आक्रान्त है; और निरी परम्परा के सहारे वैठ रहने से काम

नही चलेगा क्योकि वह परम्परा और भी आक्रान्त है, और जो स्वय आक्रान्ता नही है उन मे से भी बहुतो से अवहेलना और उपेक्षा पाती है। सास्कृतिक आदान-प्रदान पर हमे रोक नही लगानी है; वैसा आदान-प्रदान किस संस्कृति मे नही हुआ और बिना उस के कौन सस्कृति बच सकी? भारत की सस्कृति तो है ही समन्वित सस्कृति: पहले आयात या कही-कही आरोप, फिर मिश्रण, फिर बाह्य प्रभाव को आत्मसात् करके उसी से अन्त.प्रेरणा की प्राप्ति, फिर उसी का प्रतिभा-प्रसूत नया प्रस्फुटन—बाहर के दाय से सस्कृतियो का सवर्द्धन बराबर इस तरह होता रहा है, और हमारी सभी कलाएँ ही क्यो, धर्म, आचार, दर्शन सभी—इसी प्रकार सवर्द्धित और परिवर्तित होते रहे है। लेकिन सस्कृति के विकास के लिए मानसिक स्वातन्त्र्य अनिवार्य है: अलग सोचने की, भिन्न प्रकार से सोचने की, प्रयोग करने, भूल कर के शिक्षा पाने, लीक छोड कर भटकने, शोध करने, असहमत होने, अपने क्षेत्र को प्रसृत या सकुचित करने, गहराई या ऊँचाई देने, बोलने और न बोलने की स्वाधीनता के बिना सास्कृतिक विकास नही है। आज जो आसन्न युद्ध-सकट के नाम पर कहा जाता है कि पहले शान्ति चाहिए, पीछे स्वतन्त्रता देखी जायेगी, वह स्थिति को विकृत रूप मे दिखाना है। शान्ति बनाम स्वतन्त्रता का धर्म-सकट महा-भारत की भी मूल समस्या थी, और धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर ने स्वतन्त्रता से ऊपर शान्ति को नही रखा था। इस द्वन्द्व को कवि 'दिनकर' ने एक नया अभिप्राय दे कर अपने काव्य 'कुरुक्षेत्र' मे उपस्थित किया है। युधिष्ठिर ने स्वतन्त्रता को तरजीह दी थी, इसीलिए हम भी दें, ऐसी लचर दलील की कोई जरूरत नही है। स्वतन्त्रता सहज ही शान्ति से अधिक मौलिक आवश्यकता है, क्योकि शान्ति के नाम पर स्वतन्त्रता की बलि देने से स्वतन्त्रता तो जाती ही है, शान्ति भी हाथ नही आती। नारो की ही बात करनी हो तो, 'पहले स्वतन्त्रता' बुरा नारा नही है वह स्वय भी प्राणवान् है और प्राण फूंकने की क्षमता रखता है।

कला के क्षेत्र मे भी स्वतन्त्रता की प्राथमिकता अपना विशेष अर्थ रखती है। मनुष्य का विवेक ही उसकी स्वतन्त्रता का आधार है, और स्वतन्त्रता को प्रथम मूल्य मानना वास्तव मे साहित्यालोचन को नि संग विवेक पर आधारित करना ही है। इस प्राथमिक मान की रक्षा, जिस से

और सब मान उद्‌भूत होते हैं, और सब मर्यादाएँ और प्रतिष्ठाएँ जन्म लेती हैं, हम सब का उत्तरदायित्व है।

आलोचना, साहित्य, हिन्दी—ये सब कोई भी आकाश पर नहीं टिके हैं; संस्कृति के ये अंग सांस्कृतिक स्वाधीनता के सहारे ही जी सकते हैं।

भारतीयता

भारत की आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवृत्ति की छाप नही, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीय को सारे ससार से पृथक् करता है। भारतीयता मानवीयता का निचोड है, उस की हृदय मणि है, उसका शिरमावतस है, उस के नाक का वेसर है···

आप कहते चले जाइये, सौ श्रोताओ मे से एक को—नही, आप को हजार श्रोता मिले तो हजार मे से एक को—छोडकर वाकी सब आप के शब्द गट-गट पी जायेंगे, एक हल्की-सी तन्द्रा, एक सुखालस पिनक-सी उन पर छा जावेगी। कितना अच्छा है यह सुनना कि भारतीयता मानवीयता के नाक का वेसर है, क्योकि नि.सन्देह भारतीयता के नाक का वेसर मैं स्वय हूँ···

तव वह जो सौ मे एक—या हज़ार मे एक—है, उसे पकड लीजिए! उसे इगित कर के वाकी सभा से कहिए; 'देखिए, यह आदमी शाश्वत भारतीयता को नहीं जानता-मानता ! अपनी संस्कृति से, मानवीयता के श्रेष्ठ दाय से, यह अपरिचित है, भारत की सनातन आत्मा से इस ने अपने को तोड लिया है···' सव लोग उस की ओर दया-भरी दृष्टि से देखने लगेंगे—अरे, विचारा, अभागा, अज्ञान-मोहान्धकार-ग्रस्त कही का ! और कुछ कदाचित् अवहेलना और हिकारत की दृष्टि से उसे देख कर मुँह फेर लेगे—कम्वख्त परम्परा-द्वेपी, परमुखापेक्षी; सदियो की गुलामी से इस की आत्मा गुलाम हो गयी है !

ठीक इस मौके पर आप मुड़ कर उन नौ सौ निन्नानवे श्रद्धालु आत्मरत श्रोताओ से वह प्रश्न पूछ वैठे जो उन्हे पहले ही आप से पूछना चाहिए था—कि भारतीयता आखिर है क्या? भारत की आत्मा का वैशिष्ट्य किस मे है ? तो वे अचकचा जावेगे। फिर खिसियानी-सी हँसी

हँस देंगे। हे-हे, यह भी भला कोई पूछने की बात है, आप तो मज़ाक़ करते हैं, भारत की आत्मा माने—हाँ-हाँ, सदियो से सब जानते हैं, भारत की आत्मा माने—भारत की आत्मा! हाँ-हाँ, वही तो।

हाँ, हाँ, वही तो! सदियो से सब जानते है तभी अब पूछने की कोई ज़रूरत नही है। लेकिन किसी भी सांस्कृतिक परम्परा से, किसी भी जाति की व्यक्तिगत और समूहगत रचनात्मक प्रवृत्तियो के समन्वय से उत्पन्न गति से लाभ उठाने के लिए, उसे नया जीवन देने के लिए, उस से अनुप्राणित हो कर आगे बढने के लिए, आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति यह प्रश्न पूछे, उस का उत्तर अपने में पावे, उस से जो भी गत्यात्मक प्रेरणा मिल सकती हो उसे आत्मसात् करे। क्योकि ऐतिहासिक परम्परा कोई पोटली बाँध कर रखा हुआ पाथेय नही है जिसे उठा कर हम चल निकलें। वह रस है जिसे हम बूँद-बूँद अपने मे संचय करते है—या नहीं करते, कोरे रह जाते हैं।

और प्रश्न पूछने की आवश्यकता का सब से बड़ा प्रमाण तो वह स्वीकारात्मक औदासीन्य ही है जो इस प्रश्न पर हमे मिलता है। उसे लक्ष्य करते हुए समकालीन भारतीय मानस की पडताल करे—और यहाँ भारतीय मानस से अभिप्राय केवल उस के इने-गिने मेधावियो का मानस नही, लोक-मानस है, प्राकृत जन का भी मानस है—तो हम कह सकते हैं कि भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, काल की भावना, काल के आदि-हीन अन्त-हीन प्रवाह की भावना—और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणि के नही, काल हम से, भारतीय जाति से, सम्बद्ध विशिष्ट और निजी क्षणो की सरणि के रूप मे। इस के प्रभावो की पडताल की जाये, इस से पहले इस की पृष्ठ-भूमि पर एक दृष्टि और दौड़ा ली जाये। कलियुग कितने वर्षों का होगा, यह शास्त्र बताते है। इसी प्रकार द्वापर, त्रेता और कृतयुगो की अवधियाँ है। यों तो इतना ही मानव काल-कल्पना की शक्ति से परे चला जाता है। लेकिन आगे जब हम जानते है कि यह ब्रह्मा का केवल एक पल है, और फिर हिसाब लगाते हैं कि ब्रह्मा का दिवस और वर्ष कैसा होगा—तब हम यथार्थता के क्षेत्र से बिलकुल परे चले जाते हैं। ऋषि-मुनि साठ हज़ार वर्ष तक तपस्या कर लेते थे। आज साठ वर्ष को मानवीय आयु की औसत मान कर उस से हज़ार-गुनी अवधि की कल्पना, ख़ैर, की भी जा सकती है, लेकिन देवताओं की आयु-गणना करने जाते ही फिर यथार्थता का आँचल छूट जाता

है। इस प्रकार सनातन के वोध तक पहुँचते-पहुँचते हम काल की यथार्थता का वोध खो देते हैं। सनातन की भावना लम्बी काल-परम्परा की भावना नही, काल की अयथार्थता की भावना है।

यो तो पश्चिम की युवा संस्कृतियो मे पले हुए लोग प्राय. पूर्व की प्राचीन सस्कृतियो की चर्चा करते हुए 'सस्कृति के भार' की चर्चा किया करते है—वहुत लम्वी सास्कृतिक परम्परा का एक वोझ उस परम्परा मे रहने वालो पर हो जाता है, जिस से वे समकालीन प्रत्येक प्रवृत्ति या घटना को सुदूर अतीत की कसौटी पर परखने लगते है; सामने न देख कर पीछे देखते है और एक प्रकार के नियतिवादी हो जाते है। भारत के वारे मे—और इसी प्रकार मिस्र आदि के वारे मे—पाश्चात्य अध्येताओ ने ऐसे विचार प्रकट किये है। लेकिन अगर कुछ सहस्र वर्षो की सास्कृतिक परम्परा का ही इतना वोझ हो सकता है, तो कल्पना कीजिए उस वोझ की, जो व्रह्मा के एक युग की उद्भावना करने से पडता होगा! यद्यपि यह हम कह चुके कि व्रह्मा का युग हमारी उद्भावना की पकड़ से वाहर की चीज़ है—वह काल्पनिक यथार्थता भी नही हो सकती।

'भारतीयता' का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकार की भावना। किसी हद तक यह पहली विशेषता का परिणाम ही है। हिन्दू देवताओं को छोड कर किसी के दिन और वर्ष इतने लम्वे नही होते। यो अमर तो सभी देवता होते है, लेकिन दूसरो के देवताओ के दिन-रात साधारण मानवीय दिन-रात ही होते है, और उन की जीवन-चर्या की कल्पना हमे अपने यथार्थ काल से परे नही ले जाती। लेकिन भारत के देवताओ के जीवन की कल्पना ऐहिक काल की भावना को मिटा कर ही की जाती है और जव हमारा काल ही यथार्थ नही रहता, तव उस काल में होने वाले व्यापार भी अयथार्थ हो जाते है। हमारे यथार्थ दु.ख-क्लेश, हमारी यथार्थ आशा-आकाक्षा, मानव के उद्योग-परिश्रम—मानवी व्यापार-मात्र अयथार्थ हो जाते है। और यथार्थता से इस स्खलन का प्रभाव मानवी सम्बन्धो पर भी पड़ता है: हमारे लिए हमारे पड़ोसी भी यथार्थ नही रहते, वल्कि किसी हद तक हम स्वयं ही अपने लिए यथार्थ नही रहते—क्योकि जिस व्रह्मा के एक निमिप-पात मे हमारे कल्पान्त विलीन हो जाते है, उस के सामने क्या है हमारा क्षुद्र जीवन—हमारी अपेक्षा मे एक रोग-कीटाणु का जीवन जितना नगण्य है, उस से भी तो अधिक नगण्य हम हो जाते है। और फिर व्रह्मा के 'निमिष-पात' की हम जव कल्पना करते है, तो व्रह्मा

की मानवाकार ही कल्पना करते है—अर्थात् एक कल्पित—या कल्पनातीत—अतिमानव ब्रह्मा के सामने यथार्थ ऐहिक मानव न कुछ के बराबर है। अपनी इस नगण्यता से ही स्वीकार की भावना उत्पन्न होती है—दु:ख के प्रति स्वीकार, दैन्य के प्रति स्वीकार, अत्याचार के प्रति स्वीकार, उत्पीड़न के प्रति स्वीकार—यहाँ तक कि दासता के प्रति स्वीकार, वह दासता दैहिक हो या मानसिक।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि 'भारतीयता' के मूल मे जो भावना या भावनाएँ है, उन से हमे मानवीय अस्तित्व की नगण्यता और जीवन के प्रति अवज्ञा का पाठ मिलता है। यह परिणाम चौकाने वाला है। लेकिन स्वीकारी सहज चौकता भी तो नही। और न चौकने के लिए उस के पास और भी सहारे है—इस अस्तित्व से परे परलोक के किसी चमकीले अस्तित्व का, और जीवन के प्रति अवज्ञा के उत्तर मे जीव-दया के भारतीय आदर्श का। लेकिन जिस तरह चिरन्तन काल की भावना ने हमारे यथार्थ काल के बोध को मिटाया है, उसी प्रकार व्यापक जीव-दया ने जीवित-व्यष्टि के प्रति करुणा को भी मिटा दिया है, जीवदयावादी जीव-मात्र के प्रति दया रखता हुआ किसी भी जीव—मानव या मानवेतर—का कष्ट मजे मे देखता चलता है!

मैं परम्परा-द्रोही नही हूँ, न भारत-द्वेषी ही हूँ। न ही मैं निराशावादी हूँ। और तात्कालिक लाभ या उपयोगिता या सफलता के नाम पर नैतिक मूल्यो की उपेक्षा मुझे कभी अभीष्ट नही रही—मेरा आग्रह सदैव अवसरवाद के विरुद्ध और नैतिक मूल्य की रक्षा का रहा है। मुझे यही कहना है कि भारतीयता का जो रूप हमारी तत्सम्बन्धी सहज स्वीकृति—हमारे सनातन स्वीकार!—मे लक्षित होता है, उस की मूल भावनाएँ—स्वयं जड हैं और जाड्य उत्पन्न करने वाली है, और उस से परिव्याप्त संस्कृति (मैं 'अनुप्राणित' कहने लगा था, पर अनुप्राणित तो तब हो जब प्राण हो, जडता से तो विजडित ही होगी!) गतिहीन, स्थितिशील और अगतिवादी या प्रगतिवादी ही होगी।

इस से यह परिणाम नही निकलता कि भारतीय सस्कृति अग्राह्य है, या कि भारतीय परम्परा त्याज्य है। परिणाम एक तो यह निकलता है कि उस के सम्बन्ध मे हमारी धारणाएँ भ्रान्त है और त्याज्य है। दूसरे यह भी परिणाम निकलता है कि जिसे हम भारत की आत्मा कहते है, वह

वास्तव मे आत्मा और अनात्म का, जीवित और जड का एक पुज है, जिस की परीक्षा की आवश्यकता है, परीक्षा कर के जड को अलग रख देना होगा—चाहे पुरातत्त्व संग्रहालय मे ही—और जीवित को आगे वढाना होगा। और आगे तीसरा परिणाम यह भी निकलता है कि आज वहुधा भारतीय सस्कृति के जड तत्त्वो को ही भारतीयता माना जाता है। कुछ लोग भारतीयता के समर्थन के नाम पर निरी जडता का समर्थन करते है; कुछ दूसरे जडता के विरोध के नाम पर सस्कृति से ही इनकार करना चाहते है।

हमे चाहिए वह वेलाग, सचेत, स्वाधीन जिज्ञासा जो परिवृति मे घिरी हुई भी आगे देखे। जो अपने देश मे रह कर भी आगे देखे; आगे दूसरे देशो को नही, हम से आरम्भ होने वाली आगे की दिशा को, आगे को। जो अपने काल मे रह कर भी आगे देखे, न इधर अनादि को, न उधर अनन्त को, वरन् हम से आगे के उस काल को जो हमारे काल से प्रसूत है और जिस के हम स्रष्टा है। वह अपरिबद्ध जिज्ञासा भारतीयता है कि नही, इस पर विद्वान् लोग वहस कर सकते है; मैं असन्दिग्ध भाव से इतना जानता हूँ और कहना चाहता हूँ कि वह भारतीयता को कल्याण-कर बना सकती है।

नये लेखक की समस्याएँ

नये साहित्य मे नये लेखक और पाठक दोनों को रुचि होना स्वाभाविक है। पर आज जब हम नये साहित्य की वात करते है, क्या सचमुच नया साहित्य ही हमारे ध्यान मे होता है—वह साहित्य जो आज इस समय लिखा जा रहा है, या कल लिखा जावेगा ? या कि आज नये साहित्य की चर्चा करते समय भी हमारी दृष्टि वास्तव मे आज से वीस-पचीस वर्ष पहले के साहित्य पर ही जमी होती है ? (हमारी यानी समकालीन साहित्य मे रुचि रखने वाले की, उन प्राध्यापकों की नही जो भारतेन्दु से इधर देख ही नही सकते !)

नये साहित्य, नये साहित्यकार की समस्याओं पर विचार करने के लिए सव से पहले इसी स्थिति का सामना हमें करना चाहिए। क्योकि अगर हमारे सामने नया साहित्यकार ही यथार्थ नही है तो उस की समस्याएँ कैसे यथार्थ हो सकती हैं ?

आज के हिन्दी-साहित्य क्षितिज की तुलना सन् पैंतीस के क्षितिज से करें तो यह वात स्पष्ट हो जावेगी। 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, सुदर्शन—ये उस समय के वुजुर्ग थे; 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी—ये उभर कर सामने आ गये थे और इन के कृतित्व मे हिन्दी की उज्ज्वल सम्भावनाएँ स्पष्ट दीख रही थी। और इन के पीछे—विना किसी अन्तराल के—अनेक समर्थ और प्रतिभाशाली नये लेखक आ रहे थे; जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, 'वच्चन', 'दिनकर'—और भी अनेक नाम गिनाये जा सकते है, पर यहाँ पर गणना हमारा उद्देश्य नही है। कहने का अभिप्राय यह कि साहित्यिक जीवन का प्रत्येक स्तर गतियुक्त था, ऊपर से नीचे तक एक अटूट प्रवहमानता लक्षित होती थी; साहित्यकार आशा और उत्साह से आगे वढ़ रहा था, और नये तथा

पुराने साहित्यकार के बीच सम्पर्क और सहानुभूति का एक सूत्र भी था। और आज ? उस दिन के उठते हुए साहित्यकार आज के प्रतिष्ठित लेखक है. पर उन के आगे ? सन् १९३५ के बुजुर्गों के बाद हम जिन के नाम लेते थे आज भी उन्ही के नाम लेते है यद्यपि बाद वाले भी बुजुर्ग हो गये है· और उन के आगे जब नये नामो की बात होती है तो चुप रह जाते है, या अचकचा कर एक-दूसरे की ओर देखते है, या कोई युवतर लेखको के नाम लेने का उपक्रम करता है तो मुँह बिचका देते है··

तो क्या हिन्दी साहित्य खत्म हो गया ? क्या उस की सम्भावनाएँ चुक गयी ? क्या निराशा के सिवा हमारे पास देने को और नयी पीढी के लिए पाने को और कुछ नही रहा ? या कि साहित्य मे नयी पीढी ही अब नही होगी ?

लेकिन तब और अब की तुलना को कुछ और बढावें। कदाचित् उसी मे से इस विषम स्थिति के कारण हमे मिल सकें, और उस के सुधार के लिए कुछ प्रकाश।

सन् तीस-पैंतीस का युवक अपने बुजुर्गों की पीढी से ईर्ष्या नही करता था: ईर्ष्या की उसे जरूरत नही थी। उस के मन मे यह बोध स्पन्दित होता रहता था कि आगे शीघ्र ही कुछ बहुत बडा होने वाला है, जिसमे वह भाग लेगा; उस का जीवन बराबर आशा और अनागत के आह्वान से भरा था। लेकिन आज का युवक जानता है कि पीछे कुछ ही पहले बडी-बडी बाते हो चुकी है. और जब वह अपनी पूर्ववर्ती पीढी की ओर देखता है तो कुछ इस भाव से कि उन महान् घटनाओ मे इन लोगो ने भाग लिया था। इस से वह यह भी अनुभव करता है कि वह उन घटनाओ से अलग है, उच्छिन्न है, और पिछली पीढी के प्रति एक ईर्ष्या भी उस मे भर जाती है। 'वैसी घटनाएँ अब फिर नही होगी'—बहादुरशाह और सन् सत्तावन के बाद से इस शती के दूसरे-तीसरे दशक तक उर्दू पर जैसा प्रत्यवलोकी नशा छाया रहा था, जिस का मुख्य लक्षण था गिरती बादशाही और नवाबो के दिनो का स्मरण कर के स्वयं अपने पर अपनी करुणा को चुका देना, उसे ध्यान मे रखे तो आज के युवा लेखक का उच्छिन्न भाव समझ मे आ सकता है। कुछ तो जिन घटनाओ की बात वह सोचता है वे इतनी विराट् और अद्वितीय रही कि उस का यह मान लेना स्वाभाविक है कि वे दुबारा न होगी और इसलिए वह वंचित ही रह गया; पर उच्छिन्न अनुभव करने का एक दूसरा कारण भी है। वह है

पिछली पीढ़ी और इस पीढ़ी के व्यक्ति के अपने समाज से सम्बन्ध मे परिवर्तन । सम्पन्न होना आवश्यक नही है, न वर्ग-स्वार्थो से आत्मसात् होना ही आवश्यक है; लेकिन अभिजात साहित्यकारो मे एक सहज आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव की भावना होती थी जो उन के लेखन मे भी अभिव्यक्त होती थी और उसे एक शालीनता देती थी । उदाहरणतया जवाहरलाल नेहरू के लेखन मे वह शालीनता रही; जब वह विद्रोह और विप्लव की बात कहते थे तब भी उस के मूल मे यह भावना रहती थी कि वह स्वय उच्छिन्न नही है, कि समाज मे उन की गहरी जड़े और समाज के गठन मे, उस के स्थायित्व मे, उन का स्थान है । अभिजात साहित्यकार शासन-प्रिय न हो, व्यवस्था-विरोधी भी भले ही हो, अधिकार के लम्बे अभ्यास का वातावरण उसे एक गुरुता और आत्म-विश्वास देता था । यही बात एक दूसरे रूप मे और दूसरे स्तर पर मैथिलीशरण गुप्त मे देखी जा सकती है । वह भी समाज से 'उखडे हुए' नही है, न कभी वैसा अपने को समझते रहे । उन के व्यक्ति जीवन की जड़े भी समाज मे बहुत गहरे तक रही, और परम्परा सम्पृक्त होने का यह बोध बराबर उन रचनाओ मे स्पन्दित होता रहा । और जड़ों का, 'स्थापित' होने का यह सजग बोध, न केवल आत्म-विश्वास देता है बल्कि स्वाधीन भी करता है । ऐसा साहित्यकार तात्कालिक परिस्थिति से और दैनन्दिन परिवर्तनो से ही शासित न हो कर एक स्वतन्त्र, असम्पृक्त विवेक बनाये रख सकता है ।

इस के विपरीत आज का साहित्यकार अनुभव करता है कि उस की कही जडे नही हैं, वह उच्छिन्न और अनाधार है; और इस प्रकार वह तात्कालिक परिस्थिति का खिलौना बन जाता है । ऐसा न होता, तो साहित्य मे ऐसी स्थिति की कल्पना भी असम्भव थी जिस मे निकट या दूर, देश या विदेश मे कही कोई घटना होते ही सारा साहित्यिक कृतित्व मानो बटन दबा कर उधर मोड दिया जाये । (यह नही कि हिन्दी मे ऐसा हो गया है, और शायद कभी हो भी नहीं; पर ऐसे दल है जो मानते है कि ऐसा होना चाहिए, जो यह स्थिति लाना चाहते है और बाहर नहीं तो अपने दल के इने-गिने 'साहित्यिक' पत्रो मे ऐसा अभ्यास भी करते है ।)

यह 'निर्गृहता या निर्मूलता' नये लेखक की पहली समस्या है । यों अगर यह परिस्थिति-जन्य तथ्य है तो इस का यह इलाज बताना तो व्यर्थ होगा कि 'जड़े होनी चाहिए'; पर इस स्थिति के जो खतरे हैं; उन से

सतर्क कर देना लाभकर हो सकता है। खतरे दो दिशाओं मे हैं। एक का इंगित हम ऊपर कर चुके : नया साहित्यकार अपने को तात्कालिक परिस्थिति के प्रति समर्पित कर दे सकता है। युग-धर्म के नाम पर क्षण-धर्मी हो कर एक खतरनाक किस्म का अवसरवादी हो जा सकता है और अपनी चिन्तन की स्वाधीनता खो दे सकता है। दूसरा खतरा दूसरी दिशा में है। वह अतीतोन्मुख हो कर फिर एक बीती हुई परिस्थिति को लाना चाह सकता है, एक रूमानी लालसा उसे रूढ़िवादी ही नही बल्कि प्रति-क्रियावादी बना दे सकती है। पहला खतरा एक प्रकार का आत्म-समर्पण है, दूसरा एक दूसरे प्रकार का। अन्त दोनो का है व्यक्तित्व की पराजय और मानसिक दासत्व।

[२]

एक और दृष्टि से भी यह तुलना उपादेय है। सन् तीस-पैंतीस का साहित्यकार—यहाँ हम उस समय के बुजुर्ग की बात नही, उस समय के युवक साहित्यकार की बात कह रहे हैं—विद्रोही और परिवर्तनकामी था, पर अपने प्रति उत्तरदायी रहते हुए। वह मानता था कि सामाजिक-राजनीतिक घटनाओ मे व्यक्ति का हस्तक्षेप उन घटनाओ की दिशा को प्रभावित कर सकता है, और उसे वैसा करना चाहिए। यह 'चाहिए' की भावना नैतिक भावना थी, और नैतिकता का आधार व्यक्ति-धर्म था। उदाहरणतया युद्धारम्भ के बाद जो 'फासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन' दिल्ली मे हुआ था, वह प्रगतिवादियो का सम्मेलन नही था, न प्रगतिवादी दल की प्रेरणा से ही हुआ था। प्रगतिवादियों ने भी उस मे भाग लिया था अवश्य; और उस के दौरान मे 'प्रगतिशील लेखक संघ' का एक अलग खंड-सम्मेलन भी किया था जिस मे सदस्येतर लोग नही बुलाये गये थे; पर 'फासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन' मूलतः ऐसे ही व्यक्तियो का सम्मेलन था जो एक नैतिक प्रश्न पर तटस्थ न रह कर अपनी नैतिक सहानुभूति स्पष्ट प्रकट करना चाहते थे—एक राजनीतिक दल या संगठन के रूप मे नही बल्कि स्वाधीन चिन्तकों के रूप मे।

लेकिन आज का युवक लेखक इस अर्थ में उत्तरदायी नही है—यानी वह अपने प्रति उत्तरदायी नही है और उस की दायित्व-भावना का आधार नैतिक नही है। आज या तो वह किसी दल का सदस्य है और दल के

प्रति उत्तरदायी है, और यह दायित्व नैतिक नही, राजनीतिक है—जहाँ उस का अपना विवेक दल की नीति से मेल नही खाता वहाँ दल को नहीं, विवेक को छोड़ना ही सुसदस्यता है ! या फिर, यह अनुभव कर के, और ठीक अनुभव कर के, कि विवेक का ऐसा उत्सर्ग एक मानसिक दासता होगी, वह दलो से तो अलग रहता है पर अपनी अकिंचनता से किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। सत्ता-लोलुप, सत्ता-पूजक दलों मे वँटे हुए जगत् मे वह इस विश्वास को वनाये नही रख पाता कि उस की नैतिक मान्यताएँ सामाजिक-राजनीतिक जीवन को प्रभावित कर सकती है । वह देखता है कि एक ओर किसी दल का पक्ष लेने का मतलव है व्यक्तित्व खो कर लय हो जाना, अर्थात् एक नैतिक इकाई के रूप मे अपनी सत्ता खो देना, तो दूसरी ओर स्वतन्त्र रहना चाहने का मतलव है अकिंचन हो जाना, न कुछ हो जाना, और जो न-कुछ है उस की नैतिक भावना भला विश्व-शक्तियों पर क्या प्रभाव डालेगी ? इस प्रकार नि.सहायता की एक भावना से वह राजनीति को आत्म-समर्पण कर देता है और वह जाता है । यह उसी आधार-हीनता का दूसरा पहलू है । आज के लेखक की स्थिति पुरानी पीढी की ही नहीं, वीच की पीढी की अपेक्षा मे भी जटिलतर है ।

[२]

पुरानी पीढियो की करुणा की जड़ मे जीव-दया की भावना थी । वीच की पीढ़ी ने दया को एक नये रूप मे देखा : एक सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप मे; उस की करुणा सामाजिक चेतना के रूप में प्रकट हुई। दोनो विश्व-युद्धों के वीच का अन्तराल इस रूपान्तर का काल है : मानवीय करुणा के सामाजिक चेतना में परिर्वातित होने का काल । गरीव को सहानुभूति दी जाने लगी, इसलिए नही कि वह गरीव है वरन् इसलिए कि वह सामाजिक उत्पीड़न का शिकार है । इस काल का समूचा लेखन एक नये प्रकार की सजग करुणा का लेखन है । और वह करुणा उस व्यक्ति या समाज के प्रति अकरुण भी रही जो ग़रीवी के सामाजिक पहलू को नही देखता रहा ।

एक ओर मानवी करुणा सामाजिक चेतना वनी, तो दूसरी ओर वह एक नये अर्थ मे मानवीय हुई—क्योंकि वह मानव पर केन्द्रित हुई । जीव-दया के आदर्श मे मानव और मानवेतर का भेद प्रखर रूप से सामने आया

और उत्पीडित मानव की सहायता तथा बन्दरो-चीटियो को आटा खिलाने में न केवल एक मौलिक गुणात्मक भेद देखा गया वल्कि एक विरोध भी : दूसरे से पहला न केवल वेहतर था, वल्कि दूसरा अपराध था क्योकि वह पहले मे वाधक था।

यहाँ तक तो, खैर, ठीक है। लेकिन आज फिर एक नयी स्थिति सामने है। केवल गरीव ही उत्पीडित नही है · केवल गरीव ही सहानुभूति का पात्र नही है। आज वल्कि वह निम्न मध्यवर्ग ही, जिसे हमे उत्पीडको का गुरगा मानना सिखाया जा रहा था, अधिक उत्पीडित और सहानुभूति का पात्र है। (नि·सन्देह विघटित होते हुए अभिजातवर्ग मे भी करुणा के पात्र होगे, पर उन की वात हम नही कहते क्योकि समूचे वर्ग के वारे मे ऐसी साधारण स्थापना नही की जा सकती।) आज सन् तीस-पैंतीस का लेखन एक नये रूप मे दीखता है, और अचरज पैदा करता है। और उस समय का गम्भीर मानवीय सत्य आज एक पार्टी का नारा मात्र रह गया है, आज का गम्भीर मानवीय सत्य उस मे नही समा रहा है, कोई भले ही अपने नारो से अपने को ही ऐसा चकरा ले कि आगे कुछ सोच न सके।

यह एक और प्रश्न है जिस का उत्तर नयी पीढी के साहित्यकार को पाना है। वह अपनी करुणा किस को दे ? गरीव के वर्ग को, जो गरीव तो है ही ? या निम्न मध्यवर्ग को, जो गरीव से किसी तरह कम कष्ट मे नही है ? या कि समूची मानवता को वह करुणा का पात्र मान ले— जो स्वय एक खतरनाक सिद्धान्त हो सकता है ? या फिर वह मानवता के प्रतीक स्वय अपने को ही करुणा का परम पात्र मान ले—जो कि पराजय की इति है।

वीच की पीढी एक प्रश्न को ले कर बहुत चर्चा करती थी : **'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?'** आज यह प्रश्न कोई नही पूछता। न उसे उठाया ही जा सकता है। इसलिए नही कि 'कस्मै' का अन्तिम उत्तर हम ने पा लिया है . इसलिए कि वाकी का पद निरर्थक हो गया है। 'देवाय' का कोई प्रश्न ही नही; 'हविष्'—क्या हमारा नैतिक चिन्तन अधिक मूल्यवान् है, या हमारा राजनीतिक कर्म ? 'विधेम'—जव हमारा कर्ता होना ही सन्दिग्ध है तो हम उत्तम पुरुष मे वात ही क्यो करें, दल का जो विधेय हो।

नये लेखक के स्वाधीन विकास मे स्थिति की वाधाएँ और भी हैं। पिछले चालीस-पचास वर्षों मे कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ आरम्भ हुई और वन्द हुईं। सव 'दरिद्राणां मनोरथा.' नही थीं, लेकिन विलीन सब हो गयी; अगर एक-आध पत्रिका बची तो इसी लिए कि 'साहित्यिक' विशेपण का मोह उस ने छोड़ दिया। फिर भी, कुछ वर्ष पहले तक वरावर नये पत्र आते रहे, चाहे दो-चार अंको के वाद ही वन्द हो जाने के लिए! सर्जनोत्कण्ठा वरावर वनी रही। साहित्यिक पत्र-जगत् की अवस्था उतनी हीन कभी नही थी जितनी वह आज है। आज जो दो-एक साहित्यिक पत्र निकलते है, उन के निकलते रहने का रहस्य ढूँढने चलें तो कदाचित् प्रत्येक के पीछे किसी एक आदर्शवादी की हठधर्मी से अच्छा कोई कारण न मिल सकेगा—कम से कम यह तो कोई न कह सकेगा कि उस के ग्राहक इतने है कि वह आर्थिक दृष्टि से सफल है! ऐसी स्थिति में नये लेखक के लिए लेखन-जीवी हो सकना तो लगभग असम्भव है। यह नही कि पहले स्वतन्त्र लेखन-जीवियों की संख्या बहुत अधिक रही, पर अव स्थिति और भी विकट हो गयी है। पत्र-पत्रिकाओ की अनुपस्थिति मे लेखको का सामने आना भी कठिन है, जो प्रतिष्ठित है उन की वात छोड दे तो नयी प्रतिष्ठाएँ वनना कही कठिन हो गया है, क्योंकि उस के लिए चर्चा, समीक्षाये, वाद-विवाद इत्यादि आवश्यक है और पत्र-पत्रिकाओ की अनुपस्थिति मे ये सव भी नही हो सकते। दलो के छोटे-मोटे स्थानीय पत्र अपने लाख उपयोग के वावजूद इस कमी को पूरा नही करते। रेडियो पर समीक्षा होती है, लेकिन एक तो उन का साधारण स्तर अखवारो के रविवारीय क्रोड़पत्रो की आलोचना से ऊँचा नही होता; कुछ इसलिए और कुछ निरी वार्ता होने के कारण कोई उन पर ध्यान नही देता; दूसरे रेडियो पर भी प्राय. प्रतिष्ठित लेखको की रचनाओं की ही चर्चा होती है। रेडियो नयी प्रतिष्ठाएँ नही वनाता, नयी प्रतिभा सामने नहीं लाता, केवल प्रतिष्ठित प्रतिभाओं का दोहन या शोषण करता है। हमारी धारणा है कि यह वात भारतीय रेडियो के समूचे इतिहास के वारे मे निरपवाद सत्य के रूप में कही जा सकती है।

ऐसी स्थिति मे नये लेखक के आगे मार्ग क्या है? शिक्षण, पत्रकारिता

और सिनेमा के व्यवसाय, रेडियो, प्रकाशन और प्रचार के सरकारी विभागों की नौकरियाँ, सरकारी पत्रो का सम्पादन—ये ही मार्ग उस के सामने खुले रह जाते है। थोडी-बहुत सम्भावना कूटनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र मे हो सकती है—विदेशी दूतावासो के प्रचार-प्रसार विभागों मे। स्वच्छन्द रहना बहुत कठिन हो गया है और क्रमश: कठिनतर होता जाता है क्योकि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी इतनी महँगी हो गयी है। यह संकट भारत मे ही नही, सर्वत्र यही प्रश्न है। इंग्लैड मे भी लेखक अधिकाधिक सरकारी नौकर होते जाते है, अमेरिका मे बहुत-से लेखक 'लेखन-शिक्षक' भी हो जाते है पर इस एक नये व्यवसाय की सम्भावना से बहुत अधिक अन्तर नही पडता। रूस मे तो सभी लेखक अनिवार्यतया सरकारी कर्मचारी हैं ही, नही तो प्रकाश मे ही नही आ सकते। इस प्रकार सर्वत्र साहित्यकार का 'सरकारीकरण' हो रहा है, और इस का प्रभाव उस के मानसिक विकास पर होना स्वाभाविक है। वह क्रमश. अधिक आसानी से अपने को स्वाधीन व्यक्ति के रूप मे नही, एक सस्था के कर्मचारी के रूप मे देखता है। जिस प्रकार दलनिष्ठा उस के स्वतन्त्र विवेक को सीमित करती है, उसी प्रकार सस्था-निष्ठा भी। किस लेखक ने नही अनुभव किया होगा कि कल का स्वाधीन साहित्य-स्रष्टा आज का रेडियो-कर्मचारी या प्रकाशक का सलाहकार बन कर, अपनी सस्था के दृष्टिकोण को सम्पूर्णतया अपना कर, आज उस के पास कोई ऐसा प्रस्ताव ले कर आया है जिसे कल वह स्वयं अग्राह्य मानता था! सन् तीस-पैंतीस का साहित्यकार विद्रोह मे भी अपने प्रति उत्तरदायी था, आज का सस्थानिष्ठ साहित्यजीवी ऐसे नैतिक दायित्वो के बगैर भी मज़े मे चल सकता है। (बल्कि उन के बगैर ही मज़े मे चल सकता है, उन को मानने मे तो मज़ा किरकिरा हो जायेगा!)

[५]

चित्र नि.सन्देह काफी अँधेरा है। लेकिन निराशाजनक नही। मैंने समस्या को उघाड कर सामने रख दिया है, उस का हल तो नये लेखक को ही खोजना होगा। वह मेरा काम नही है। ऐसा इस लिए नहीं कि मुझे उस की समस्या से सहानुभूति नही, वरन् इसलिए कि मैं जो भी कहूँ, वह 'बाहर' से मिली हुई सलाह ही हो सकती है, और समाधान 'भीतर'

से होना चाहिए। सलाह के तौर पर अपने अनुभव की दो-तीन बातें मैं कह सकता हूँ। एक तो यह, कि समस्या को आँख मिला कर देख लेना भी उपयोगी है। उस में समाधान की जो माँग है, वही समाधान उत्पन्न करेगी। दूसरे यह, कि समस्या का रूप नया और जटिलतर होते हुए भी मूलतः समस्या वही है : एक स्वाधीन व्यक्तित्व का निर्माण, विकास और रक्षण। लेखक को वह स्थिति और वातावरण खोजना और गढना है जिस मे स्वाधीन व्यक्तित्व पनप सके, उन साधनो को पाना और बनाना है जिन के द्वारा वह व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो सके। उसे न समष्टि मे विलीन हो जाना है, न निरे स्वच्छन्दतावाद में पलायित होना है; न सर्वसत्तावान स्वीकार करना है, न सम्पूर्ण अराजकता। वह उत्तरदायित्व-मुक्त नही है। पर उस का उत्तरदायित्व न तो अधिकार की अभ्यस्त पुरानी पीढी का अपने अधिकार के प्रति उत्तरदायित्व है, न परिवर्तन-कामी बीच की पीढी का अपने प्रति उत्तरदायित्व। उस का उत्तरदायित्व है स्वाधीन विवेक के प्रति—यद्यपि मै इस की कठिनाइयाँ ही गिनाता आया हूँ! लेकिन अगर वही एक रास्ता है, तो उस की कठिनता या दुर्गमता भी ऐसी बाधा नही हो सकती जिसे उलाँघ न सके। 'नान्यः पन्था विद्यते?'—'शुभास्ते पन्थानः!'

परम्परा, प्रभाव, प्रक्रिया[1]

(क) हिन्दी और आधुनिकता

आधुनिकता के लोगो ने अलग-अलग अनेक अर्थ किये है। मेरी दृष्टि मे आधुनिकता एक अनगढ चीज है। वह एक सिद्ध स्थिति नही, एक प्रक्रिया है। सस्कारवान् होने की क्रिया को ही मैं आधुनिकता मानता हूँ। जो संस्कारी हो चुका है और अब स्थिर है वह मेरी दृष्टि मे आधुनिक नही है।

आधुनिकता की दृष्टि मे सब से पहले मैं हिन्दी भाषा पर विचार करना चाहूँगा, क्यो कि यह आज का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मेरी दृष्टि मे हिन्दी सदा से आधुनिक रही है। सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सारा क्षेत्र हिन्दी का है चाहे आज उनके दोनो छोर देश से बाहर चले गये हैं। यह देश भाषाओ और सस्कृतियो के सगमो का देश है। हिन्दी उन सगमो से ही विकसित हुई है। अतः वह सगमो की भाषा है, विद्रोहो की भाषा है। इसी भाषा ने सारे देश मे भारतीय सस्कृति को बनाये रखा, भारतीयता के बोध को जीवित रखा। युद्ध होते रहे, फिर भी भारतीय सस्कृति नाम की एक चीज़ आगे बढती रही। हिन्दी उस की भाषा रही। हिन्दी प्रदेश से प्रवृत्तियाँ उठी और सारे देश मे फैली। दूसरे भाषा-क्षेत्रो मे भी जो प्रसारणीय हुआ वह हिन्दी मे आया और हिन्दी से छन कर वितरित हुआ। किसी दूसरी भाषा ने यह काम नही किया। हिन्दी अब भी यह कार्य कर रही है। १९वी सदी से पहले हम हिन्दी के माध्यम से ही भारतीयता को पहचानते थे। आज़ादी की आकाक्षा

1 राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा बीकानेर में आयोजित उपनिषद् में उठाये गए कुछ प्रश्नो पर टिप्पणियाँ।

इसी भाषा के माध्यम से विकसित हुई—बांग्ला, में उस के उदय के बावजूद। राजधानी के रूप मे कलकत्ता की प्रतिष्ठा के कारण स्थिति थोड़ा बदली। पश्चिम के प्रभाव राजधानी कलकत्ता और मुख्य सागर-व्यापार-केन्द्र बम्बई से आते रहने के कारण भारतीय सांस्कृतिक चेतना का एक उत्स 'मध्य देश' न रहकर दिल्ली-कलकत्ता-बम्बई का त्रिकोण बना। पर हिन्दी फिर राष्ट्रीयता के स्वर की मुख्य वाहिका बनी; उठते हुए देशव्यापी आन्दोलन की भाषा बनी। यह भाषा खड़ी बोली थी अर्थात् सस्कारी बनने के लिए निरन्तर सचेष्ट हिन्दी। (अच्छी सस्कारी हिन्दी बोलने वाले पहले भी कम थे और आज भी कम है।) इस प्रकार हिन्दी विकासमान सस्कारों और पनपते विद्रोहो की भाषा रही है। यह किसी क्षेत्र की साम्प्रदायिक भाषा नहीं रही। कभी आगरा-मथुरा को, कभी कलकत्ता-बम्बई को और कभी दिल्ली को केन्द्र बना कर वह सारे देश के सस्कारो और परिवर्तनो का नेतृत्व करती रही है। आधुनिकता का संस्कार सदा इसके साथ रहा है।

आधुनिकता के साथ हिन्दी को जोड़े रखने के लिए काशी ने उस के उत्तरदायित्व को जब पहचाना तो वहाँ से उस का नये सिरे से उदय हुआ। खड़ी बोली हिन्दी काशी की भाषा नही थी, पर काशी मे भारतीयता की जो चेतना जाग रही थी उस की वाहिका यही हो सकती थी। इसी से आधुनिकता की नयी चेतना उस मे आयी। अब भी वह उस चेतना को वहन कर रही है। मैं इसी अर्थ मे उसे आधुनिकता का गौरव और राष्ट्र-भाषा की प्रतिष्ठा देना चाहता हूँ।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए कानून का आश्रय मैं ज़रूरी नही मानता। हिन्दी कभी क़ानून से आगे नही बढेगी। इस मे आधुनिकता और भारतीयता के जो सस्कार हैं वे ही इसे आगे बढ़ायेंगे। आज राष्ट्र-भाषा पर ज़ोर देने की उतनी आवश्यकता नही है जितनी ज़रूरत एक लिपि पर ज़ोर देने की है। अगर आज देवनागरी लिपि को सारा देश स्वीकार कर ले तो हिन्दी की व्यापकता स्वत. स्वीकार कर ली जायेगी। हिन्दी का यह परम्परागत उत्तरदायित्व है कि वह जिस अर्थ मे आधुनिक थी, उसी अर्थ में आधुनिक बनी रहे। उसे निरन्तर संस्कारवान् होते रहने की अपनी प्रवृत्ति को नही त्यागना है। यदि वह ऐसा करती रही तो कोई भी शक्ति उस का मार्ग अवरुद्ध नही कर सकती।

(ख) आधुनिक काव्य-बोध

अब यह बताना आवश्यक नही रह गया कि हिन्दी मे आज जो काव्य लिखा जा रहा है, उस मे और पहले जो काव्य लिखा जा चुका है उस मे बहुत अन्तर है। यहाँ प्रश्न अच्छे या बुरे का नही होना चाहिए। आज हिन्दी मे तथा देश की अन्य भाषाओ मे भी जो कुछ लिखा जा रहा है उस पर पश्चिम का पर्याप्त प्रभाव है। प्रभाव हमेशा रहे है, हम सदा बाहरी प्रभावो को ग्रहण करते रहे है। किन्तु प्रभाव का अर्थ नक़ल नही है। हम बाहरी सम्बन्ध व प्रभाव को न चाहे किन्तु रोक नही सकते। पश्चिम हमारे साथ है और रहेगा। जो साथ है, उस का प्रभाव अवश्य आयेगा। उसे हम ग्रहण भी करेंगे—क्यो न करे? पर नकल नही करेगे। या जो नकल होगी उस का तिरस्कार करेगे।—प्रभाव का एक पहलू और है। हमारी परम्परा मे बहुत-सी चीज़े ऐसी है जो हमारी थी, हमारी है, पर जिन्हे हम भूल गये थे। पश्चिम के सम्बन्ध मे हमे उन का स्मरण हुआ और हमे बोध हुआ कि वे हमारे पास पहले से चली आ रही है यद्यपि हमारे ध्यान से उतर गयी थी। उदाहरणार्थ बुद्ध हमारे थे; उन की देन सदियो से हमारी थी। पर हम उसे भूल-से गये थे। जब हमे याद दिलायी गयी कि हम से पूर्व के देशो के बौद्ध और हम भाई-भाई है, तब हमे अपनी सस्कृति के विस्तार का बोध हुआ और उस के माध्यम से हम ने आधुनिकता का एक और अध्याय पार किया। एक अन्य उदाहरण कालिदास का है। कालिदास को हम भूले कभी नही; बराबर पढते रहे, पर उन गुणो को नही देखते रहे जिन की ओर पश्चिम की आलोचना के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ। पश्चिम का पाठक जब कालिदास से परिचित हुआ, उन के ग्रन्थो के अनुवाद वहाँ पहुँचे और उन की चर्चा वहाँ हुई, तब वहाँ से कालिदास का और उन के माध्यम से भारतीय सस्कृति का एक नया ही रूप स्वयं हमारे सामने आया। यह भी हुआ कि पश्चिम ने गलत समझ कर गलत प्रभाव ग्रहण किया, पर समझ ही गलत होती है, या अन्धी नकल गलत होती है; प्रभाव भिन्न होने से ही 'गलत' नही होते—केवल ग्रहण करने वाले की भिन्न प्रतिभा या सस्कार का सकेत करते है। पश्चिम मे अमरुक, कालिदास और उपनिषदो की खिचडी का प्रभाव दीखा—रोमाटिक आन्दोलन मे। समझ गलत रही हो, परिणाम मे इतना दम था कि हम फिर उस से प्रभावित हुए। बल्कि यूरोपीय रोमाटिको को पढने के बाद हम ने

कालिदास को फिर पढा तो उन्हें एक नये रूप मे पहचाना; और फिर पश्चिम का रोमाटिक आन्दोलन हमे एक नये ढंग से अपना-सा लगा। एक नये ढंग से ग्रीक मूर्तिकला के परिचय से हमारी गान्धार शैली मे जो विशेषताएँ प्रकट हुईं, वे यूनानियों के लिए उतनी ही अकल्पित रही होगी। पूर्व और पश्चिम के सम्बन्धो और प्रभावों का प्रतिफलन दोनो पक्षो के लिए अप्रत्याशित और हितकर भी रहा है—जैसे दोनो तरफ निरी नकल भी होती रही है।

पश्चिम से हम प्रभावित ही नही हुए हम ने उन्हें प्रभावित भी किया है। प्रतीकवाद और विम्ववाद के यूरोपीय आन्दोलनों के मूल स्रोतो का अध्ययन इस का पूरा प्रमाण दे सकता है। हमारे जिस काव्य मे वहुत-से अध्यापक आलोचको की सिर्फ 'पश्चिम की नकल' दीखती है, अनूदित हो कर वह पश्चिम मे अपनी 'ताज़गी' के लिए सम्मान पाता है!

काव्य-वोध से आधुनिकता का सम्वन्ध इस सन्दर्भ मे सरलता से समझा जा सकता है। आधुनिकता और भारतीयता मे कोई वुनियादी विरोध नही है; आधुनिक होने का अर्थ यह नही है कि हम भारतीय विल्कुल न रहे और पश्चिम की नकल करे। हम विश्व मे और भारत मे वदलती हुई परिस्थिति को पहचाने; तटस्थ हो कर नयी स्थिति की छाप ग्रहण करे—मिटे नही, नये सस्कारी हो। अगर यह नही होता तो हम आधुनिक नही हैं।

(ग) अच्छी नयी कविता और भाषा की संकरता

आज जो कविता हिन्दी मे लिखी जा रही है, उस के विषय मे दो प्रश्न अधिक उठाये जाते हैं। पहला प्रश्न है: 'अच्छी नयी कविता की पहचान क्या है?'—दूसरा प्रश्न है 'नयी कविता मे प्रयुक्त भाषा मे सकरता का औचित्य क्या है?'

कविता को समझने, परखने, उस का मूल्याकन करने के लिए कविता से चार प्रश्नों का उत्तर जानना चाहिए:—

१. कवि ने क्या करना चाहा है?
२. वैसा उसने क्यो चाहा है?
३. अपने उद्देश्य मे वह कहाँ तक सफल हुआ?
४. जो कुछ कवि ने करना चाहा, वह करने योग्य या महत्त्वपूर्ण था कि नही?

अन्तिम प्रश्न के सही उत्तर की खोज पूरी तटस्थता और ईमानदारी के साथ की जानी चाहिए। प्रथम तीन प्रश्नो का उत्तर ठीक और सन्तोषजनक मिल जाने पर भी यदि चौथे प्रश्न के उत्तर मे अनुभव के खरेपन का प्रमाण नही मिलता तो वैसी कविता को विशेष उपलब्धि नही माना जा सकता। चारो मे से किसी भी प्रश्न का उत्तर—व्यवहार में इस का अर्थ हो जाता है पिछले दो प्रश्नो का उत्तर, क्यो कि पहले दो प्रश्न कविता को समझने के लिए है, अन्तिम दो उस का मूल्य निर्धारित करने के लिए—सन्तोषजनक न हो तो कविता को फेंक दीजिए केवल प्रयोग को, वैचित्र्य को, शिल्प की कलाबाज़ी को, हस्तलाघव को कविता मत मानिए। कवि के लिए भी इन्ही आधारो पर आत्मालोचन आवश्यक है। इस मूल्यांकन मे निर्ममत्व बुरी चीज नही है। बल्कि ममत्व, सम्बन्ध एव मित्रता आदि के कारण दृष्टि धुँधली हो जाये तो उस मे न कवि का हित है, न आलोचक का, न पाठक का। धुँधली दृष्टि से न तो अच्छी कविता लिखी जा सकती है और न पहचानी ही जा सकती है। यह बात कविता मात्र के लिए सच है; नयी कविता के लिए और भी सच हो जाती है क्योकि वहाँ दूसरे की दृष्टि के भरोसे रहने की भी गुजाइश नही।

भाषा की सकरता का प्रश्न एक हद तक एक व्यर्थ प्रश्न है। भाषा की सकरता आज की व्यापक सामाजिक परिस्थिति के समान्तर काव्य को लाने का प्रयत्न है। इस लिए वह समझ आ सकनी चाहिए एक हद तक क्षम्य भी होनी चाहिए। या कि केवल भाषा की संस्कारहीनता का रोना न रो कर हमें समाजव्यापी सस्कारहीनता, प्रतिमानहीनता और मूल्य-विकृति की ओर ध्यान देना चाहिए—भाषा के प्रति उदासीनता जिस का केवल एक पहलू है। हमे सस्कारी भाषा चाहिए। सस्कारी भाषा के लिए भाषा सीखने का सस्कार पैदा करना चाहिए। हम मे से नब्बे प्रतिशत लोग हिन्दी की उतनी शिक्षा नही पाते जितनी पानी चाहिए। दूसरी भाषा—विशेष रूप से अँगरेजी—सीखने के लिए तपस्या की जाती है पर हिन्दी के लिए मान लिया जाता है कि हिन्दी तो मातृभाषा है, अपने-आप आ जायेगी। कोई भाषा अपने-आप नही आती, यत्नपूर्वक सीखी जाती है। भाषा की सकरता को पहचाना भी तभी जा सकता है जब हम ने सस्कारी भाषा सीखी हो। पाठक इस के लिए अधिक दोषी है। यदि साधारण सामाजिक सावधान हो जाये तो कवि को भी साव-

धान होना पड़ेगा—उसे समाज मे पहुँचना जो है। संकरता का एक औचित्य भी है : कवि उसी भाषा का प्रयोग करता है जिसे वह रोज़ जीता है। जब हम बोल-चाल मे संकर भाषा का प्रयोग करते है, सारा समाज संकर भाषा में जीता है, तब कविता में उसे क्यो प्रवेश नही मिलेगा ? हमारे जीवन को जो शब्द व्यक्त करेंगे वे ही तो अनिवार्यत काव्य मे आयेगे। हम अपने अर्थो को रोज़ जिन सन्दर्भो मे जीते है, उन के साथ अगर हम ने अँगरेज़ी शब्द जोड़ लिये है, तो कविता में उन के बिना काम भी कैसे चलेगा ? या तो कवि उन सन्दर्भो से कट जायेगा, या उन सन्दर्भो से बँधा पाठक कवि से कट जायेगा। ऐसी स्थिति न पैदा हो, यह तभी हो सकता है जब दोनो एक समान सस्कारी साधु भाषा के भागीदार हो।

(घ) ज्ञान-विज्ञान और सर्जन-प्रक्रिया

ज्ञान-विज्ञान आदि के सन्दर्भ में रचना-प्रक्रिया को समझने मे भी हम भूल करते है। रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे केवल रचयिता का पक्ष प्रस्तुत कर के छोड देना काफी नही है। गृहीता, पाठक या सामाजिक के पक्ष का विचार भी साथ होना चाहिए : क्यो कि रचना-प्रक्रिया सम्प्रेषणीयता की भी सृष्टि करती है। यह ध्यान देने की बात है कि अनुभूति के समय हर अनुभोक्ता के अलग-अलग सस्कार अनुभूति को एक विशिष्ट रंगत दे देते है। बीते अनुभवो की स्मृतियाँ, नयी-पुरानी ऐसी अनेक बातें है जो गृहीता की अनुभूति का निरूपण, निर्देशन और नियमन करती है। क्यो कि किसी एक व्यक्ति के जीवन का सचित अनुभव किसी दूसरे के सचय मे सौ प्रतिशत एकरूप नही हो सकता, इस लिए एक की अनुभूति दूसरे की अनुभूति पूरी तरह नही हो सकती। कवि केवल कवि के भीतर के घटित की, रचना-प्रक्रिया की बात तक सीमित न रह कर अपने सामने यह प्रश्न रखे कि मेरी अनुभूति गृहीता या सामाजिक की अनुभूति कैसे हो (या हो गयी), तो कवि-कला आगे बढती है। क्यों कि सम्प्रेषण की चुनौती स्वीकार किये बिना जो आगे बढना है, वह कला के क्षेत्र का नहीं है : आत्म-शोध की दिशा मे वह हो सकता है और वह आत्म-शोध उच्चतर कला की भूमिका भी हो सकता है पर अपने-आप मे वह कला का प्रमाण नहीं है।

रचना-प्रक्रिया और सम्प्रेषण की सारी बात ही थोड़ा विषयान्तर

है। यद्यपि अनिवार्य विषयान्तर, क्यो कि ये दोनो एक सम्पूर्ण कार्य-व्यापार के दो पहलू है—एक आभ्यन्तर अथवा सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला, दूसरा वाह्य अथवा सामाजिक यानी ग्रहण अथवा आस्वादन से सम्बन्ध रखने वाला। ज्ञान-विज्ञान और रचना-प्रक्रिया का प्रश्न इस से कुछ अलग पडता है। क्या ज्ञान-विज्ञान बढने से रचना को इस अर्थ मे क्षति पहुँचती है कि हम सचेत हो जाते है, उसी का विश्लेषण करने लगते है ? नही तो क्या उस से लाभ होता है ?

नि:सन्देह दोनो सम्भावनाएँ वहाँ है। कवि रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण कर के वही तक रह जाये तो वह घातक होगा—क्यो कि जो ऊर्जा रचना मे लगती वह विश्लेषण मे व्यय हो जायेगी और 'मेरे भीतर क्या हो रहा है' इस की पडताल मे कवि सम्प्रेषण कर्म से विरत हो जायेगा। या वह मान लेगा कि क्यो कि मैं जान गया कि अमुक भाव किस प्रकार मुझ मे उदित हुए, इस लिए वे अव सम्प्रेषण के लायक नही रहे—पाठक भी जान लेगा कि वे कैसे कहाँ से आये ! पर यही तक रह जाना तो यन्त्र-प्रक्रिया तक रह जाना है। अवश्य ही पाठक उसे पहचान लेगा, पर यह तो उसे पहचानना भी चाहिए यह यन्त्र-प्रक्रिया शिल्प का अंग है जिसे गृहीता को पहचान सकना चाहिए, वल्कि इस पहचान से तो वह कवि के निकटतर आ सकता है। और फिर शिल्पगत आत्म-सजगता का यह परिणाम भी तो हो सकता है कि कवि निरे टोटको और हल्की चातुरी का सहारा लेने से वचे ; स्वर, नाद, शब्द-मैत्री, लय, छन्द अनुरणन, भणित आदि की गम्भीरतर सम्भावनाओ को पहचाने और उन का उपयोग करे ? अगर कवि पाठक से एक डग आगे हो कर सम्प्रेष्य कुछ ला सकता है, तो आत्म-सजग कवि भी शिल्प-सजग पाठक से फिर एक कदम आगे रह कर उसे नया कुछ दे सकता है !

पर यह सारी वात उस स्तर की नही है जिस पर रचना होती है। रचना के स्तर पर तो पहचानना चाहिए कि काव्य—या कला—स्वय एक प्रकार का जानना है—एक ज्ञान है । हम जो रचते है उसे हम जानते है। वल्कि उसे जानने का न कोई दूसरा साधन है, न कोई दूसरा प्रकार है सिवा उसे रच देने के। काव्य से जो ज्ञान हम पाते है, वह किसी दूसरे ज्ञान-विज्ञान से नही मिल सकता : इस लिए कोई ज्ञान-विज्ञान उस मे वाधक नही हो सकता। काव्य-सत्य की कोटि विज्ञान के सत्यो की कोटि से अलग और वाहर है। यह विलकल अलग वात है कि

एक कोटि के सत्यो की साधना मे हम दूसरी कोटि के प्रति अपने लगाव को शिथिल हो जाने दें—या इस के प्रतिकूल एक कोटि की साधना से व्यक्तित्व का जो विकास हो या गहराई बढ़े उस के सहारे हम दूसरी मे प्रवेश पाने के लिए अधिक उत्सुक हो उठे। या कि एक मे जो जिज्ञासाएँ अनुत्तरित रह जाये उन्हे ले कर दूसरी की ओर उन्मुख हो। जीवनानुभूति ही काव्य का अथवा कला का क्षेत्र है; अनुभूति-सत्य का ज्ञान काव्य द्वारा ही सम्भव है और वही कवि का सम्प्रेष्य होता है।

वेदो की बात अलग है और अलग रखनी चाहिए। वेद, जैसा कि नाम मे निहित है, 'जाना हुआ' है, स्वयसिद्ध है। पर उसे हम जिस अर्थ मे जाना हुआ कहते हैं, उस अर्थ मे कविता का सत्य जाना हुआ या स्वतः-प्रमाण नही होता। आज की कविता के साथ वेद का उल्लेख करना दोनो को गलत सन्दर्भ मे रखना है। वेद जहाँ श्रद्धेय हैं वहाँ आज के अर्थ मे काव्य नही है। काव्य-सत्य न केवल अपौरुपेय नही है वरन् नितान्त पौरुपेय होना चाहिए। आधुनिक बुद्धि वेदों के कुछ अंगो को काव्य-दृष्टि से भी देख सकती है और देखती है; पर यह मान लेना भूल होगी कि उन अंशो का भी केवल उतना ही अर्थ था जितना इस प्रकार सामने लाया जाता है। मन्त्र-द्रष्टाओं को हम केवल रचयिता भी मानें तब भी उस अतिरिक्त अर्थ के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता। अपौरुषेय मे पौरुपेय का भी पाया जा सकना कुछ भी अस्वाभाविक नही है; दूसरी ओर काव्य मे अपौरुपेय का सकेत भी मिल जाये तो उसे बड़ी बात समझना चाहिए।

तो मैं तो यही मानता हूँ कि ज्ञान-विज्ञान से हमारी क्षमता बढी है; किसी की अगर नही बढी तो उस का कारण ज्ञान मे नही है। उस से कवि-कर्म की जो समस्याएँ जटिलतर हुई है उन से डरने की आवश्यकता नही है। और अगर यह ज्ञात हो गया है कि अनेक ऐसे तथ्य हैं जो हम नही जानते, तो उन्हें और कुछ समय तक अज्ञात रहने दिया जा सकता है—ऐसा कब था कि हमारा अज्ञान बहुत बड़ा नही था ?

संक्षेप में आज की नयी कविता मे अगर कोई तत्त्व ऐसा है जो ज्ञान-विज्ञान के विस्तार और सृजन-प्रक्रिया पर उस के प्रभावो के कारण जटिलतर हो गया है, तो उस मे कवि के लिए जितना खतरा है उतनी लाभ की सम्भावना भी। खतरे देख कर घबराना क्यों? तालियो के भरोसे जीवित रहने वाला सम्मेलनी कवि भी मंच के खतरे उठाता है।

कोई कवि जटिल और अबोध्य रचना छपा कर पाठक की प्रतिक्रियाओं की सम्पूर्ण अवज्ञा करता है तो उस का दड भी पाता है। निरी बाहरी प्रतिक्रिया उतना महत्त्व नही रखती जितना महत्त्व कवि की अपनी सर्जन-प्रकिया के प्रति ईमानदारी का है।

(च) व्याख्या की माँग

आजकल कविताओ के साथ कवि से व्याख्या की माँग भी की जाती है। कुछ तो ऐसा उत्सुकता जगाने के लिए किया जाता है; पत्रकारिता या रेडियो के लिए ऐसी चीजे काम की होती है। कुछ ऐसा भी समझा जाता है कि व्याख्या मे कवि कोई ऐसी नयी बात बता देगा जिस से कविता पर बहुत प्रकाश पडेगा, उसे समझने मे मदद मिलेगी। बहुत-से कवि अपनी कविता की व्याख्या करना पसन्द भी करते है। मेरी दृष्टि मे यह कोई अच्छी बात नही है। कविता कविता से ही मिलनी चाहिए, व्याख्या की अपेक्षा उसे नही होनी चाहिए। या यो कह ले कि जो कविता से नही मिल सकता वह कवि-कृत व्याख्या से पाना (या देना भी) व्यर्थ है (—क्यो कि दूसरो द्वारा व्याख्या की तो उपादेयता होती है) व्याख्या की सुविधा पा कर कवि काव्य की त्रुटियो को दूसरो से छिपा सकता है तो अपने को भी धोखा दे सकता है, या काव्य मे ऐसे तत्त्वो की उपस्थिति का दावा कर सकता है जो वास्तव मे उस मे नही है।

यो, स्वय कवि द्वारा व्याख्या की बात छोड दे, तो कवि और पाठक के बीच व्याख्या का एक उचित और आवश्यक स्थान है। जिन चार प्रश्नो की बात मैं ने कही है, उन मे से पहले दो व्याख्या के क्षेत्र है, मूल्याकन की वह भूमिका है। सामान्यत ऐसी व्याख्याएँ सहृदय आलोचक या प्राध्यापक वर्ग करता है या उस वर्ग को करनी चाहिए—या ऐसा एक वर्ग कवि और पाठक के बीच रहना चाहिए और उस तक दोनो पक्षो की पहुँच होनी चाहिए। दुर्भाग्यवश आज यह वर्ग प्राय. यह काम नही करता : इस काम के योग्य अपने को बनाने का परिश्रम साधारणतया उसे गवारा नही होता—या कभी उस के साधन उस के लिए दुर्लभ हो जाते है। विश्वविद्यालयो का अध्यापक वर्ग नया कुछ प्रायः नही पढता है, इस लिए उस का व्याख्याता हो सकने की स्थिति मे ही नही आता। दूसरी ओर पाठक विशेषतया नया ही पढता है—यह स्वाभाविक (और उचित भी) है कि वह नया और समकालीन पढे

और उस के मार्ग से होता हुआ ही प्राचीनतर की ओर जाये। फलत. पाठक और अध्यापक के बीच की दूरी घटने की बजाय और बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति मे लाचारी हो जाती है कि पाठक कवि से व्याख्या चाहे और फिर उस की कसौटी अध्यापक से कराये—जब कि सही स्थिति इस से ठीक उलटी होनी चाहिए: अध्यापक व्याख्या करे और उस व्याख्या की कसौटी कवि-दृष्टि पर हो। पर इस लाचारी को लाचारी ही मानना चाहिए, वह भी साम्प्रतिक लाचारी, वांछनीय स्थिति कभी नहीं समझना चाहिए। कवि को अपनी या समकालीन काव्य की व्याख्या करनी पड़े तो उसे पाठक को सतर्क भी करते रहना चाहिए कि ऐसी व्याख्या न तो अन्तिम है, न एक मात्र, न उसे मूल्य-निर्धारक माना जाये; कि वह केवल पाठक की सहायता के लिए एक सकेत-भर है।

(छ) शिल्प और लय

मेरी समझ मे लय शिल्प का ही एक महत्त्वपूर्ण पक्ष नही, काव्य का एक आवश्यक गुण है। लय के बारे मे पिछले वर्षों मे काफ़ी बे-सिर-पैर की बातें कही गयी है, नयी कविता के समर्थको द्वारा भी और निन्दको द्वारा भी। मैं नही समझता कि नयी कविता ने लय छोड़ी है—यानी जो कविता है उस ने। जो निरा गद्य है उस की बात अलग है, यद्यपि अच्छा गद्य भी लय सम्पन्न होता है—हाँ, गद्य की लय पद्य की लय नही होती। लय का विचार करने के लिए नयी कविता ही नही, हिन्दी से भी थोड़ा हट कर एक उदाहरण लिया जाय—बांग्ला से। यह हमे पूर्व-ग्रहो के दबाव से भी बचाये रखेगा और अपने-आप मे भी अत्यन्त शिक्षाप्रद उदाहरण है. **माइकेल मधुसूदन दत्त** का। मधुसूदन दत्त आधुनिक बांग्ला काव्य के प्रवर्तक हैं। उन का जीवनानुभव और उन के काव्य-सम्बन्धी प्रयोग और आविष्कार आधुनिक बांग्ला काव्य के विकास के ही नही, आधुनिक भारतीय काव्य के अध्येता के लिए बड़े मूल्यवान् है। युवा मधुसूदन का स्वप्न था इंग्लैंड मे ख्याति पाने का—इस का कोई विकल्प उनके सम्मुख था तो एक नाम-हीन मृत्यु का!

टु क्रॉस द वास्ट एटलांटिक वेव
फ़ॉर ग्लोरी—ऑर ए नेमलेस ग्रेव!

इसी लिए उन्होने अँगरेज़ी कविता का अभ्यास किया, अन्य यूरोपीय भाषाएँ सीखी; अँगरेज़ी के संस्कार में इतना डूब गये कि जब उन्हे

कन्या-लाभ हुआ तो पिता को उस की सूचना एक मित्र से दिलानी पड़ी—क्यो कि यह वाग्ला मे कहना उन्हे नही आता था ! पर कई यूरोपीय भाषाओ मे पारंगत हो कर जव यह कवि भारत लौटा तो उस ने पहचाना कि वास्तव मे वह केवल गूंगा वन कर आया है; तव उस ने फिर से वाग्ला का अभ्यास किया और अन्त मे उसी का सिद्ध कवि हुआ। वाग्ला तक लौटने का यह वृत्त जीवनी की दृष्टि से तो रोचक ही है, पर लौट कर उन्होने वाग्ला छन्द से जो किया वह और भी रोचक है। उसी के अध्ययन से हम देखते है कि कैसे उन की प्रतिभा ने पश्चिम से उपार्जित सारे ज्ञान का और पश्चिमी काव्य की दीक्षा का रचनात्मक उपयोग किया वाग्ला को समृद्ध करने और नये रूप मे अर्थक्षम वनाने मे।

तव तक वाग्ला वृत्त-काव्य **पयार** छन्द मे लिखा जाता था : सारे मंगल काव्य इसी छन्द मे लिखे गये। मधुसूदन भी कथा-काव्य लिखने वाले थे, उन्होने यही छन्द लिया। पर मधुसूदन का पयार पारम्परिक पयार नही है वह पहचाना जा कर भी क्रान्तिकारी रूप से भिन्न है।

पयार चौदह वर्ण का वर्णावृत्त है पारम्परिक पयार मे आठ वर्ण के वाद यति होती थी, अन्त मे तुक ('मित्राक्षर छन्द'), पक्ति का अन्त वाक्य का भी अन्त होता था। मधुसूदन ने तुक को अनावश्यक मान कर छोड दिया— 'अमित्राक्षर' पयार अपनाया (अतुकान्त छन्द भारतीय काव्य का अपरिचित रहा हो, ऐसा नही था, पर मधुसूदन के ध्यान मे अवश्य अँगरेजी '**व्लैक वर्स**' रही)। आठ वर्ण के वाद की अचल यति भी उन्होने नही मानी और विराम को भी उतना ही चल मान लिया—अर्थात् पक्ति मे किसी भी वर्ण के वाद पूर्ण विराम आ सकता था। पर पयार की लय उन्होने नही छोडी। क्यो कि लय नही छोड़ी इस लिए पयार छन्द नही छोड़ा . लय ही वह चीज थी जिस से छन्द पहचाना जा सकता था।

लय का निर्वाह करते हुए मधुसूदन ने अपने को और सव वन्धनो से मुक्त कर लिया। और यही वाग्ला काव्य की मुक्ति हुई : इसी से वह आधुनिक वना। जहाँ पयार अत्यन्त एकरस वृत्तान्त का वाहक रहता था, वहाँ उस मे एक आश्चर्यजनक लचकीलापन, प्रखर नाटकीय तनाव और गत्यात्मकता आ गयी। यो भी वह कह सकते है कि इस नयी नाटकीय लय से काव्य की रचना मे ही एक नये प्रकार का काल-वोध लक्षित होने लगा और नया काल-वोध ही आधुनिकता की वुनियादी

ग्न है। अब इस छन्द मे नया कुछ कहना भी सम्भव हुआ, नये ढग से और नयी गति से कहना भी।

पारम्परिक पयार का नमूना लीजिए :

> चीड़ा भाजा उड्या गेल शुधू खाइ जल
> खुगि-पृथि बया जाइते अंगे नाइ बल
> दँव हेतु दुःख पाइ सहजे कातर
> दक्षिणा भागिते नेलाम ताँतिदेर घर
>
> (—धर्म-मंगल)

और मधुसूदन दत्त के पयार का

> क्षमा, सखे ! पोषा पाखी पिंजर खुलिले
> चाहे पुनः पाशिवारे पूर्व कारागारे ?
> एशो तुमि, एशो शीघ्र, जावो कुंज-वने
> तुमि, हे विहंगराज ! तुमि संगे निले।
> देह पदाश्रय आशि प्रेम-उदासिनी
> आमि। जथा जाओ जावो, करिवो जा कोरो,
> विकाइवो काय-मनः तव राङा पाथे।
>
> (—व्रजांगना, सर्ग २)

मैथिलीशरण गुप्त ने मधुसूदन दत्त के काव्यों का अनुवाद उसी छन्द मे किया; उस की विशेपताएँ उन्होने पहचानी और अधिकांश का उपयोग भी किया—कुछ उन्हे स्वीकार्य नही हुई। **सियारामशरण गुप्त** ने भी उसी छन्द मे रचना की—पर वह अग्रज से कुछ आगे गये। कह सकते हैं कि उसी लय का प्रयोग उन्होने किया और छन्द तोड़ दिया, क्यों कि लय का निर्वाह करते हुए उन्होने चौदह वर्ण का वन्धन भी नही माना। मधुसूदन दत्त यति को चल मानते थे और विराम कही भी रखते थे; जब विराम का सम्बन्ध पंक्ति से नही रहा, न यति से, तो क्यो न पंक्ति को विराम से नापा जाए ? सियारामशरण गुप्त ने **बापू** मे इसी लय का प्रयोग किया, पर पंक्तियाँ छोटी-वडी रखी : यानी पयार की (या **घनाक्षरी** की) लय का 'रवड़ छन्द' उन्होने लिखा। मैंने भी इसी तरह यह छन्द लिखा—**इत्यलम्** की कई कविताओ मे वह मिलेगा। घनाक्षरी की लय के साथ हम लोगो ने जो किया, **सवैये** की लय के साथ **गिरिजाकुमार माथुर** ने वही; सवैये की लय के अधिक प्रयोग हिन्दी में

नही हुए ।

मधुसूदन दत्त ने केवल लय का निर्वाह करते हुए छन्द को बदल कर नाटकीयता नही पायी थी; उन्होने इस के लिए वलाघात का भी सोद्दे-श्य प्रयोग किया था। अँगरेज़ी काव्य से परिचित सभी कवियो का ध्यान इधर गया—अँगरेजी छन्द का तो आधार ही वलाघात का प्रयोग है। और प्राय. सभी मुख्य कवि अँगरेजी काव्य से परिचित भी हुए : वल्कि जो-जो कवि उन्होने पढे या उन्हे पढाये गये, या उन्होने पढाये, उन से उन का अपेक्षया सीधा सम्बन्ध भी पहचाना जा सकता है। **जैसे श्रीधर पाठक** अँगरेजी काव्य से परिचित और स्वयं प्रतिभाशाली कवि हो कर भी अनुवाद करने चले तो और कोई सत्कवि न ले कर उन्होने चुना **गोल्डस्मिथ** को! गोल्डस्मिथ तव भी दूसरे दर्जे के ही कवि माने जाते थे, पर भापा की दृष्टि से उन की प्रशसा थी और अँगरेजी पढने-पढाने के लिए तो वह आदर्श माने जाते थे—और भारत मे सर्वत्र पाठ्यक्रम मे वह रहते थे।

स्वर की दृष्टि से हिन्दी मे **सुमित्रानन्दन पन्त** की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है. विशेप रूप से पहले के काव्यो की। **पल्लव** की भूमिका मे उन्होने जो स्वर-विचार किया है, उस के कारण वह हिन्दी साहित्य की इतिहास-यात्रा मे एक मील का पत्थर वन गया है। आज भी कवि को उस मे मार्ग-निर्देश मिल सकता है। भूमिका मे वहुत-कुछ उन्होने कहा है और कुछ सकेतित छोड दिया है। इन सकेतो को समझ कर हम पहचान सकते है कि अँगरेजी काव्य के परिचय ने किस तरह पन्त के लय-वोध को भी पुष्टतर वनाया ˙ कैसे वह छन्द की कुछ मर्यादाएँ तोड़ कर लय को सूक्ष्मतर रूप दे सके। पन्त ने स्वय उदाहरण दे कर वताया है कि कही-कही उन्होने पक्ति छोटी लिखी है पर उस के छोटेपन से टूट नही आती, अर्थ की पुष्टि होती है। पर ऐसी पक्तियाँ वास्तव मे 'छोटी' नही हैं, स्वर-विचार की दृष्टि से वलाघात समान होने के कारण उसे अन्य पक्तियो की समतोल ही माना जा सकता है। अँगरेजी छन्द.शास्त्र यह युक्ति हमे तुरत दे देगा। इतना ही नही, हम जानते है कि **कीट्स** ने इस युक्ति का सहारा ले कर उसी ढग का वडा समर्थ प्रयोग किया जैसा कि पन्त ने **आँसू** आदि मे : और मैं समझता हूँ कि यह मानना गलत नही होगा कि पन्त कीट्स के काव्य से, उस मे इस प्रयोग से, और इस की प्रभविष्णुता से परिचित थे : कि इस से उन्हे प्रेरणा मिली और इस

युक्ति को काम में ला कर उन्होंने हिन्दी मे लय के निर्वाह की नयी, मुक्त-तर सम्भावना पैदा की।

हिन्दी छन्दःशास्त्र मे कही भी स्वराघात का विचार नही है, उस के वारे मे कोई नियम, निर्देश या निषेध नही है; यद्यपि किसी अच्छे कवि ने इस सम्वन्ध मे भूल कभी नही की। पन्त ने पहले-पहल इस का न केवल विचार किया, वल्कि समर्थ उपयोग भी। परवर्ती कवियो मे स्वर के प्रति सजगता वढती गयी है—सव मे पन्त के प्रयोगों के समझने के कारण ही नही, अधिकतर अँगरेज़ी काव्य के घनिष्ठतर परिचय के कारण।

मतलव यह कि स्वर-विचार के कारण लय-वोध वदल गया है और एक सूक्ष्मतर लय का प्रयोग सम्भव हो गया है। लय छोडी नही गयी है—यानी अच्छी कविता ने लय नही छोड़ी है। वही एक अपरिहार्य है—वही काव्य की मर्यादा है। 'अर्थ की लय' की वात हुई है : पर अर्थ की लय तो हमेशा रही है—कौन-सी अच्छी कविता हुई जिस ने अर्थ की लय नही निवाही ? यह कहना गलत है कि पहले शव्द की लय थी और अव अर्थ की लय होती है। ऐसी वात का अगर कोई अर्थ हो सकता है, तो उसे पन्त ने कही अधिक सही रूप मे पल्लव की भूमिका में कहा था—**"काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यंजन···जिस छन्द में स्वर संगीत की रक्षा की जा सकती, उस के संकोच-प्रसार को यथा-वकाश दिया जा सकता है, उस में राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्णरूप से मिलता है···"**

असल में लय का श्रेष्ठ रूप हृदय की धड़कन के समान होता है, सहजावस्था मे वह अलक्षित ही रहती है। तनाव की अवस्थाओं मे ही हम अपने हृदय की धडकन सुनते है : उस का सुन पड़ना ही तनाव के होने का सूचक है। काव्य मे भी तनाव की अवस्था में लय मुखर हो उठती है, नाटकीय गति या अवरोध की सूचना देती है; ऐसी स्थिति मे उस का वदलना, अवरुद्ध होना या टूटता-सा जान पड़ना उस का त्याग नही, उस की अतिरिक्त शक्ति का उपयोग है। आज का कवि लय को अनावश्यक कहता है तो भूल करता है। लय को छोड़ने पर कविता नहीं होगी। लय को सहज या ओट मे रखना उचित है; जितनी ही वह सहज और सूक्ष्म होगी उतनी ही अन्त:स्थ और अलक्षित रहेगी। पर अलक्षित होना, न होना नही है। तनाव की स्थितियो मे हृदय की

गति की तरह वह असम हो कर उभरेगी, वह असमता "राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य" ही जतायेगी, लय का पराभव नही।

(ज) क्षण और कुंठा

आज क्षण की और क्षण की अनुभूति की बात बहुत होती है। कुछ वैसे ही जैसे कुछ वर्ष पहले कुठा की बात बहुत होती थी। एक समय मैंने क्यो कि विश्लेषण कर के स्थापना की थी कि उत्तर छायावाद के काव्य मे कुठाओ का प्रभाव है, इस लिए मुझे कुठावादी कहा जाने लगा। फिर मैं ने अनुभूति के क्षण की चर्चा की है तो क्षणवादी के नाम से कोसा जाने लगा हूँ। इस तरह की आलोचना जितने छिछले स्तर की समझ का लक्षण है उतनी ही छिछली उस लेखक की समझ भी है जो कुठा को मूल्य मान कर उसी का प्रचार करे और जो अनुभूति-क्षण के प्रति सच्चाई का सन्दर्भ छोडकर दिशारहित क्षणजीवी होना चाहे—और इस लिए क्षणजीवी साहित्य ही पैदा कर सके। रॉस ने जब सिद्ध किया कि मलेरिया ज्वर एक जीवाणु के कारण होता है तो वह मलेरियावादी नही हो गया था। बल्कि वह सिनकोनावादी या कुनैनवादी भी नही बना था—यद्यपि इलाज के लिए उस ने दवाओ का समर्थन किया था। अधिक से अधिक उपचारवादी आप उसे कह सकते—या कि सही अर्थ मे स्वास्थ्यवादी, क्यो कि लक्ष्य उस का यही था कि बीमारी का इलाज हो और मनुष्य स्वस्थ हो, बीमारी को ही प्रवृत्ति न माना जाये।

यो क्षणवाद का एक प्राचीन और प्रतिष्ठित सिद्धान्त रहा, वह नाम अपने-आप मे गाली नही है, अगर दार्शनिक क्षणवाद की बात हो रही हो।

मैंने क्षण पर जो बल दिया है वह अनुभूति के प्रति सच्चाई के सन्दर्भ मे ही, यानी रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ मे। भोक्ता से द्रष्टा होने का परिवर्तन क्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षण है, वही स्रष्टा होने की पहली शर्त है। ऐसा ही क्षण साहित्य का असल 'वर्तमान' है। जो भोक्ता है और पहचानता नही कि मै भोग रहा हूँ, वह अभी केवल ग्रहीता है, सम्प्रेषक न वह है न हो सकता है। दूसरी ओर जब वह पूरी तरह अनुभूति को पहचान लेता है, आप्त कर लेता है, तब वह उस से अलग हो चुका होता है—यानी तब वह अनुभूति उस का वर्तमान नही, अतीत अनुभव होती है। सच्चा वर्तमान ऐसा क्षण है जिस के साथ न तो स्मृति का आभास

है और न प्रत्याशा या अपेक्षा का—क्यों कि एक अतीत का लक्षण है और दूसरा भविष्य का। दोनों प्रकार की छायाओं से मुक्त असम्पृक्त क्षण ही वर्तमान है। गणित के विन्दु की तरह इस का कोई आयाम नही होता, केवल अस्तित्व होता है। कवि का काम इसी क्षण को पकडना या कि ऐसे क्षणों की शृंखला को पकडते चलना है। वास्तव मे यह काम होता नही, लेकिन यथा-सम्भव इस के निकटतर आते रहना, 'है' और 'था' के अन्तराल को कम से कमतर करते चलना, कवि का इष्ट है। **'मै सच लिखता हूँ, लिख-लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ।'** इस मे व्यर्थता नही है कि कवि सच को पकडता रहे और उसे झूठ हो जाने देता रहे। कवि के लिए जोखिम इस में है कि पकड़ मे आये हुए सत्य को सनातन सत्य मान ले। आज के कवि को अपनी ही कृति के वारे मे यह कह सकना चाहिए कि 'यह सच था जिसे मैंने पकड़ा, और पकड़ा इस लिए अव तक झूठ हो गया होगा।'

इन दिनों कुंठा की इतनी वात होती है और कुंठित साहित्य की ऐसी वाढ आयी हुई है कि मैं ऊव गया हूँ। कोई व्यंग्यपूर्वक कह सकता है कि इसी से मैं आज का कवि हूँ क्यो कि ऊव भी तो आधुनिक मन.स्थिति का लक्षण है! जीवन से ऊव मुझ मे नही है, कुचर्चा से ऊव है। जो स्वयं कुंठित हो, अपनी कुंठा से उत्पीड़ित हो, उसी से प्रेरित साहित्य लिखे, वही कुंठा की इतनी चर्चा भी करे, यह वहुत ही वुरा है। आज की कविता की भाषा मे जो वासनाओं की उग्रता और आक्रामक यौन परितृप्ति का मुहावरा पाया जाता है वह वास्तव मे मानसिक स्वतन्त्रता या चेतनागत मुक्ति का लक्षण नही, वह कुंठा की ही प्रतीप अभिव्यक्ति है। स्वच्छन्द व्यक्ति मानसिक वलात्कार नही करता, कुंठित व्यक्ति ही उस में परितृप्ति खोजता है। ऐसा ही मन साहित्य परम्परा में गलत उदाहरण ले कर उन से विकृत परिणाम निकालता है। **तार सप्तक** मे मैं ने मध्यवर्ग की यौन वर्जनाओं का उल्लेख किया था। उस का भी गलत अर्थ लगाया गया था और अव भी लगाया जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ मे ही राजा की मुनि-कन्या के प्रति आसक्ति का दृश्य आ जाता है। तत्कालीन आचार की दृष्टि से यह मर्यादा का उल्लंघन है लेकिन नाटक में इस से वचा गया है। वहुत जल्दी यह वता दिया गया है कि शकुन्तला मुनि-कन्या नही है; राजा अपने को आश्वस्त कर लेता है कि उस के संस्कार उसे धोखा नही दे रहे है और वह मर्यादा से वाहर नहीं जा रहा है। इस लिए यह स्थिति ऐसी नही कि यौन वर्जना

वहाँ पर लागू हो। यदि शकुन्तला सचमुच मुनि-कन्या होती तब राजा के सामने दूसरा प्रश्न होता। या तो राजा राज-मर्यादा का पालन करने के लिए अपने भाव का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) करता, इस दशा मे माना जाता कि वर्जना वहाँ थी और उस का संगत प्रभाव हुआ; दूसरी ओर यदि वह ऐसा करना लेकिन राजा होने के नाते लोकापवाद से डरता या अपनी भावनाओं को मन ही मन कोसता रहता, तो वहाँ कुंठा होती। यदि वह चोरी-छिपे सम्बन्ध स्थापित करता और उसे वैसा ही बनाये रखना चाहता तो वहाँ एक दूसरे प्रकार की कुंठा होती जिस से पाखंड जन्म लेता। और यदि राजा मर्यादा तोड़ता और समाज को बताना चाहता कि मर्यादा अनावश्यक है और वह उसे तोड रहा है और इस तोड़ने का जो भी परिणाम हो उसे सहने को तैयार है तो वह विद्रोह कहलाता।

आज का कवि मुख्यत: मध्यवर्ग से आता है और मुख्यत: मध्यवर्ग का ही जीवन चित्रित करता है, इसी वर्ग मे वर्जनाएँ सब से अधिक क्रियाशील है और इस लिए इसी वर्ग मे कुठाएँ सब से स्पष्ट लक्षित होती हैं। जहाँ तर्क से या आचार बोध के समाजव्यापी परिवर्तन से कोई वर्जना अनावश्यक हो जाती है वहाँ उस को ले कर कुंठा नही हो सकती—कुंठा वही हो सकती है जहाँ किसी निषेध के कारण प्रवृत्ति और आचरण में विरोध की गाँठ पड जाय।

कवि समाज मे रहता है। समाज की आचरण-सम्बन्धी साधारण मर्यादा से—समाज के संस्कार से—उस का परिचित होना स्वाभाविक और आवश्यक दोनो है। लेकिन इस मे असम्भव कुछ नही है कि समाज के संस्कार और परिवार-विशेष के संस्कार या कि व्यक्ति-विशेष के संस्कार अलग-अलग हो। या कि शिक्षा और चिन्तन की प्रगति के कारण व्यक्ति के निजी सस्कार और भी बदलते जायें। जहाँ अन्तर हो वहाँ कवि का कर्तव्य है कि जैसे वह समाज के सस्कार से परिचित है वैसे ही अपने सस्कार का परिचय समाज को दे; जितना समाज से मर्यादित हो उतना ही समाज को बदलने मे भी क्रियाशील रहे। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से उसे इस मे बहुत सहायता मिल सकती है। बहुत-से पुराने विश्वास और संस्कार जो एक समय 'वैज्ञानिक' भी थे इस लिए कि विज्ञान की तत्कालीन पहुँच वही तक थी, आज तर्क के सामने नही टिक सकेंगे। इन्हे छोड़ना और बदलना ही होगा। कभी कोई बात ऐसी भी हो सकती है जिसे हम

पहले अन्ध-विश्वास समझते रहे हों लेकिन जिसे नये विज्ञान से समर्थन मिले। नि.सन्देह ज्ञान-वृद्धि से समाज क्रमशः जटिलतर होता जाता है और उस मे रहने वाले कवि की रचना-प्रक्रिया भी जटिलतर होती जाती है और कविता में भी जटिलता वढती है। वैदिक काल मे सम्भवतः ऐसा नहीं था। शायद इसी लिए वह सतजुग था। मैं कह चुका कि वेदो को काव्य-दृष्टि से देखना उचित नही है, पर कविता की आज की समस्याओ का हल खोजने के लिए उसे भी वेदों की दृष्टि से देखना आवश्यक नही है। जटिलता का एक पक्ष यह भी है कि आज ऐसा नही है कि कविता का पढ़ना-सुनना केवल सहृदय तक—यानी समान संस्कारी तक ही—सीमित रखा जा सके। लेकिन आज के कवि को विधाता के आगे यह दुहाई देने की ज़रूरत भी नही है कि उस के कपाल पर 'अरसिकेषु कवित्त-निवेदनम्' न लिखा जाये। संस्कार की विविधता है, सहृदयता भी है और अरसिकता भी, ज्ञान-विज्ञान के कारण वढ़ी हुई जटिलता भी है और प्रवृत्ति और परिस्थिति के वैषम्य के कारण वढ़ी हुई जटिलता भी है, इन सव जटिलताओं को ओढ कर ही सम्प्रेषण की समस्या का उत्तर मिल सकेगा, इन को अनदेखा कर के नही। वल्कि अगर हम मान लें कि यही सन्दर्भ है जिस मे सम्प्रेषण की समस्या का जवाव आज के कवि को (और सवेदन की समस्या का उत्तर आज के पाठक को) खोजना है तो इसी से धुन्ध छँट जायेगी और वहुत-सी कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी—मार्ग स्पष्ट-तर दीखने लगेगा।

पत्र-साहित्य और पुस्तक-साहित्य

स्थायित्व की मॉग मानव मे स्वाभाविक है। युद्ध, क्रान्ति और अशान्ति के समय ही वह उस परिस्थिति को स्वीकार करता है जिस मे टिकाऊपन एक वहुत ही सापेक्ष्य वस्तु हो जाती है। पत्र-साहित्य और पुस्तक-साहित्य का स्वाभाविक और सुपरिचित अन्तर भी ऐसे काल मे धुँधला हो कर मिट-सा जाता है, और तव हम 'पत्र-पुस्तक', 'वुक-मैगेज़ीन', 'नियत-कालिक—अथवा अ-नियतकालिक !—साहित्य' की चर्चा सुनने लगते है। पिछले विश्व-युद्ध के समय से पत्र-पुस्तकों का चलन हमारे देश मे भी पनपा और फैला। आज-कल के क्रमागत प्रकाशनो मे कदाचित् ऐसे ही सकलनो का स्थान ऊँचा पाया जायेगा। (क्रमागत प्रकाशन उन्हे इसलिए कहा गया है कि वे एक शृखला मे वँधे तो होते है, पर उन के प्रकाशन की कोई नियत अवधि नही होती—या होती भी है तो उस का निर्वाह कम ही होता है !)

युद्धकाल मे ऐसे प्रकाशनो के आविर्भाव के कई कारण थे, जिन मे आर्थिक और कानूनी कठिनाइयाँ भी थी। यो इन कठिनाइयो का कारण भी युद्ध-जन्य परिस्थितियाँ ही थी। यह भी उल्लेख्य है कि इन प्रकाशनो ने 'अपेक्षया अधिक स्थायी' साहित्य देना चाहा क्योकि प्रचलित पत्र-पत्रिकाओ मे क्रमश अधिक अनुपात मे कूडा-कर्कट भरा जाने लगा था। किन्तु इस का कारण फिर युद्ध-जन्य ही था . खड़े-खडे खाने, वर्दी पहने सोने, कतार वॉध कर सिनेमा-नाचघर जाने और सफर मे दौड़ते हुए पढने का आदी हो कर मानव सव कुछ जल्दी, तेज, तीखा, गर्म और लुभावना मॉगने लगा था।

युद्ध-काल का यह फूल युद्धान्त मे झर नही गया। वल्कि स्थितियो ने उस की उपयोगिता को एक अनिवार्यता का-सा रूप दे दिया, और अव

यह माना जा सकता है कि 'पत्र-पुस्तकें' हमारी रोजमर्रा पाठ्य-सामग्री मे एक निश्चित स्थान रखती हैं जिसे किसी दूसरे प्रकार का साहित्य नही भर सकता। क्योकि वे हमारे वर्तमान जीवन की एक माँग पूरी करती हैं।

वह माँग, और वह स्थान क्या है, इस की ओर ध्यान देना हितकर होगा।

पत्र-पुस्तको की पहली उपयोगिता यह है कि वे उन समकालीन साहित्य-प्रवृत्तियो को प्रतिबिम्बित करती है जो अन्यथा ओझल ही रहती। नयी प्रवृत्तियो का द्योतक समूचा साहित्य न तो पुस्तकाकार छप ही सकता है, न उसका छपना आवश्यक अथवा उचित ही है। लेखक पुस्तक लिखता है तो अपने परिश्रम के फलस्वरूप एक ऐसी चीज़ का निर्माण करता है जो, साहित्यालोचन की कसौटी पर वह चाहे जैसी उतरे, एक स्थायित्व रखती है। किन्तु पुस्तक लिखने से पहले, या उस के साथ-साथ, उस के लिए प्रयोग और अभ्यास और नयी शैलियों और परिपाटियो का अन्वेषण और छानबीन आवश्यक है। यह सब वह कहाँ करे? इस के लिए ये 'पत्र-पुस्तकें' ही उपयुक्त स्थान है। अगर साहित्य एक प्रशस्त उद्यान है जिस मे पेड फूलते-फलते है, तो 'पत्र-पुस्तक' वह क्यारी है जिस मे पहले चारा या कलम तैयार की जाती है।

पत्र-पुस्तके उस साहित्य की संवाहक होती है जिस की टक्कर समकालीन साहित्य मे क्रान्तिकारी हलचल पैदा कर सकती है, लेकिन जो इस के बावजूद (या इसी कारण) पुस्तकाकार नही छप सकता और प्राय प्रकाशनों द्वारा उपेक्षित या अपमानित होता है। ऐसे साहित्य के लिए पत्र-पुस्तके क्षेत्र तैयार कर देती है। इसी प्रकार इन्ही पत्र-पुस्तको मे लेखक हानि-लाभ की ओर से उदासीन हो कर—या कम से कम उस से बाधित न हो कर—आर्थिक या सामाजिक दबाव से मुक्त, निर्भीक भाव से अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

पत्र-पुस्तकों की एक उपयोगिता यह भी है कि स्वाधीनचेता, रूढ़ि-विरोधी और आदर्शवादी लेखक अपने को पुस्तक और पत्र-प्रकाशको द्वारा उपेक्षित पा कर आत्माभिव्यक्ति के लिए अपना अलग प्रकाशन कर लेते हैं। देश-विदेश में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल जावेंगे। ऐसे पत्र सर्वदा दीर्घजीवी नही होते, किन्तु इन की उपयोगिता की परख उन की आयु से नही, उन के उद्देश्यो से होती है। ऐसा भी होता है कि ऐसा पत्र

केवल एक अंक निकाल कर बन्द हो जाये—किन्तु उस से क्या ? अस्थायी ही सही, वह व्यापारिक लाभ-विचार और प्रचलित रूढ़ियों के दबाव से मुक्त हो कर साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक साधन तो रहा।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि पत्र-पुस्तकें साहित्यिक चेतना की मुक्त अभिव्यक्ति का साधन है और उस अभिव्यक्ति के नियमन की चेष्टाओं के प्रति साहित्यकार के विद्रोह का प्रतीक। उन के दृष्टिकोण अलग-अलग (और परस्पर-विरोधी तक !) हो सकते है, वे साहित्य के विभिन्न अंगो से सम्बद्ध हो सकते है, पर एक बात जो उन मे समान रूप से मिलेगी वह है इस बात का आग्रह कि लेखकों को (और विशेषतया नये लेखको को) अवसर दिया जाये कि वे पाठक-वर्ग के पास निर्बाध पहुँच सकें।

निःसन्देह इस का एक दूसरा पक्ष भी है। रूढ़ि के प्रति असन्तोष-भाव तभी उपयोगी होता है जब रूढ़ि भी हो। नियमन के प्रति विद्रोह-भाव, परम्परा की अवज्ञा, तभी अर्थवती होती है जब नियतन का प्रयत्न हो, परम्परा मे कुछ दम हो। नये लेखको को भी पाठक तक पहुँचाना वास्तव मे तभी सच्चे अर्थ मे सामाजिक दृष्टि से फलप्रद होना है जब वे पुराने और प्रतिष्ठित लेखकों के साथ आवें और उनकी पंक्ति मे स्थान ग्रहण करते हुए उस स्थान के लिए अपनी पात्रता को प्रत्यक्ष प्रमाणित होने देते चलें। पत्र-जगत् के सन्दर्भ मे इस बात का अनुवाद यह हुआ कि पत्र-पुस्तकें और अग्रगामी ('एवाँ गार्द') नियत अथवा अनियत-कालिक, अपनी सच्ची उपयोगिता के लिए ऐसी स्थिति माँगते हैं जिस मे साधारण व्यावसायिक आधार पर चलने वाली, किन्तु प्रतिष्ठित, और जाने-माने लेखको का सहयोग पाने वाली पत्रिकाएँ भी हो। ऐसी पत्रिकाओ की अनुपस्थिति मे केवल नये लेखको की, केवल विद्रोहियो की रचनाओ का अलग संकलित प्रकाशन अँधेरे मे अत्यधिक बढ गये किन्तु दुर्बल और अल्प-प्राण पौधे का-सा अस्वाभाविक विकास भी हो सकता है, कच्चेपन की उपासना का नया सम्प्रदाय भी बन सकता है, निरी असहिष्णु और आधारहीन अराजकता को भी प्रश्रय दे सकता है और—एक (या अनेक) नयी 'हाथी दाँत की मीनार' भी खड़ी कर सकता है जिस पर झंडा विद्रोह का फहराता हो किन्तु जिसके भीतर रहने वालो की प्रवृत्ति अखंड गुहावास के लिए अभेद्य व्यूह रच लेने-भर की हो !

और तथ्य यह है कि इधर हिन्दी मे सुदृढ़ व्यावसायिक आधार वाली

साहित्यिक पत्रिकाएँ, जिन की व्यावहारिकता आदर्श-विरोधी न हो पर जिन के पैर भूमि पर टिके हो और जिन्हें गगन-विहार की कोई आकांक्षा न हो, नही के बराबर है। असन्तोष प्रकट करने वाले यथेष्ट हैं, किन्तु किस के प्रति हो कर वह सारवान् होगा यह बताना कठिन है। एक लक्ष्य-हीन विरोध, जो कही भी तीर लग जाने से अपने को सुधन्वा समझ लेता है—यह कोई स्वस्थ या स्वास्थ्यकर स्थिति नही हो सकती···

इधर हिन्दी मे बहुत से नये पत्र निकलते रहे हैं। साहित्य के लिए माँग ज्यादा है, पढने वालों की संख्या बढ गयी है, अधिक व्यक्तियों के पास पुस्तके खरीदने के लिए अधिक पैसा है, फिर स्वाधीनता के साथ-साथ अपनी भाषाओ के प्रति एक नया लगाव जागा है, और जन-साधारण के स्तर पर नयी चेतना तो है ही। सब ओर माँग है कि 'और अधिक कल्चर, अधिक अपनी कल्चर!'

राष्ट्रीय भावना से उत्पन्न इस माँग का प्रभाव प्रादेशिक साहित्यो और जन-भाषा के साहित्यो की नयी उठान मे स्पष्ट लक्षित होता है। इस प्रवृत्ति का विशिष्ट महत्त्व इस लिए है कि यह ऐसे समय में प्रकट हो रही है जब कि दुनिया मे एक अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वलौकिक केन्द्रीकरण का आन्दोलन चल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान और सहयोग का लक्ष्य तो सब को स्वीकार है, किन्तु लक्ष्य-सिद्धि के साधनो को ले कर बड़ा विवाद होता है। एक पक्ष है कि एक कृत्रिम विश्व-व्यापी नौकरशाही के उद्योगो से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कदापि नही स्थापित हो सकता; विश्व-बन्धुत्व की कोई आशा हो सकती है तो स्वाधीन वर्गों और समाजों के स्वाभाविक आदान-प्रदान और परस्पर सहज सहयोग के आधार पर ही। संस्कृति के क्षेत्र मे इसका अर्थ है प्रादेशिक विकास— स्थानीय परम्पराओ और लोक-कलाओं और शिल्प के सम्पर्क से परिपुष्ट प्रादेशिक कलाओ की उन्नति। कला को जीवन में उस का उपयुक्त स्थान—दैनन्दिन जीवन के ताने-बाने मे अविच्छिन्न रूप से बुने हुए 'पैटर्न' का स्थान भी इसी प्रकार दिया जा सकता है। यह स्थान खो कर कला या साहित्य आकाश-बेल हो जाता है; वह स्वयं भले ही यह समझता रहे कि उस का धरातल ऊँचा उठ गया है, पर वास्तव मे वह प्रेरणा के मूलस्रोत से कट कर अलग हो जाता है। आज के सभी उत्तरदायी कलाकार इस वैच्छिन्न्य का अनुभव करते और अपने ढग से इस दरार को पाटने

या उस के आर-पार सेतु बाँधने का उद्योग करते है । साधारणतया कहा जा सकता है कि आज कलाकारो और साहित्यकारो का बहुमत इसी पक्ष मे है कि प्रादेशिक लोक-सस्कृतियो और लोक-साहित्यो को प्रोत्साहन दिया जाये और उन से नाता जोडा जाये; क्योकि वे अनुभव करते है कि सहज आत्माभिव्यक्ति के लिए यह मार्ग ही ठीक है, न कि वढये हुए केन्द्रीकरण और उस के आनुषगिक सरकारी नियन्त्रण और निरोध का रास्ता।

दिशा-निर्देश और अभिव्यक्ति का माध्यम न मिलने से किसी भी देश, प्रदेश अथवा जनपद की कला का ह्रास अवश्यम्भावी है । उस दशा मे तो और भी अधिक जव कि वाह्य प्रभावो का असर उस पर पड रहा हो । एक विदेशी पत्र-पुस्तक के सम्पादन ने इसी लिए लिखा है कि लेखको को अपने-अपने प्रदेश-जनपदो मे घूम-घूम कर उस के गलियारो को साहित्य मे पुनरुज्जीवित करना चाहिए ।

नि.सन्देह यह प्रवृत्ति वडी आसानी से निरे सास्कृतिक जीर्णोद्धार—रिवाइवलिज्म—मे परिणत हो कर लक्ष्य-स्खलित हो सकती है, और आज के हिन्दी साहित्य मे जीर्णोद्धार की प्रवृत्तियाँ ढूंढने के लिए वहुत वारीक-वीनी की जरूरत भी नही पड़ेगी । किन्तु इस खतरे का होना रास्ते को गलत नही प्रमाणित करता, यह कोई तर्क नही है कि जो रास्ता साहस नही माँगता वही रास्ता ठीक है। आवश्यकता इस वात की है कि नये पत्रो—पत्र-पुस्तको मे प्रादेशिकता और अन्तर्देशिकता का सामजस्य किया जाये । पत्र प्रादेशिक इस अर्थ मे हो कि अपने प्रदेश के साहित्यकारो को प्रमुख स्थान दे, और अन्तर्देशीय इस अर्थ मे कि उस मे—कम मात्रा मे—देशान्तरो का श्रेष्ठ साहित्य भी स्थान पावे । इसी से गति और सयम, चेतना और संस्कार, प्रगति और सस्कृति का वह समन्वय हो सकता है जो सम्पूर्ण जीवन है ।

और दोनो ही के लिए दृष्टि के सस्कार की आवश्यकता है . दीठ का साधारण व्यास जितना है उस से दूर की चीज देखने मे आँख पर जोर पडता है तो उस से अधिक निकट की चीज देखने मे भी कम जोर नही पड़ता । व्यापक दृष्टि इस या उस को अधिक अच्छी तरह देखने मे नही है वल्कि दृश्य-मडल का व्यास वढाने मे है। अर्जुन के लक्ष्य-भेद वाली वात जितनी सच है, उस से उलटी वात भी कम सच नही है—कि केवल केन्द्र-विन्दु को देखना पर्याप्त नही है, केन्द्र पर आँखे टिकाये रहते भी पूरी परिधि

का अवलोकन कर लेना ही वास्तविक दृष्टि है। वल्कि आज-कल के जटिलतर जीवन मे यही अधिक सच है, जैसा कि कोई भी आधुनिक यन्त्र-चालक वता सकता है। विमान-चालको के लिए एकाग्रता के साथ-साथ परिधि-दर्शिता (पेरिफेरल विज़न) कितना महत्त्व रखती है, यह उस के लिए दी जाने वाली अलग ट्रेनिंग वताती है।

क्या हिन्दी पत्र-पुस्तक-साहित्य अपने क्षेत्र के उत्तरदायित्व का निर्वाह करता रहा है और कर रहा है ? न्यूनाधिक मात्रा मे, हाँ।

संस्कृति की परम्परा जव वहुत लम्वी हो जाती है, तो उस के सचालन में एक शिथिलता और उदासीनता आ जाती है; और विदेशी आलोचक वडी आसानी से कह जाया करते हैं कि छह-सात हज़ार वर्षो के वोझ से दवी भारतीय संस्कृति का पराजयवादी हो जाना स्वाभाविक है। इस की अन्विति यों भी की जा सकती है कि काल के महामरु के पार सस्कृति का गधा हाँकते-हाँकते गधेवान मे भी कुछ गधापन आ जाना अप्रत्याशित नही है ! किन्तु इधर उस मरुस्थल के ऊँचे-नीचे गलियारो मे लगातार दुलत्ती पर दुलत्ती खा कर गधेवान चेत उठा है। गधे को घोड़ा नही वनाया जा सकता, न उस के पंख उगाये जा सकते हैं, किन्तु किसी यान मे उसे साथ ले उड़ा जा सकता है, और वह यान लोक-चेतना का ही यान है इसे लोग जानने लगे हैं। परन्तु काम वहुत है, वहुत वडा है; कितना भी हम करे, आगे और भी वहुत कुछ करने को रह जाता है। जो हारते नही है, वे इसी से प्रेरणा ग्रहण कर सकते है कि इस दिशा का परिप्रेक्ष्य जल्दी चुक जाने वाला नहीं है और सामयिक साहित्य को—जिस के साहित्य होने पर भी उतना ही वल है जितना उस के सामयिक होने पर—यह सुविधा जल्दी नही मिलने वाली है कि वैठ कर अपनी पीठ ठोके या पैर सहलावे। यह सन्तोष का विषय हो सकता है कि कुछ एक पत्र-पुस्तको ने जल्दी ही अपने लिए गौरव का स्थान वना लिया था और ऐसी स्थिति आ सकती थी कि चिरकाल से प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओ से पहले उन का नाम लिया जाया करे। किन्तु दूसरी ओर यह भी सच है कि नयी पत्र-पुस्तको की सख्या में इधर जितनी वृद्धि हुई है, उन मे संकलित वस्तु उस के अनुपात मे नही वढी।

हमारी समस्या अव यह नही है कि पत्र-पुस्तकों की सख्या कम है। अव तो यही सम्भावना दीखती है कि शीघ्र ही उन का वाहुल्य ही एक

समस्या का रूप ले ले। काग़ज़ के संकट के बावजूद हिन्दी मे ही दर्जनो नये पत्रो के आवेदन निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे है और वीसियो नयी योजनाओं की घोषणा हुई है। नये आयोजित सब पत्र साहित्यिक नही है। यह भी कहा जा सकता है कि सब के सब शायद निकलेंगे भी नही (एक अक भी नही !); फिर भी प्रश्न यह है कि क्या इन मे से आधे भी नये पत्र निकलना ठीक होगा ? हमारा पाठक-वर्ग बढा है, बढना चाहिए, और अभी उस के और बढने की गुंजाइश है। लेकिन पाठको के दुगुने हो जाने पर पत्र तिगुने-चौगुने तक तो हो सकते है, दस-पन्द्रह गुने हो जाने से क्या लाभ होगा—विशेषकर उस अवस्था मे जब कि लेखको का वर्ग बढा कर दुगुना भी न किया जा सके ?

अधिक प्रकाशन, लेखको मे अधिक सामग्री की माँग, इसलिए लेखको के द्वारा अधिक माँग, अधिक पारिश्रमिक। यह तो एक पूर्वापर शृंखला हुई। और कौन नही मानेगा कि पारिश्रमिक की दर बढनी चाहिए ? परन्तु एक और शृखला है। प्रकाशन अधिक, लेखन उतना ही, विकल्प सीमित, इसलिए घटिया प्रकाशन। अथवा— लेखक ही प्रकाशक, यानी प्रकाशक-पदस्थ लेखक और निरे लेखक मे क्रेता-विक्रेता का सम्बन्ध, एक प्रकाशक-लेखक और दूसरे प्रकाशक-लेखक मे प्रतियोगिता; फलत. निरे व्यवसायी प्रकाशक के सामने आदर्शवादी साहित्यकार-प्रकाशक की पराजय। यह तीसरा पूर्वापर है। पाली हार जाना एक बात है, हारी पाली मे जा मिलना दूसरी···जो लेखक, पाठक, साहित्यकार, साहित्य-रचना को व्यावसायिकता से मुक्त रखना चाहते है क्या वे इस समस्या से और इस के दूर-व्यापी प्रभावो से परिचित है, इस का सामना करने की तात्कालिक आवश्यकता के प्रति सतर्क है, उस के निराकरण के उद्योग मे सचेष्ट है ? हम नही जानते···आश्वस्त होने के लिए हमारे पास यथेष्ट प्रमाण नही है। एक ही हाँडी को क्रमश. बढती हुई खाने वालो की सख्या के लिए पकाने वाले क्रमश: बढते हुए रसोइये—यह परिस्थिति न प्रीतिकर है, न कल्याण-कर। हाँडियाँ बढनी चाहिए, भोज्य सामग्री भी बढनी चाहिए···

मैं जल्दी हडबडाता या घबराता नही हूँ, न समस्या से भागने की ही मेरी प्रवृत्ति है। जब-तब खतरे की घण्टी बजाना या किवाड़-झरोखे बन्द कर के अर्गला चढाना मुझे घृण्य है। खुली आँखे, बँधी मुट्ठियाँ, अविचलित बुद्धि, स्पन्दनशील हृदय, इन्हे मैं मानव-गुण भी मानता हूँ और मानवता के प्रति दायित्व भी। आसन्न को कभी अनदेखा नही करता

इस लिए अपने को अरक्षित भी नही मानता, आपन्न भले ही पाऊँ। इस-लिए मैं कहना चाहता हूँ कि उन तमाम लेखको के सामने, जो लेखन कर्म का सम्मान करते है, जो उसे उपजीव्य वना कर भी, उस के प्रति अपना एक नैतिक दायित्व समझते है, जो एक वनी-वनायी लीक मे पड़ कर हांके जाना नही चाहते, जो कला को स्वाधीन चेतना की स्वाधीन अभिव्यक्ति मानते हैं, एक वहुत वड़ा प्रश्न और एक महान् कर्तव्य है। उन्हें उस का सामना करना है और एक साथ मिल कर करना है। कलाकार सदा से व्यावहारिक व्यक्तिवादी रहे है पर कला-सृष्टि से वाहर उन्हे कन्धा मिलाना होगा नही तो उन का टिके रहना कठिन हो सकता है। साहित्यकारों को युग के सन्देशवाहक तो मान लिया जाता है, पर उन का सन्देश सुना जाता रहे, इस के लिए उन के स्वरो का समवेत होना उपयोगी है। नही तो अलग-अलग आवाज़ें खो जावेंगी वल्कि एक-दूसरे को डूवा देंगी।

नि.सन्देह हमे अव चार करोड़ साक्षरो की ही नही, पूरे चालीस करोड़ की वात सोचनी है, और,इतने पाठको के लिए पर्याप्त पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत करने मे नये सव प्रकाशन खप सकते है। पर केवल अधिक छपे हुए पन्ने तैयार करना ही उद्दिष्ट नही है—कम से कम साहित्यकारो को इस पक्ष के साथ नही उलझना है। जो छपे वह लेखक के नये डील के अनुपात में ठीक, वड़ा और तगडा हो यह भी लेखक को देखना है··· 'हमारे घर पाहुने आये—दे दाल मे पानी' क्रमिक आत्मघात का मार्ग है और लेखक को न केवल आत्मघात नही करना है वरन् जीवन-दान भी देना है—और जीवन जल का भी एक पर्याय है इस शव्द-माया की ओट भी आत्मघात का एक रूप होगा। वीसवी सदी ही सही, कलियुग ही सही, मानव आदर्श और मूल्य इतने नही वदल गये है !

हिन्दी पाठक के नाम

ढंग तो पुराना है : सुधी पाठक, सहृदय पाठक, विज्ञ पाठक, रसमर्मज्ञ पाठक—इन सम्बोधनों से अपनापे का पर्यावरण बना कर सर्व-साधारण को अपनी आलोचक-बुद्धि को विश्राम देने के लिए आमन्त्रित करना···या आज के रूखे युग मे, जब रुखाई योग्यता का और बेरुखी सत्ता का लक्षण मान ली जा सकती है, जब बदतमीज़ी ही फ़ैशन है, पाठक को पुकारते समय कोई आदर-सूचक विशेषण न लगा कर केवल 'हिन्दी पाठक !' कहने से भी काम चल जायेगा। असल उद्देश्य तो यह है कि निहोरे से उसे कहा जाये कि 'मेरी ओर देखो, मेरी बात का महत्त्व पहचानो और मुझे साधुवाद दो।' (और इस प्रकार स्वय अपनी धीमत्ता, सहृदयता, विज्ञता या मर्मज्ञता को प्रमाणित करो—कैसा सूक्ष्म चारा डाला गया है पाठक की अहन्ता के भोले पछी को लुभाने के लिए !)

लेकिन मुझे पुरानी बात नही कहनी है; न ऐसे सम्बोधन की आड़ मे कोई नाता जोड कर अपने व्यक्तिगत पूर्वग्रहो या पक्षपात के लिए व्यापक समर्थन प्राप्त करना है। मैं अपने को साहित्य के प्रति उत्तरदायी मानता हूँ तो इसे भी उस दायित्व का अग मानता हूँ कि जहाँ मैं या मेरा कार्य आलोच्य विषय हो, वहाँ व्यक्तिगत नाता जोड़ कर आलोचना की व्यक्ति-निरपेक्षता मे बाधा न डालूँ।

तो, पाठक, मुझे आप की सहृदयता की या मर्मज्ञता की दुहाई दे कर आप का अनुमोदन नही माँगना है। बल्कि जहाँ तक प्रशसा या श्लाघा का प्रश्न है, मैं मान लेना चाहता हूँ कि आप मेरे अपरिचित, गैर आदमी हैं।

तो आप को सम्बोधन क्यो कर रहा हूँ ? पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों के, और विशेष रूप से खडी बोली हिन्दी के साहित्य की गतिविधि का

अध्ययन करते या पुस्तकों और पत्रों मे उस का प्रतिचित्र खीचने का प्रयत्न करते समय मैं थोडा-बहुत यह अभ्यास भी करता रहा हूँ कि उस के पाठक का—अर्थात् आप का—चित्र भी हिन्दी साहित्य के लिए खीच सकूँ। क्योकि दोनों स्पष्ट ही अन्योन्य आश्रयी है, और परस्पर एक-दूसरे के आकार को निर्धारित या परिवर्तित करते है।

और अब कुछ-कुछ ऐसा लगने लगा है कि आप के चित्र की धुँधली सी आकार-रेखा मेरे सामने वन चली है। उस मे रग भर कर पूरा चित्र वनाऊँ, इस से पहले उस रेखाकृति को आप के सम्मुख रखना चाहता हूँ। दिल के आइने मे सरकार की जो तस्वीर वनी है, उसे सरकार क्या पहचानते है ?

आप कौन है ? 'कौन तुम अज्ञात-वय-कुल-शील मेरे मीत?' मैं नही जानता। पर जानता हूँ कि वरसों से आप के लिए लिखता आया हूँ; स्वय भी लिखता आया हूँ और दूसरो का लिखा भी नाना प्रकार से आप के सम्मुख लाता रहा हूँ—संकलित कर के, सम्पादन कर के, पुस्तको, सग्रहो और पत्रिकाओं के रूप मे, आलोचना और अनुमोदन कर के···और मानता रहा हूँ कि यह परिश्रम व्यर्थ नही है, असमय नहीं है, और अपात्र के लिए नही है, अग्राह्य नहीं है। फिर भी, आप को मै जानता हूँ, यह कह सकने का अधिकारी अपने को नही मानता आया, न अभी ऐसा दावा कर सकता हूँ।

एक पाठक को मैं जानता था। वह कोई पुस्तक या पत्रिका केवल पढ़ने के लिए नहीं मँगाता या खरीदता था। ऐसा 'साहित्य' मँगाना या खरीदना उस के लिए मानो एक श्रद्धा की घोपणा थी—जीवन के कर्म कांड का एक छोटा-सा अंग था। वर्षो की दासता से—विदेशी सत्ता की, निरक्षरता (सम्पूर्ण या पूर्णप्राय) की, अर्थ की, जाति, वर्ण, प्रदेश, पेशे, विरादरी और अज्ञान की सकीर्णताओ की दासता से जो सांस्कृतिक जाड्य उस में आ गया था, उस की परिधि मे रहते हिन्दी की पत्रिका के लिए चन्दा देना या हिन्दी-पुस्तक खरीदना अपने परलोक का ऋण चुकाने के वरावर था। क्योंकि पत्रिका का चन्दा या पुस्तक का दाम चुका कर वह मानो अपने देश, धर्म, जाति, भापा, संस्कृति आदि सभी का एक पुंजित सदस्य-शुल्क चुका देता था। इन सव को अलग-अलग देखने या उन का सम्वन्ध समझने की शक्ति या प्रवृत्ति उस में नही थी। होती भी कैसे, जव कि अपेक्षया प्रवुद्ध वर्ग भी 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' को एक अविभाज्य इकाई, और एक अकाट्य तर्क-परम्परा मानता था, निरा भावनागत सत्य

नही ! 'हिन्दी की पुस्तक ! हाँ, हमारे घर मे है ।'···'हिन्दी की पत्रिका हाँ, हमारे घर में तो आती है ।' हाँ, अपने लोक-परलोक के प्रति हम सावधान है, अपने कल्याण की व्यवस्था हम ने कर ली है !

पर वह पाठक आप नहीं हैं ।

एक और पाठक को भी मैं जानता था । वह हिन्दी को प्रेम करता था । उसे अत्यन्त अपनी मानता था । ठीक वैसे ही अपनी, जैसे कि अपनी बहू-बेटी अपनी होती । और बहू-बेटी की भाँति ही उसे अन्त.पुर मे रखता था । 'हिन्दी पुस्तक ? हिन्दी पत्रिका ? हाँ, हमारे यहाँ आती है—घर में पढती है ।' और बाहर ? बाहर कचहरी के लिए उर्दू-फ़ारसी है, व्यापार के लिए लडे-महाजनी है, हाकिम के लिए अँगरेज़ी है । प्रखर संघर्ष के जीवन की इन उलझनों को बाहर ही रख कर, असूर्यम्पश्या अन्त पुरिकाओ के लिए—नही-नही, गृह-लक्ष्मी आर्य-ललनाओ के लिए—चाँद की शीतल किरणें ही यथेष्ट हैं···

वह पाठक भी आप नही हैं ।

एक और पाठक को मैं जानता हूँ । जानता हूँ कहते थोडा झिझकता हूँ, पर जानता था कहना ठीक न होगा । क्योकि उस का अभिप्राय यदि यह समझा जावेगा कि वह पाठक पहले था और अब नही है तो यह गलत होगा; और यदि यह ध्वनि ली जावेगी कि उसे मैं पहले अधिक जानता था और अब कम जानता हूँ तो यह भी ठीक न होगा । क्योकि वास्तव मे पूरा जानता कभी नही था; और वास्तव मे वह पाठक भी था नही, है । मुझे कुछ भान है कि अब भी वह आस-पास घेरे हुए है । यह पाठक पढने को पढना नही मानता—या यों कहूँ कि पढ़ने-पढने मे भेद करता है । पढ़ना साध्य तो है नही, साधन है । काहे का साधन ? उन्नति का । और उन्नति की परिभापा स्पष्ट है—तरक्की, यानी नौकरी । पढना असल मे पढाई करना है। और पढाई कर चुकने के बाद ज्ञान-वर्द्धन के या मानसिक विकास के लिए कौन पढता है? दैनिक अखबार तक तो ठीक है—संसार की गतिविधि से परिचित होना तरक्की के लिए जरूरी है, और दैनिक अँगरेजी का अच्छा होता है । उस से आगे—हाँ, तफरीहन् पढ़ा जा सकता है—मनोरंजन तो आवश्यक है । नया कुछ, मनोहर कुछ, रसीला कुछ, सिगरेट के धुएँ के साथ अगर सारी उलझनें और चिन्ताएँ फूँक कर उड़ा दी जा सकें—स्वप्न-जीवन का कारवाँ क्षणभर के लिए किसी हरी-

भरी फुलवाड़ी में जा टिके, किसी सरिता के किनारे जा लगे, चाहे वह हरियाली माया हो, सरिता मृग-जल हो···ऐसा कुछ हो तो अलवत्ता पढा जा सकता है।

यह पाठक भी आप नही हैं।

लेकिन आप अब तक शायद सोचने लगे हों कि यह भी लल्लो-पत्तो का एक नया ढंग है। अमुक-अमुक आप नही हैं, अर्थात्—आप इस मे अच्छे हैं! और यह रेखा-चित्र भी कहाँ है—अभी तक तो दूसरी रेखाएँ मिटाई ही जा रही हैं। ठीक है, अब पाटी साफ हो गयी है।

या कि केवल लगभग साफ है, क्योकि एक और पाठक का चित्र अभी भी सामने आता है···

और यह पाठक पढ़ता ही नही। यों किताबे वह काफी चाटता है, और भारी-भारी शब्द, नाम, फिकरे और आँकड़े हर वक़्त उस की जबान से फिसले पड़ते हैं। लेकिन वह पढ़ता नही, केवल पढाता है। पढ़ाता किसे है, यह कहना ज़रा मुश्किल है, क्योकि उस ने सारी दुनिया को अलग-अलग डिब्बों में बाँट रखा है—एक डिब्बे में वे हैं जो कभी पढ ही नही सकते; दूसरे में वे हैं जिन्हे पढ़ाना व्यर्थ है; एक में वे है जो पहले ही गलत पढ गये हैं और जिन की विद्या को मिटाना है; और—एक मे वे हैं जो सकल-ज्ञान-विद्या-विशारद हैं और परम-गुण-निधान हैं। इस प्रकार यह पाठक केवल पढ़ाता है, और अपने-आप को ही पढ़ाता है क्योकि और किसे पढ़ाये?—और है ही कौन; मानव तो होता नही, केवल वर्गों मे बँटी हुई मानवता होती है; शाश्वत कुछ नही है और सब कुछ गत्यात्मक है, और जो यह खोज कर गये है उन्होने जो कुछ दिया है वह शाश्वत सत्य है और उस में परिवर्तन लाना चाहना गुरुतर अपराध है।

यह पाठक भी—अगर आप अब तक मुझे दुमुँहा जनद्रोही करार दे कर, चार-छह पन्ने के लेख का दस्ती बम फेंकने के लिए तौलते हुए, अपने कागजी जनवादी मोर्चे पर सन्नद्ध नही हो गये हैं तो!—आप नही हैं।

[२]

तो आप कौन हैं?

क्या आप सदाकांक्षी हैं? सदाकांक्षी लोग ही नरक की सड़को के

पत्थर कूटते है, क्योंकि वे केवल आकांक्षी होते है। उन की आकांक्षाओ से ही नरक के चौक की कुट्टिम भूमि तैयार होती है।

'अच्छे-बुरे का बोध मुझे है;
लेकिन अच्छे को पहचान कर
मैं बुरे के आगे झुक जाता हूँ
क्योकि मैं सदाकांक्षी हूँ :
मेरे लिए स्वर्ग की आशा भला किस नरक में होगी !'

क्या आप पारखी है ?

पारखी ही साहित्य क्षेत्र मे कुकुरमुत्तो की बढती देख कर भी निश्चिन्त पडे रहते है, दाम्भिको का शासन सहते है; आज-कल के सस्ते मुलम्मे को या रासायनिक धातु को सोना होने का दावा करने देते है—क्योकि उन्हे क्या चिन्ता, पारस-मणि तो उन के पास है ही, चाहे जिस धातु को सोना बना लेगे !

क्या आप हिन्दी के हितैषी है ?

हिन्दी के हितैपियो को बार-बार प्रणाम, जिन की हितैषणा कुछ कम होती तो हिन्दी की उन्नति कुछ अधिक हो पायी होती ! हितैषी-गण हिन्दी की रक्षा के नाम पर उस के चारो ओर ऐसी दीवार खडी कर के बैठे है कि वह न हिल-डुल सके, न बढ सके, न साँस ले सके; और बाहर से कुछ ग्रहण करने की तो बात ही दूर ! बिना रास्ता देखे चला नही जाता तो बिना समीक्षा के साहित्य-निर्माण भी नही हो सकता; लेकिन हितैषियो के कारण समीक्षा असम्भव हो रही है, क्योकि जो 'सम' देखना चाहता है वह तो हिन्दी-द्वेषी है, विश्वसनीय समर्थक नही है! हम ने गो-रक्षा के नाम पर सारे भारतवर्ष को एक विराट् पिंजरापोल बना डाला, जिस का गोधन सारे ससार मे निकृष्ट कोटि का है; क्या हम हिन्दी-रक्षा के नाम पर अपने साहित्य को भी एक पिंजरापोल बना डालेगे, जिस मे उत्पादक तो असख्य होगे, लेकिन सभी अधभूखे, अधमरे, निस्तेज, जिस की प्रतिभा अनुर्वर होगी और उत्पादन उपहासास्पद (यद्यपि उस पर हँसने की अनुमति किसी को न होगी!)—और जिस मे हम साहित्य-नवनीत के बदले कारखानो का 'बिना हाथ के स्पर्श से' तैयार किया गया वनस्पति ही पाने को बाध्य होगे ?

[३]

तो सुधी और सहृदय पाठक, मर्मज्ञ पाठक, मुझे आपसे कहना यह है कि आप देखिए और सोचिए कि आप को क्या करना चाहिए और आप क्या कर सकते हैं। यह काफ़ी नही है कि जब-जब हिन्दी का कोई अच्छा पत्र बन्द हो तब-तब आप दुःख प्रकट कर दें, और जब-जब कोई अच्छा लेखक मरे तो रोष कर लें कि अँगरेजी समाचार-पत्रो ने यह समाचार चार दिन बाद और पृष्ठ ग्यारह के पाँचवे कालम में क्यो छापा। (और, हाँ कवि-सम्मेलनों मे जा कर हुल्लड़ कर आवे कि कवि गा कर क्यो नही पढते !) आप का दायित्व इस से बड़ा है। हमारे साहित्य की दुर्बलता और विपन्नता के आप उत्तरदायी है, जैसे कि उसकी पुष्टता और समृद्धि के आप विधायक है। आप ही नहीं, लेकिन आप भी। जब हिन्दी उपेक्षित और अपमानित थी, तब उस को इसलिए शक्ति मिलती थी कि वह विद्रोही की भाषा थी और अनवरत संघर्ष उसे माँजता था। अब उसे हमे माँजना है, नही तो वह मैली ही होगी। तूफ़ान मे नाव को तैरते रखना ही सब से बडा कर्तव्य होता है, लेकिन जब तूफान नही होता तब केवल तैरने से ही नाव कही नही पहुँच जाती, उसे खेना होता है, और ठीक दिशा मे खेना होता है, जिस के लिए नक़शो की आवश्यकता होती है, और दिग्दर्शको की, और कर्णधारो और समर्थ मल्लाहो की...

इतनी ही मेरी बात है। स्वस्ति श्री सर्वोपमा जोग अमुकप्रसाद पाठक के जोग लिखी। मेरी चिट्ठी खुली चिट्ठी है, अतः उस मे जिस की जो इच्छा हो पढ़ले सकता है; पर इस से मेरी बात का अन्तस्तत्त्व—और उस की चुनौती—सारहीन नही हो जाती। और जो पाठक उसे समझता है और ग्रहण करता है—अर्थात् उस के अनुसार कर्म करता है—वही 'स्वस्ति श्री सर्वोपमा जोग' मेरा पाठक है, सुधी और सहृदय और मर्मज्ञ, और उसी के जोग लिखी। कम लिखी बहुत जानना। इति शुभम्।

सन्दर्भ : स्थिति

अर्थ और यथार्थ

उस दिन तीन-चार युवा कविगण मेरे यहाँ पधारे थे। आँगन के एक सिरे पर बैठे हम लोग इधर-उधर की बात कर रहे थे—जैसी बातें ऐसे अवसर पर हुआ करती हैं। न जाने कैसे बात खंजनों पर आ कर रुकी, और आगन्तुकों में से एक ने, जिन की स्मरण-शक्ति अद्भुत है, इस छोटे से पक्षी के विषय में कई एक सवैये-कवित्त सुना डाले।

मेरे आँगन में कुछ फूल-पौधे भी हैं। आस-पास के घरों ने अपने आँगनों का ऐसा उपयोग व्यर्थ माना है, या इस के लिए जो थोड़ा-बहुत श्रम करना पडता है उसे अपनी शान के खिलाफ समझा है, इस लिए एक-से घरों की पंक्ति में मेरा आँगन कुछ विशिष्ट हो गया है और वहाँ प्रायः ही पक्षी आते रहते हैं। जिस समय हम लोगों की बात-चीत हो रही थी, उस समय चंचल पक्षियों का एक जोड़ा आँगन की हरियाली में इधर-उधर दौड रहा था—बीच-बीच में रुक कर घास में कुछ टोहता और फिर पूँछ झुला कर आगे बढता हुआ।

मैं ने सवैया सुनाने वाले बन्धु से पूछा : "आपने खजन देखे है ?"

उन्होंने कहा : "नही तो—वे तो पानी के किनारे होते है।"

मैं ने आँगन की ओर इशारा कर के पूछा : "वह क्या है, आप पहचानते है ?"

"वह ? वह चिडिया का जोड़ा ? चिडिया है, और क्या ?"

"कौन चिडिया ?"

"चिड़िया है—नाम-वाम तो हम नही जानते।"

मैं ने वताया कि यही खंजन है तो उन्होने समझा कि उन्हे वनाया जा रहा है। वडी कठिनता से वह माने कि ये वास्तव में खजन हैं, और शीत ऋतु में प्राय. दिल्ली मे देखे जाते है। पक्षियों मे कौए, तोते, चील, वगुले, मोर—(और हाँ, 'चिडिया' अर्थात् गौरैया)—इन चार-छह के वारे मे तो वह निश्चयपूर्वक कह सके कि उन्होने देखे है, वाकी कुछ नाम उन्हे याद थे जो उन्होने पढे है।

और एक वार नगर के एक दूसरे भाग मे एक लेखक वन्धु से मिलने गया था। उन्हे जो सरकारी क्वार्टर मिला हुआ है, वह जिस सडक पर है उस के दोनो ओर अर्जुन वृक्षों की पक्तियाँ हैं। तीन-चार वर्षो से वह निरन्तर दिन मे दो-चार वार उन के नीचे से गुज़रते है। अर्जुन का वृक्ष मुझे सुन्दर लगता है, अत. उन से भेंट होने पर मैं ने उन की अपनी तरु-राजि की प्रशसा की। वह अचकचा कर वोले, "कौन से पेड़—कहाँ ? अर्जुन कैसा होता है ?" ज्ञात हुआ कि वह उस मार्ग से आते-जाते तो है, पर पेड़ों की ओर उन्होने कभी ध्यान नही दिया, नाम जानने की तो वात दूर। आम, नीम, जामुन, केला, ताड, इन कुछ एक वृक्षों के अलावा और कोई वृक्ष वह पहचान सकेंगे, ऐसा वह दावे के साथ नही कह सकते थे। पलाश ? पलाश तो वह नही जानते, ढाक के पत्तों की पत्तलो मे उन्होने दावते खायी हैं अतः सूखा पत्ता तो पहचान लेंगे। वाकी ढाक के तीन पात···

गोष्ठी-समाजो मे जाना कम होता है, पर उस वार एक मे गया था जो सरकारी क्वार्टर मे हो रही थी—उस मे रहने वाले सज्जन एक छोटी सस्था के मन्त्री थे। 'जनता का साहित्य' विचार का विषय था। आरम्भ मे चाय-पान था, उस के साथ वार्तालाप मे मैं ने अड़ोस-पड़ोस के क्वार्टरो के वारे मे पूछा तो ज्ञात हुआ कि स्थिति वैसी ही है जैसी सरकारी क्वार्टर-वासियो की होती है। किस मे कौन रहता है यह कोई नही वता सकता था; इस प्रकार की सूचना मिलती थी कि 'मद्रासी हैं', या 'वनिये हैं', या 'अमुक दफ़्तर या मिनिस्ट्री मे हैं, नाम तो नही मालूम'। गोष्ठी आरम्भ हुई तो मुझ से भी पूछा गया कि क्या मैं जनता का साहित्य

लिखता हूँ—क्या मेरी कृतियाँ 'मासेज' के लिए है ? नही तो क्यो नही ?

कवियो का प्रकृति-पर्यवेक्षण गम्भीर होना चाहिए, या कि सामाजिक प्राणी के नाते लेखक को अपने प्रतिवेशी के सुख-दु.ख मे प्रवेश करना चाहिए और उस से मानवीय रागात्मक सम्बन्ध रखना चाहिए—ये उपदेश पुराने है। ऊपर की घटनाओ को ऐसी बात की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करना भी पुरानी बात है। दूसरी ओर, 'कालिदास ने कही **अयन** शब्द का प्रयोग किया है इस से प्रमाणित होता है उन्हे ज्योतिष का पूरा ज्ञान था', या कि 'विहारी का **राधा नागरि सोय** उन के आयुर्वेद-ज्ञान का प्रमाण है', या कि 'अमुक ग्रन्थ मे अस्सी किस्म की घासो का नामोल्लेख है इस से लेखक के अगाध प्रकृति-ज्ञान कुछ अनुमान हो सकता है', इस तरह की युक्तियाँ भी बहुत सुनी जा चुकी है। मुझे जो कहना है वह भिन्न है।

और वह यह कि इस प्रकार के उपदेश उन लोगो के लिए व्यर्थ होते जिन के दृष्टान्त दिये गये है। और ऐसा इस लिए नही कि उन्हे ये अमान्य होते, वल्कि इस लिए कि वे इन से पूर्णतया सहमत होते—सहमति के बाद और बावजूद उन की वह स्थिति होती, बल्कि थी, जिस का उल्लेख किया गया है।

मुझे यह उतनी शोचनीय बात नही जान पडती कि लेखक का प्रकृति-परिचय अधूरा हो, या कि उस के मानवीय सम्बन्धों की परिधि बहुत छोटी हो; मुझे यह बात खतरनाक जान पडती है कि 'प्रकृति', 'मानव', 'जनता', 'मासेज'—ये सब उस के लिए अनुभव-गोचर यथार्थ न रह कर मानसिक परिकल्पनाएँ, **एब्स्ट्रैक्ट** विचार-तत्त्व बन जावे। पर्यवेक्षण का क्षेत्र बढाया जा सकता है, अनुभव की कमी को पूरा किया जा सकता है, पर अनुभवगम्य यथार्थ से कट जाने पर उस से फिर सम्बन्ध जोड़ना कही कठिन होता है, और परिश्रम-साध्य होता है, अपने-आप तो कभी जुड ही नही सकता। अनुभव की कमी लेखक को केवल असमर्थ बनाती है, पर यथार्थ का यह बौद्धिकीकरण उसे आततायी होने का अतिरिक्त सामर्थ्य दे देता है। जो व्यक्ति पशु-पक्षी, तरु-लता-फूल-पत्ते, प्रकाश-छाया, रग-रूप-गन्ध-ध्वनि-रस इत्यादि को तद्वत् नही पहचानता वह केवल अबोध है, केवल सोया हुआ है; लेकिन जो इन को न पहचानता हुआ 'प्रकृति-प्रेम' की बात करता है वह भरमाने वाला है—वह नशा कर के सोया है। जो

इस मनुष्य, उस मनुष्य, अनेक मनुष्यो को अलग-अलग जीवन्त और संवेदनशील इकाइयो के रूप मे नही जानता और अपनाता वह मूढ़ है, किन्तु जो इस के वावजूद 'जनता', 'मानवता', 'मासेज' आदि के नाम पर आह्वान करता है वह वैसा मूढ है जिस के हाथ मे आग है ।

मैं वार-वार सोचता हूँ कि हमारा साहित्य, हमारा सम्पूर्ण कला-कृतित्व, यथार्थ के इस वौद्धिकीकरण से आक्रान्त है । यथार्थ को यथार्थवत् ग्रहण कर सकने की हमारी क्षमता को कुठित कर रहा है ।

यह ठीक है कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर वढ सकना विकास का लक्षण है । एक चीज़ और एक चीज और एक चीज़ से वढ़ कर सख्या 'एक' की प्राप्ति और उस से 'इकाई' का वोध, एक मानव और एक मानव और एक मानव की पहचान से मानव-मात्र की उपलव्धि और उस से 'मानवता' की परिकल्पना—यों वढना वुद्धि का धर्म है । किन्तु 'क' से 'ख' तक यों वढना कि दोनो एक ही व्यास मे आ जावें एक वात है, यों आगे निकल जाना कि 'ख' को पाने मे 'क' खो जाय दूसरी वात । चौमहला भवन वनाना एक वात है, चौथी मजिल पर पहुँच कर पहली की नीव खोदना दूसरी वात !

कृति के लिए अनुभव की सर्वोपरि महत्ता पर आग्रह क्या मेरा दुराग्रह या पूर्वग्रह मात्र है ? मेरी समझ मे समय-समय पर इसकी आवश्यकता पड़ती रही है, और कला के क्षेत्र मे यह आग्रह नाना रूपो मे प्रकट हुआ है । सर्वत्र या सर्वदा उसमे एक-सा आत्म-वोध या आत्म-चेतना न रही हो यह अलग वात है । भक्ति-आन्दोलन मे अनुभूति की यथार्थता का एक प्रकार का आग्रह था, छायावादी आन्दोलन मे एक दूसरे प्रकार का, और—यदि समकालीन प्रवृत्ति के वारे मे एक अनात्यन्तिक स्थापना मुझे करने दी जाय—नयी कविता मे एक तीसरे प्रकार का आग्रह है । **'वास्तविक की वस्तुवादी धारदार विडम्वना'** के विरुद्ध, वास्तव के एतादृशत्व का आग्रह व्यर्थ नही है, निरे नयेपन का या वैशिष्ट्य का आग्रह नही है, वह सत्त्व की सही और सिद्धिदायक पहचान का आग्रह है । मैं तो यह भी कहना अनुचित नही समझता कि छायावाद की 'अनन्त की प्यास' और नयी कविता का 'क्षण का दर्द' एक दूसरे से इस अर्थ मे दूर नही है कि दोनो मूलत: अनुभूति की प्राथमिकता और आत्यन्तिकता पर वल देना चाहते है । इस पर कोई कहना चाहे कि तव नयी

कविता मे नया कुछ नही है, और अपनी बात के समर्थन मे मेरा साक्ष्य दे, तो मुझे आपत्ति नही। नयी कविता मे नया कुछ कभी नही हुआ—हो ही क्या सकता है ? केवल सन्दर्भ नया होता है, और वही नया अर्थ दे देता है। जो नये सन्दर्भ को पहचानने को तैयार है, वह अपने-आप नया हो जाता है और उस मे से नया अर्थ बोलने लगता है•••

हिन्दांग्लीयम्[1]

क्या अँगरेज़ी में भारतीय साहित्य हो सकता है ? क्या अमेरिकी या आस्ट्रेलियाई अँगरेज़ी की तरह एक भारतीय अँगरेज़ी भी हो सकती है ?

मैं अँगरेज़ी को एक विशिष्ट सन्दर्भ के बाहर भारतीय भाषा नही मानता; न मैं समझता हूँ कि वह कभी भारतीय भाषा बनने वाली है। इस लिए अँगरेज़ी मे लिखी गयी भारतीय रचनाओ को मै अधिक महत्त्व नही देता। मेरी धारणा है कि कोई भी लेखक सर्जनात्मक अधिकार के साथ केवल एक भाषा लिख सकता है। यह तो हो सकता है कि वह एक भाषा विदेशी भाषा हो; पर तब लेखक वही एक भाषा लिख सकेगा, अपनी भाषा फिर नही लिख सकेगा। और अगर ऐसा है, तो कोई भारतीय क्यो अँगरेज़ी मे लिखना चाहेगा—यानी रचना करना चाहेगा ? कोई भी भारतीय भाषा उस से अच्छी रहेगी और लेखक को अधिक तृप्ति देगी।

रही भारतीय अँगरेज़ी की बात। वैसी अँगरेज़ी कोई होगी तो उस अर्थ मे नही जिस अर्थ मे हम आस्ट्रेलियाई या अमेरिकी अँगरेज़ी की बात करते है। अमेरिकी अँगरेज़ी अमेरिका मे जा बसे अँगरेज़ो की सृष्टि थी—वह एक नये परिवेश मे एक प्रकृत उपज थी। भारत में अँगरेज़ी का स्थान क्या तुलनीय है ? अब वह ऐसी धारा है जो मूल

१. श्री राजीव वर्मा द्वारा प्रस्तुत प्रश्नो के लिखित उत्तर। मूल प्रश्नोत्तर अँगरेज़ी मे था। फिल्म और रंगमंच-विषयक दो-तीन प्रश्नों के उत्तर छोड़ दिये गये हैं।

स्रोत से कट चुकी है; उस की प्रगति और उस का विकास नकली और प्राणरहित है। अब उस की तुलना अमेरिकी अँगरेज़ी से नही, हिन्दुस्तानी फारसी से करनी चाहिए। हमारी फारसी बडी मँजी हुई नागर भाषा हो सकती है, पर वह आधुनिक ईरानी नही है। आज जो हिन्दुस्तानी अँगरेज़ी बोलते-लिखते है, हो सकता है कि वे जन्मजात अँगरेजी से भी अच्छी या अधिक शुद्ध एक भाषा बोलते हो, पर भाषा अब अँगरेजी नही रही—वह जीवित भाषा नही है। हिन्दुस्तानी की अच्छी अँगरेजी भी विक्टोरिया युग की अँगरेजी होती है—यानी उस युग की अँगरेज़ी जिस मे मूल स्रोत से एक जीवित सम्पर्क बना हुआ था।

एक और भी कारण है जो 'इडियन इग्लिश' वाली दलील को पोच सिद्ध कर देता है। अमेरिका एक राष्ट्र-समाज है, इसलिए वहाँ एक अमेरिकी अँगरेजी हो सकती है। यो भी कह लीजिए कि वहाँ जिस हद तक एक राष्ट्र-समाज है उसी हद तक एक अमेरिकी अँगरेज़ी है; और जिस हद तक वह राष्ट्र-समाज विखंडित है और परस्पर अस्पर्शी वर्ग-समाजो को प्रश्रय देता है उसी हद तक अमेरिकी अँगरेजी मे भी अलग-अलग अँगरेजियाँ है—असन्दिग्ध रूप से अमेरिकी; उतने ही असन्दिग्ध रूप से अँगरेजियाँ और उतनी ही स्पष्टता से अलग रहती और रहना चाहती हुई। भारत मे एक राष्ट्र-समाज नही, अनेक भाषा-समाज है, इस लिए यहाँ कोई एक इडियन इग्लिश नही हो सकती, यहाँ 'पजाबी इग्लिश' अलग होगी और है, 'बगाली इग्लिश' अलग, 'तमिल इग्लिश' अलग। जब एक भारत-राष्ट्रीय भाषा होगी तभी एक भारतीय अँगरेज़ी भी होगी, तब तक नही हो सकती।

एग्लो-इडियनो के बारे में आप का क्या कहना है? उन की तो मातृभाषा अँगरेजी है और वे उस से सम्पृक्त परिवेश भी बनाये हुए हैं; उसी मे रहते हैं?

मातृभाषा तक तो ठीक। पर क्या परिवेश की बात सही है? क्या जीवित सहज सम्पर्क अभी है? एग्लो-इडियन समाज एक तरफ़ तो इग्लैड को देश मानता और उस का मुँह जोहता हुआ यहाँ के जीवन-सन्दर्भ से कटा रह गया है, दूसरी तरफ वह इंग्लैड की सास्कृतिक परम्परा से पुष्टि नही पा सका क्यो कि वास्तविक अँगरेज़ी परिवेश से

भी उस का सजीव सम्पर्क रहा नही ।

भारतीय अँगरेजी लेखकों के बारे में आप की बड़ी बुरी धारणा जान पड़ती है। क्या उन में से कई सफल लेखक नहीं हैं ?

सफल—हाँ, कुछ सफल अवश्य है। लेकिन किसी लेखक की कृति भारतीय कैसे हो सकती है अगर वह भारत की कोई भाषा नही जानता ? जिस के बारे मे वह लिखता है उसे वह जान कैसे सकता है ? कुछ भारतीय लेखक विदेशो मे प्रसिद्ध हो गये हैं, लेकिन उन की कृतियों की भारत मे तो कोई खास प्रतिष्ठा नही हुई—न मूल अँगरेजी मे; न भारतीय भाषानुवाद मे। और कारण सर्वदा वही एक रहा है—कि रचना पर्याप्त भारतीय नही है : या तो चित्र अधूरा या विकृत है, या सवेदना परायी है ।

एक राजा राव ही अपवाद है शायद। आज के भारत को वह भी शायद अच्छी तरह नही जानते, पर एक पीढ़ी पहले के देश—या उस के एक भाग—को वह गहराई से जानते है। वह अपनी देशी भाषा भी जानते है और जिस जाति या वर्ग की बात उन्होने लिखी है उस की सवेदना से भी वह टूटे नही है। संवेदन के भेद और उस भेद से उत्पन्न तनाव के प्रति वह सजग है—उसे ही तो प्रस्तुत करने का उन्होने प्रयत्न किया है। और इडियन इंग्लिश उन्होने नही लिखी; उस आयास-सिद्ध भाषा को 'ब्राह्मण इग्लिश' शायद कहा जा सके और यही उस का विशिष्ट स्वाद होगा। आर० के० नारायण भी सफल लेखक है, अच्छे भी है और देश मे सम्मानित भी, वह इस लिए कि वह सबसे पहले कहानी कहते हैं—उस कहानी को भाषा से अलग भी किया जा सकता है यानी दूसरे शब्दो या दूसरी भाषा मे भी कहा जा सकता है। राजा राव की कहानी को भाषा मे अलग नही किया जा सकता। इस लिए हिन्दांग्लीय लेखन के सन्दर्भ मे नारायण का उदाहरण कुछ सिद्ध नही करता—न इधर, न उधर। मुल्कराज आनन्द : भारतीय उपन्यास-साहित्य के पाठक उन से बहुत अधिक प्रभावित नही है, और नही समझ पाते कि विदेशो मे उन्हें इतनी प्रशसा किस बात के लिए मिली है।

भाषा की शिक्षा में हमारी शिक्षानीति की त्रुटियों के बारे में आप

की क्या राय है ?

हमारे विद्यालय बालक को कोई भी भाषा अच्छी बोलना नही सिखाते। विदेशी भाषा पर ही आग्रह रहेगा तो कभी सिखा भी नही सकते। बालक को पहले अपनी भाषा अच्छी तरह सीखनी चाहिए, उस का मानक स्वरूप पहचानना और उस का सम्मान करना चाहिए। भारत में जो अँगरेजी सीखते है उन मे ९० प्रतिशत केवल अँगरेजी के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त नही कर सकते। अभिव्यक्ति से मेरा अभिप्राय दैनन्दिन प्रयोजनो की सिद्धि से अधिक कुछ है। जो बालक अपनी पहली भाषा अच्छी तरह नही सीखता, उसे दूसरी कोई भाषा सीखने मे भी कठिनाई होती है। परिणाम ? वह अधिसंख्य समाज से कट जाता है, उन से सम्पर्क नही स्थापित कर सकता।

हम में से जिन्होंने अँगरेजी माध्यम वाले स्कूलों में शिक्षा पायी है, सब की यही हालत होगी ?

ऐसा ही जान पडता है। यह परिस्थिति मैं स्वयं भोग चुका हूँ। मैं ने सस्कृत और फारसी से आरम्भ किया था, पर ये शास्त्रीय भाषाएँ थी; व्यवहार की भाषा के लिए अँगरेजी सिखायी गयी थी—उसी को पढने, लिखने, बोलने पर जोर दिया जाता था। बात यहाँ तक पहुँची थी कि चिन्तन और यहाँ तक कि स्वप्न की भाषा भी अँगरेज़ी हो जाये। पर फिर मै सकल्प-पूर्वक हिन्दी मे लौट आया। इस के लिए कम संघर्ष नही करना पडा, पर आप मानिए कि हिन्दी लिख कर जो तृप्ति मिलती है अँगरेजी से कभी नही मिल सकती थी। कृतिकार अपने माध्यम का उपयोग ही नही करता, उस की सृष्टि भी करता है। और हम जो है उसी की सृष्टि कर सकते हैं।

क्या अँगरेजी के बदले हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए जमीन तैयार हो गयी है ? क्या परिवर्तन का धक्का देश की व्यवस्था सह लेगी ?

हमे जैसी नौकरशाही मिली उस का आघात हम सह ले गये तो कोई

कारण नहीं कि अँगरेज़ी के बदले हिन्दी—या कोई भी भारतीय भाषा—प्रतिष्ठित करने का आघात हम न सह सकें। बल्कि ज़रूरी नहीं है कि हिन्दी ही हो—कोई भी भारतीय भाषा अँगरेज़ी की अपेक्षा अच्छी रहेगी। हिन्दी इस लिए अधिक अच्छी रहेगी कि यह परिवर्तन सब से कम कष्ट-कर होगा—अँगरेज़ी से हिन्दी, किसी दूसरी भाषा के बदले हिन्दी नहीं। राजभाषा विधेयक में जो परिवर्तन हुआ उसे प्रतिगामी ही मानना होगा। निश्चय को हम जितना टालेंगे परिवर्तन उतना कठिनतर ही होगा। टालना कोई हल नहीं है।

जो भारतीय लेखक अपनी भाषा के अलावा अँगरेज़ी भी जानता है, उस की हालत क्या अँगरेज़ी न जानने वाले से अच्छी नहीं है?

कोई भी दूसरी भाषा जानना हमेशा लाभकर होता है: दो भाषाएँ जानने से तीन भाषाएँ जानना अधिक उपयोगी है और इसी तरह और आगे भी। सवाल अँगरेज़ी तक ही सीमित रखना आवश्यक नहीं है। पर आप का सवाल अगर इस से आगे कृतिकार लेखक के लिए किसी लाभ के बारे में है तो उस के दो पहलू हो सकते हैं। पहला यह कि विभाषा-साहित्य के अध्ययन में कृतिकार को क्या लाभ हो सकता है? दूसरा यह कि विशेष रूप से अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन में भारतीय कृतिकार को क्या लाभ हो सकता है? अगर आप का आशय यह दूसरा है, तो मैं कहूँ कि अँगरेज़ी साहित्य का परिचय किसी दूसरे विभाषा साहित्य—उदाहरण के लिए रूसी या फ्रांसीसी या इस्पानी—की तुलना में किसी आत्यन्तिक रूप में अधिक उपयोगी या लाभकर हो, ऐसा नहीं है।

लेकिन अँगरेज़ी का स्थान कुछ तो विशिष्ट है ही—आख़िर वह दो सौ वर्षों से हमारे साथ रही है?

हाँ, मगर फ्रांसीसी और पुर्तगेज़ी भी तो हमारे साथ रही—बल्कि पुर्तगेज़ी कुछ पहले से। यह मैं मानता हूँ कि अँगरेज़ी सीखने में कुछ कम कठिनाई होगी क्यों कि उसे जानने वालों की संख्या अधिक है। पर अँगरेज़ी जानना आत्यन्तिक रूप से अधिक अच्छा हो ऐसा नहीं है। निःसन्देह अँगरेज़ी पढ़ना हितकर है, जैसे कि और भी कोई विभाषा या उस का

साहित्य पढना हितकर है ।

अँगरेज़ी विश्वविद्यालयो मे कोई भी अपने को शिक्षित नही मान सकता बिना अपने साहित्य के अलावा दूसरे यूरोपीय साहित्यो से कुछ न कुछ परिचय के—फ्रांसीसी, जर्मन, स्कैंडिनेवी, रूसी, इस्पानी…और यहाँ भारत मे ? थोडे से अँगरेजी ज्ञान के बाद हम अपने को शिक्षित मान लेते हैं—उस का प्रमाण-पत्र भी पा लेते है । वल्कि यह पूछना ही अनावश्यक समझा जाता है कि किसी भी भारतीय साहित्य का कुछ भी ज्ञान है या नही ?

तब क्या हमें पहले अपने पड़ोसी देशों के—चीन, ईरान, बर्मा वगैरह के—साहित्य से ही परिचित होना चाहिए ? क्या हमारे लिए वे ही अधिक सन्दर्भयुक्त नहीं होंगे ?

यह अनिवार्य तो नही है कि वे अधिक सन्दर्भयुक्त हो । हम ने जैसा भी चाहा होगा, तथ्य यह है कि पश्चिम की ओर से हमारा सम्बन्ध अधिक गहरा और विस्तृत हो गया है । 'पश्चिम की ओर से' का आशय जिसे **वेस्ट** कहा जाता है वही नही, पश्चिम एशिया के देश भी है । हम से पूर्व के देशो को हम ने अतीत युगो मे जितना उन से लिया उस से अधिक दिया; पर हम से पश्चिम के देशो से आदान-प्रदान बराबर होता रहा है और आज भी हो रहा है । मेरा अभिप्राय यह नही है कि हम अपने निकट-तम पडोसियो को अधिक घनिष्ठता से न जाने, वल्कि यह वडे दुःख की बात है कि उन से आदान-प्रदान की प्रणालियो को हम ने इतना सूख जाने दिया । पर पश्चिमी साहित्य की सन्दर्भवत्ता सीधी और तात्कालिक है, जब कि पूर्वी साहित्यो से सन्दर्भ जोडने के लिए इतिहास की मध्यस्थता अपेक्षित है ।

प्रभाव के बारे में आप की क्या राय है ? पश्चिम के साहित्य का भारतीय साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा है ? क्या विभिन्न कला-रूपों की हमारी अवधारणा पश्चिम से मँगनी पायी हुई नहीं है ?

प्रभाव बहुत पडा है . पहले वह केवल अँगरेज़ी साहित्य का रहा पर अब उस मे अधिक वैविध्य है क्यो कि दूसरे कई साहित्यो से भी सम्पर्क

हो गया है—चाहे यह भी अधिकांशतः अँगरेज़ी अनुवाद के माध्यम से ही। लेकिन स्वतन्त्र प्रयोग भी हमेशा होते रहे है और जहाँ तक विभिन्न कला-रूपों या विधाओं का प्रश्न है, सब उधार ली हुई नहीं है। अँगरेज़ी-पढो में ऐसा मानने की प्रवृत्ति जरूर है, पर यह धारणा है गलत और उस से नुकसान भी हुआ है। उपन्यास ही से लीजिए: साधारण प्रवृत्ति है कि भारतीय उपन्यास को अँगरेजी उपन्यास के और उस की परम्परा के साथ जोडा जाय और इस प्रकार इटली की नूवेल्ला के साथ, वगैरह। पर नूवेल्ला से और पीछे चलें तो? **बोकाच्चियो** के पीछे अरवी-फारसी मध्यवर्तियो की ओट मे **कथा-सरित्सागर** है। इसी तरह हम शती के आरम्भिक भाग के भारतीय कवियो पर अँगरेज़ी रोमांटिक कवियो के प्रभाव की वात कहते है और नि सन्देह वह प्रभाव है भी—उस काल के कवियों ने अपनी कालेजी शिक्षा मे मुख्यतया **वर्डस्वर्थ** ही तो पढ़ा था! —पर स्वय यूरोपीय **रोमांटिसिज्म** का गहरा सम्बन्ध पूर्व से है। **जिप्सी** या **रोमनी** लोक-गाथा मे उस प्रवृत्ति ने काफी प्रेरणा ली और **रोमनी** मूलतः प्राचीन भारत की **डोमनी** है। यूरोपीय रोमांटिक आन्दोलन के वहुत-से अभिप्रायो के प्रारूप यहाँ की प्राचीन लोक-गाथा मे मिल जायेंगे —और उन के यात्रापथ की ऐतिहासिक लीकें भी पहचानी जा सकती हैं। हां, इस प्रभाव-क्रम को अँगरेजी द्वारा शिक्षित भारतीय अध्यापक ठीक-ठीक नही समझता। प्रभाव सीधे नही होते, न सीधे समीकरणों द्वारा निरूपित किये जा सकते है; वे अकल्पनीय और आश्चर्यजनक भी हो सकते है। **उपनिषदों** को रोमांटिक काव्य कोई नही कहेगा, पर **दारा-शिकोह** कृत फारसी अनुवाद के फ्रांसीसी अनुवाद को पढ़ कर फ्रासीसी कवि या **एमेनेस्कू** चमत्कृत हो गया तो उस के परिणाम अकल्पनीय ही हुए। एमेनेस्कू की कविता का हिन्दू वीर चरितनायक मरते समय प्रार्थना करता है—**कामदेव** की वन्दना कर के। **कालिदास** की **शकुन्तला** हमारे लिए क्लासिकल नाटक है, पर **शिलर** और **ग्योएटे** की शकुन्तला रोमांटिक नायिका है। तो क्या हुआ? रचनात्मक प्रभाव की अपनी प्रक्रिया होती है: वह नकल या अनुवाद नही होता।

लेकिन क्या आज के भारतीय लेखक उपन्यास की देशीय परम्परा से परिचित होते है?

होने चाहिए। होते भी है—कम से कम जो महत्त्वपूर्ण है वे तो है और मेरा विश्वास है कि यह परिचय और ज्ञान बढेगा ही—जैसे-जैसे हमारा इतिहास का ज्ञान गम्भीरतर होता जायेगा और पूर्वग्रह छँटते जायेगे।

लेकिन उपन्यास की विधा में कोई सचेतन प्रयोग नहीं हुआ, क्या यह सिद्ध नहीं करता कि विधा की कोई सजग चेतना नहीं है?

कोई जरूरी नही है कि कलाकार के सब प्रयोग सचेतन ही हो। प्रयोग आखिर साधन है, मार्ग है। अगर कलाकार जानता है कि वह कहाँ पहुँचना चाहता है तो उस के लिए सर्वोत्तम मार्ग खोज लेता है। यो भी किसी कलाकृति के रूपाकार के तत्त्वो का विचार-विश्लेषण आलोचक का काम है, कृतिकार का नही।

आप ने जब 'शेखर : एक जीवनी' लिखी, तब क्या आप को ध्यान था कि आप उपन्यास की विधा में प्रयोग कर रहे हैं?

मेरा लक्ष्य वह बिल्कुल नही था। चेतना मुझे रही हो—हाँ, कभी-कभी होती भी थी—कि जो मैं कर रहा हूँ वह जो औरो ने किया उस से भिन्न है—यानी जहाँ तक मेरी जानकारी थी। शेखर का जो रूप बना उस के लिए कोई नमूना मेरे सामने नही था। लेकिन यह बोध मुझे था कि मेरे पास कहने को कुछ है, वह कहने की मेरी उत्कट इच्छा थी; वह कहने का जो ढंग मुझे सब से अधिक उपयुक्त लगा वही मैं ने अपनाया।

लेकिन यह तो आप मानेंगे कि जो कहने को है उसे कहने का सही ढंग पता लगाने के लिये पर्याप्त आलोचना-बुद्धि की आवश्यकता होती है?

हाँ, बुद्धि की आवश्यकता होती है—और बुद्धि प्रधानतया आलोचना-धर्मी है।

भारतीय साहित्यालोचन में आप की राय में क्या हम आलोचना

की पश्चिमी परम्पराओं से प्रभावित हैं, और क्या यह स्वस्थ प्रभाव है ?

निश्चय ही हम प्रभावित हैं। और कुछ हो भी कैसे सकता था जब हमारे कालेज जाने वाले अधिसंख्य आलोचक एकान्त उसी परम्परा मे दीक्षित हुए ? लेकिन यह आप को नही भूलना चाहिए कि पश्चिमी परम्परा के भीतर ही भारत की शास्त्रीय परम्परा की अपेक्षा कही अधिक गड़बड़ी और विरोध है। और हम कभी एक सम्प्रदाय से प्रभावित हुए, कभी दूसरे से। कभी मार्क्स का बोलबाला था; दूसरी सामाजिक-आर्थिक प्रवृत्तियाँ भी रही। फिर मनोविज्ञान रहा और मनोविश्लेपण भी आया। आज हम जहाँ है वहाँ दीखता है कि भारत की शास्त्रीय परम्परा और पश्चिमी आलोचना सिद्धान्त अलग-अलग दोनों नाकाफी हैं। यह तो नही कहा जा सकता कि समन्वय का रास्ता हम ने पा लिया है, पर यह अवश्य है कि दोनो को साथ पढ़ना आवश्यक है। एक की कसौटी से पाये हुए मूल्य को दूसरे की कसौटी से परखते चलना ही इस समय सब से अच्छी पद्धति होगी। जब-जब हम ऐसा करते है, हमे नया कुछ मिलता है जो हमारी समझ को गहरा करता है। फिर भी मानना होगा कि सरसरी तौर पर साहित्यालोचन के क्षेत्र मे हम सब पर पश्चिमी पद्धतियाँ हावी हो रही है। विश्वविद्यालयों मे शास्त्रीय आलोचकों के लिए अलग एक साँचा सुरक्षित रहता है, बस।

क्या प्रादेशिक भाषाओं में ऐसे कोई लेखक हैं जिन्हें अखिल भारतीय स्तर का माना जा सके ?

निश्चय ही हैं। सब भाषाएँ सब विधाओ मे एक-सी सम्पन्न नही है। जितनी मेरी जानकारी है उस के आधार पर अनुमान करता हूँ कि इस समय हिन्दी, बांग्ला, मराठी और मलयालम अपेक्षया अधिक सर्जनशील हैं। हिन्दी का काव्य सम्पन्न है; बांग्ला मे बडे उपन्यास अच्छे निकले है, कहानी मे वह शायद आगे नही है।

हाल में किसी ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि भारतीय लेखक की असफ़लता कमिटमेंट की असफलता है—कि उस में

आधारभूत स्वीकारात्मक आग्रह की कमी है। इस बारे में आप की क्या राय है ?

मै नही कह सकता कि असफलता है ही, और है तो उस का कारण कमिटमेट का न होना है। और अगर आधारभूत आग्रह से अभिप्राय पक्षधरता का है, तो असफलता समूची भारतीय परम्परा और जीवन-दृष्टि और यथार्थ-वोध की है। क्यो कि भारत की दृष्टि की यह विशेपता रही है कि हम मानते रहे है कि जो हम मानते है उस से उलटा मानना भी सही हो सकता है। भारतीय दृष्टि से कोई भी स्वीकारात्मक आग्रह सत्य तभी होता है जब वह विरोवी आग्रह का खडन न करे वल्कि उसे भी अपने मे पचा ले। पश्चिम इसे समझने या ग्रहण करने मे अपने को असमर्थ पाता है; उस की दृष्टि अविक कट्टर और आत्यन्तिकतावादी होती है। स्वीकारात्मक आग्रह की कमी उदासीनता भी हो सकती है और सहिष्णुता भी; एक ऋणात्मक है, एक धनात्मक। वह पलायन भी हो सकती है और साहस भी। हमारे श्रेष्ठ लेखको मे पक्षधरता की कमी या 'कमिटमेट की असफलता' वास्तव मे एक धनात्मक मूल्य का आग्रह ही है। वहाँ असफलता नही है, कमी भी नही है, वात इतनी है कि कमिटमेट एक दूसरी मूल्य-दृष्टि के प्रति है। जीवन की उस की सम्पूर्ण और स्पष्टतया स्वीकृत जटिलता से युक्त रूप मे साक्षात्कार करने का सकल्प ही वहाँ है और जहाँ सकल्प है वहाँ कमिटमेट की कमी कैसे है ?

जीवन का रस

समय की दूरी सभी अनुभवों को मीठा कर देती है, तात्कालिक परि-स्थिति मे भले ही वे कितने ही तीखे और कटु हो ! इस लिए आज यह कहना अनुचित न होगा कि जेल की मेरी स्मृतियाँ मधुर ही मधुर हैं—उन अनुभवो की भी जो तव भी मीठे थे, और उन की भी जो उस समय अपनी कटुता के कारण तिलमिला देते थे या आग की एक लकीर-सी मन मे खीच देते थे। और शायद यह कहना भी ठीक होगा कि स्मृतियाँ—कम से कम अधिकांश—कुछ धुँधली भी हो गयी है। और शायद यह धुँधलापन भी माधुर्य का एक तत्त्व होता है क्योंकि जो आज भी पूर्ववत् उज्ज्वल या गहरी है उन्हें ठीक मधुर कहना शायद अनुचित हो—शायद उतना ही अनुचित जितना उन्हे कटु कहना : गहराई का एक आयाम होता है जो अनुभूति को कड़वी-मीठी की परिधि से परे ले जाता है···

चार सौ कैदियों के लिए वनी हुई जेल मे भरे हुए अठारह सौ कैदियों मे से एक जव देखता है कि उस के कुछ साथी भूख-हड़ताल करते हैं, छिप कर मेवा-वादाम खाते है और ग्लूकोज़ का शरवत पीते हैं, और जेल का डॉक्टर उन्हें सहानुभूति दे कर भी परेशान है कि उन का वज़न घटने की वजाय वढ़ता ही जाता है, तव उसे हँसी भी आती है और ग्लानि भी होती है; आज स्मृति मे दोनों ही मधुर है । नये कैदी को पुराने पकड़ कर जेल की धोवी-भट्ठी के सामने मन्दिर कह कर माथा टेकवाने ले जाते है—यह भी उसी कोटि का अनुभव है जिस के कॉलेज-जीवन मे 'फ़र्स्ट यिअर फूल' की खिसियाहट के अनुभव । ऐसा ही है अफ़ीम का चोर-व्यापार करने वाले एक एंग्लो-इंडियन द्वारा विना जाल के पेड पर वैठी चिडिया पकडना सिखाया जाना : दिल्ली जेल मे लाया जाने पर 'गोरा-वारक'

मे उसे साथी पा कर उस से कई अद्भुत बातें सीखी थी जिन मे मुख्य यह थी। अहाते के आम के पेड पर साँझ को बुलबुल आ कर बसेरा करते थे और रात को हम मोमबत्ती के सहारे उन्हे खोज कर हाथ से पकड लेते थे—पहले मुझे विश्वास नही होता था कि ऐसा सम्भव है और शायद मुझ से सुन कर आप को भी न हो—लेकिन मैं ने कई बुलबुल ऐसे पकड कर पाल लिये और उन की बोली ने मेरे एकान्त मे एक अत्यन्त प्रीतिकर व्याघात डाल दिया···इसी प्रसग मे यह भी याद आता है कि जेल के दारोगा आये और बुलबुल देख कर जल-भुन कर खाक हो गये, लेकिन नये क्रान्तिकारी बन्दी को यह कहने का साहस भी न बटोर सके कि वह पक्षी न पालने देगे—उस बन्दी ने दो-तीन दिन पहले शिनाख्त के लिए आये मुखबिर को और उस का बचाव करने के लिए बीच मे पडे मजिस्ट्रेट को पीट दिया था। (बाद मे स्वय भी पिटा था—पर कैदी की कौन आबरू जाती है, उधर कही दारोगा को चाँटा पड गया तो बस!) इस लिए दारोगा साहब खीस निपोर कर अपने बच्चो के लिए बुलबुल माँग ले गये थे। पर अगली परेड पर फिर नये पक्षी वहाँ बैठे हुए थे। अन्ततोगत्वा मुझ को ही दफ्तर बुला कर वहाँ से एक काल-कोठरी मे भेज दिया गया···

ऐसे हल्के-फुल्के अनुभव और भी है। किन्तु गहरे भी अनेक है, कुछ तो इतने गहरे कि अभी तक उन से वह अलगाव नही स्थापित कर सका हूँ जो उन्हे साहित्य की वस्तु बना दे · अभी तक वे मेरे ही अनुभव अधिक है। जिन से तटस्थता पा सका हूँ, उन मे से कुछ 'शेखर' मे आ गये है—कुछ प्रकाशित दूसरे भाग मे, कुछ अप्रकाशित तीसरे मे, कुछ शायद आप को स्मरण भी हो। कुछ कहानियो मे भी आ गये हैं। बूढे बाबा मदनसिंह, फक्कड मोहसिन, फाँसी पाने वाला रामजी · ये सब नाम सच भी हैं, झूठ भी, क्योकि अगर काल्पनिक नही है तो पात्रान्तरित है। यानी एक मदनसिंह से भी मेरा परिचय हुआ था, एक मोहसिन से भी, एक रामजी से भी—पर मेरे परिचय के यथार्थ व्यक्ति और मेरी पुस्तक के पात्र अलग-अलग है। पात्रो के साथ जो घटित हुआ वह वास्तव मे भी कही, किसी के साथ तो घटा, पर उस नाम के व्यक्ति के साथ नही; और प्रायः सब कुछ एक ही व्यक्ति के साथ नही। साहित्य-रचना मे चयन भी है, सम्पुजन भी, सघनीकरण भी : क्योकि सागर के विस्तार को एक

आलोकवेष्टित बूंद के विकिरित आलोक के छोटे से दायरे मे दिखा सकना ही रचना का काम है, लेखक का वह गुण है जिसे 'दृष्टि' कहा जा सके। 'शेखर' की भूमिका मे और अन्यत्र मैंने कहा है कि दु.ख वह दृष्टि देता है; पर ऐसा है तो दु.ख किसी भी तीव्र अनुभूति का नाम है—ऐसी अनुभूति जो संवेदना को, चेतना को, घनीभूत आलोक-रूप दे देती है। रचनाकार की प्रतिभा ढाके की मलमल का पचास हाथ का थान बुनने मे नही है, उसे अँगूठी मे से गुज़ार देने मे ही है, यद्यपि शिल्पी होने के नाते वही मलमल भी बुनता है और अँगूठी तो उस की है ही। मेरे पास रचनाकार होने के नाते क्या है, क्या नही है, यह कहना मेरा काम नही है; जो मेरा आदर्श है वह मैंने बता दिया।

पर आदर्शो की नहीं, घटनाओ की ही बात कहूँ, जिसे आदर्श की चलनी मे से छाना जाता है।

एक हमारे मित्र थे जिन्होने आरम्भ मे हमारी बहुत सहायता की, सौहार्द स्थापित करने के बाद हमे एक कैमरा भी चोरी से ला दिया कि हम लोग अपने फोटो खीच कर बाहर भेज दें क्योकि क्या जाने क्या होने वाला है, भावी इतिहासकार को सामग्री तो मिल जाये! और इस सब मे उन का असली मकसद क्या था? कि सारे फोटो पा कर एक सेट पुलिस को दे दें जिस से उसे शिनाख्त के काम में सुविधा हो जाये और हमारे मित्र को इतनी तरक्की मिल जाये कि वह क़ैदी स्टोर-क्लर्क से बढ कर कैदी दफ़्तर-क्लर्क हो जावें। दफा चार सौ बीस में वह चार साल की कैद काट रहे थे और अनेक सुविधाएँ प्राप्त रहने पर भी उन्हें वह परिस्थिति खलती थी जिस मे अपनी चार सौ बीसी प्रतिभा का कोई उपयोग वह न कर सकें। स्टोर क्लर्की मे कुछ गुंजाइश तो थी, पर ऐसे पढे-लिखे प्रतिभाशाली ठग के लिए वह अयथेष्ट थी—दफ़्तर की क्लर्की मे तो अनेक सम्भावनाएँ भरी थी! हमारे साथ उन्हे सफलता नहीं मिली क्योकि हम ने उन्हे बताने से पहले फोटो ले कर फिल्म आदि सब अन्य साधनों से बाहर भेज दिये और तब कैमरा उन्हे लौटाया कि 'उस से कुछ काम नही हो सकता—बारक मे फ़ोटो लेना जोखिम का काम है'। वह ऐसा खिसियाये कि घण्टे भर बाद ही हमारी तलाशी हो गयी—शायद उन्होंने सोचा हो कि फिल्म अभी जेल मे ही है! पर बेचारे तरक़्की पाने से रह गये।

एक और घटना याद आती है: वह दूसरी कोटि की है। उस पर

हँसा भी जा सकता है, और उसे जुगुप्सा-जनक भी माना जा सकता है, पर मैं हँसता नही हूँ, न झिझकता हूँ : गहरी मानव अनुभूति मे अपनी एक अक्षुण्ण, अभ्रंश्य पवित्रता होती है जिसे दर्शक की क्षुद्रताएँ छू नही सकती ।

हमारे वार्डरो मे, जो हथियारबन्द अतिरिक्त पुलिस से बदल कर दिये गये सिपाही थे—एक युवक था जो गाता था । प्राय. ड्यूटी पर वह कोई तान छेड़ देता . उस का गला मीठा था और उस मे वह गुण पर्याप्त मात्रा मे था जिसे 'सोज' कहते है । हमारे वारक के साथ ही जनाना वार्ड का पिछवाडा था और वार्डर की दौड़ दोनो के बीच होती थी । जनाना वार्ड मे एक 'पगली' थी जिस की चीख-चिल्लाहट हम प्राय. सुनते थे—इसी से हम उसे पगली जानते थे, यद्यपि यह भी हो सकता है कि वह केवल एक दबंग विद्रोहिणी नारी रही हो । जो हो, वार्डर का गाना सुनते ही वह शान्त हो जाती थी और कभी-कभी उत्तर मे गाने भी लगती थी ।

हम लोग इस रोमास का रस लेते थे । रस कही भी लिया जा सकता पर जेल मे दूसरो के रोमास मे कुछ अतिरिक्त दिलचस्पी हो जाना स्वाभाविक है । क्रमश. बात फैल गयी, अन्त मे वार्डर की बदली की आज्ञा आ गयी । अपनी अन्तिम ड्यूटी पर, जब उस के जवाब मे वह स्त्री गाने लगी तो, उस ने पुकार कर कहा : "अब क्या गाना—आज रुखसत है ।" इतना हम लोगो ने भी सुना, उस के बाद सन्नाटा-सा रहा और हम ने बात खत्म समझी । पर थोडी देर बाद बाहर गुल-गपाडा सुन कर हम लोग अहाते मे निकल आये । शोर जनाना वारक के भीतर से आ रहा था, हमे उस की बाहरी दीवार और ऊपर दो-एक रोशनदान दीखते थे और हम जो कुछ समझ सके वह इन्ही से छन कर आने वाले शोर से, और जो देख सके उस से ।

वह स्त्री भीतर न जाने कैसे रोशनदान तक चढ गयी थी और उस के सीखचे पकड कर और एक टाँग भी उन मे अडा कर लटक रही थी। अपनी साडी को कदाचित् उस ने कमन्द के काम मे लगा दिया था । भीतर नीचे वार्डरानियाँ और दूसरी कैदिने चिल्ला रही थी, उसे उतारने की जुगत कर रही थी । और वह मानो इन सब से असम्पृक्त बाहर को देख रही थी । वार्डर नीचे था, स्त्री ने उसे आवाज दी, सीखचो से हाथ बाहर बढाया पर वह पहुँच से बहुत दूर था, फिर सहसा उस ने झटके से

अपनी चोली फाड़ कर वाहर गिरा दी, वार्डर ने उसे उठा लिया और दोनों एकटक एक-दूसरे को देखते रहे। तभी—भीतर शायद सीढी मँगा ली गयी थी—स्त्री को पीछे खीच लिया गया और शब्द से हम पहचान सके कि उसे पेटियों से पीटा जा रहा है...

उसी रात वार्डर की वदली हो गयी, दो-एक दिन वाद स्त्री भी कही भेज दी गयी—शायद उसे सज़ा हो गयी।

घटना इतनी ही है; और इसके वारे मे कुछ कहना न आसान है, न उचित; इतना ही कि मेरे निकट यह भी वैसी एक सोने की अँगूठी है जिस मे से गज़ो मलमल गुज़ारी जा सकती है—और उस मलमल से वड़ा लम्वा-चौड़ा प्रपंच फैलाया जा सकता है। पर घटना मे निहित मानवीय भावना का जो सत्य है उस का और कुछ नही किया जा सकता सिवा उस को चुप-चाप स्वीकार करने के। विज्ञान मे किसी वस्तु को हल्का करने के लिए उसे विरल करते हैं और तव वह उड़ सकती है, पर मानवीय सवेदना में उस की सघनता ही उसे एक स्तर पर ले जाती है जव वह धरातल से उठ कर एक दिव्य वस्तु हो जाती है।

मैं ने कहा कि समय की दूरी पर सभी कुछ मीठा है क्योकि सभी कुछ धुंधला भी है—पर जो धुंधला नही है, उसे मीठा कहना उतना ही ठीक या वेठीक है जितना उसे कड़ुवा कहना। वह प्रोज्ज्वल है और इन छोटे रसो से परे है—जीवन का रस कड़ुवा-मीठा कुछ नहीं है, वह राम-रस है जिस मे सव रस समाये है।

कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा[1]

नये और पुराने लेखक या कवि की तुलना करें तो एक उल्लेखनीय अन्तर हमे दीखता है। पुराने जमाने के कवि सिवा अपने कुल-परिचय के अपनी अधिक चर्चा नही करते थे। वह कुल-परिचय भी एक परम्परा का निर्वाह-सा होता था, और उस के अलावा शायद उस का एक कारण यह भी था कि उस काल के कवि मौखिक परम्परा से चलते थे और उस मे कृतिकार का नाम-पता बताने का यह साधन हो सकता था कि उसे भी काव्य का अग बना दिया जाये। किन्तु इस आधार पर जहाँ एक ओर हम मानते हैं कि प्राचीन कवि आज के कवि से अधिक शालीन और शीलवान् था क्योकि आत्म-चर्चा कम करता था, वहाँ दूसरी ओर हम प्राचीन साहित्य मे इतनी और ऐसी गर्वोक्तियाँ भी पाते है जिन की आज का कवि कल्पना भी नही कर सकता—कितना भी अहमन्य हो कर भी वह अपने विषय मे वैसे दावे नही कर सकता।

इस अन्तर का एक समाधान तो यह है कि प्रत्येक काल मे कवि

१ सागर की साहित्यिक सस्था 'रचना' के आमन्त्रण पर सस्था द्वारा निश्चित विषय 'मैं और मेरी रचना' पर दिये गये भाषण का परिशोधित लिखित रूप। भाषण का अधिकाश सस्था द्वारा उसी समय फीते पर रेकार्ड कर लिया गया था, उसी से प्रतिलेखन कर के इस का मूल रूप प्रस्तुत किया जा सका। जैसा कि भाषण मे स्पष्ट कहा गया था, निर्धारित विषय के अधीन सीधे-सीधे अपनी या अपने लेखन की चर्चा न कर के उस पृष्ठ-भूमि अथवा सदर्भ की चर्चा ही वक्ता को अभीष्ट थी जिन मे वह रहा है अथवा लिखता रहा है।

भाषण के अन्त मे कुछ प्रश्न भी पूछे गये थे। जिन की तात्कालिक से अधिक कुछ उपयोगिता जान पडी, उन्हे भाषण के लिखित रूप मे समाविष्ट कर लिया गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपनी क्षतिपूर्ति कर लेता है। कृतिकार एक दिशा में अपने को संकुचित करता है तो दूसरी दिशा मे अपने को फैला लेता है। प्राचीन काल के कवि का आत्म-सकोच और आत्म-विस्तार एक प्रकार का था, आज का कवि दूसरे ढग से अपने को संकुचित करता है तो आत्म-तुष्टि अथवा अहं-पुष्टि के दूसरे मार्ग अपना लेता है।

निस्सन्देह यह मनोवैज्ञानिक निदान भी अपना मूल्य रखता है। पर मेरी समझ में प्राचीन और आधुनिक कवि की परिस्थिति में एक बहुत बड़ा अन्तर है। परिस्थिति के इस भेद को, और कवि-कर्म पर उस के प्रभाव को समझना बहुत जरूरी है।

मै यह कहना चाहता हूँ कि कवि-कर्म कभी किसी युग में इतना कठिन नही रहा जितना वह आज है—नये कवियो को आये दिन नयी वाढ के वावजूद। ऐसा क्यो? इस लिए कि कवि कभी किसी युग मे अपने पाठक से, अपने ग्राहक से [ग्राहक अर्थात् गृहीता, गाहक नही] इतनी दूर नही रहा जितना वह आज है—या तो सचमुच इतनी दूर नही रहा जितना वह है, या दूरी का इतना तीव्र अनुभव नही करता रहा जितना आज करता है। सम्भव है कि वह वास्तव मे उतना दूर न हो, कि उसे केवल दूरी का वोध हो और वह वोध अतिरंजित हो या निरा भ्रम हो। लेकिन यह तथ्य है कि आज का लेखक यह महसूस करता है कि वह अपने पाठक से अपेक्षया दूर है, या दूर होता जा रहा है, या कुछ देर वाद दूर हो जायेगा···यह अनाश्वस्त अवस्था आज के कवि की विशेष परिस्थिति है। उस मे एक आशंका, एमेर्जेंसी अथवा आसन्न सकट की एक भावना निरन्तर रहती है और इस का गहरा प्रभाव उस के लेखन पर पड़ता है। हमे न केवल इस परिस्थिति को ध्यान मे रखना चाहिए वरन् उस के कारणों पर भी विचार करना चाहिए।

क्षेत्र-विस्तार और परिधि-संकोच

स्थिति के कारणो के विश्लेषण मे मेरी राय मे सवसे पहला स्थान साहित्य-क्षेत्र के रूप-परिवर्तन को देना चाहिए। ऊपर मैंने जिस क्षतिपूर्ति की वात कही है, वैसा ही कुछ सन्तुलन साहित्य-क्षेत्र मे भी दीख सकता है और इस लिए एक साथ ही दो परस्पर-विरोधी जान पडने वाली वातें भी कही जा सकती है—एक तो यह, कि साहित्य का क्षेत्र विस्तृत हो गया है; और दूसरी यह, कि उस की परिधि संकुचित हो गयी है।

किन्तु अपने-अपने ढंग से दोनो सही है, और आज के कृतिकार की स्थिति के निरूपण के लिए दोनो प्रकार की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है।

पहले क्षेत्र-विस्तार की प्रक्रिया को लें। पुराने जमाने के कवि या तो जन-कवि होते थे, या राज-कवि होते थे। जन से अर्थ आधुनिक राजनीतिक जन अथवा 'मासेज' नही है, लोक अथवा फोक है। जन-कवि अनाम अथवा अज्ञात-नाम होता है; जन-काव्य इस अर्थ मे 'स्वयम्भू होता है कि उसकी रचना को देश-काल के किसी एक विन्दु के साथ नही बाँधा जा सकता। असम्भव नही कि प्राचीन काल मे नाम के विषय मे जो दोहरी प्रवृत्ति हम पाते है उसका वास्तविक समाधान यही हो कि वे दो अलग-अलग काव्यों की प्रवृत्तियाँ है—नामाग्रही प्रतिभा-गर्वित राज-कवि और अज्ञात-कुलशील, नाम-हीन जन-कवि जिस की रचना यदि शिक्षित वर्ग मे पहुँच कर आदृत हुई भी तो 'कस्यचित्कवेः' हो कर ही सुभाषित-भाण्डागारो मे भर ली गयी···जो हो, प्राचीन काल में ऐसा शायद कोई नही हुआ जिस ने जन-कवि और राज-कवि दोनो नाम या दोनो के उत्तरदायित्व निवाहे हो। न उस काल के समीक्षक अथवा पाठक ने—और न ही आज के समीक्षक ने—उन से यह माँग की कि वे अनिवार्यतया यह दोहरी माँग पूरी करे। किन्तु आज परिस्थिति यह है कि हम कवि से चाहते है कि वह एक साथ ही जन-कवि भी हो और राज-कवि भी हो। और आज इस बढी हुई माँग ने उग्रतर राजनीतिक रूप भी लिया है जिस के अनुसार इन शब्दो के अर्थ बदल गये है और माँग न केवल बढ गयी है बल्कि कही अधिक कड़ी भी हो गयी है। इस लिए जन-कवि न कह कर जनता-कवि, और राज-कवि न कह कर राज्य-कवि कहना कदाचित् अधिक उचित हो। जन अब लोक न रह कर जनता है, और राज्यो की बढती हुई शक्ति ने राज-सत्ता का रूप भी बदल दिया है। फलतः आज एक ओर यह आग्रह है कि कवि अथवा साहित्यकार को जन अथवा जनता का होना चाहिए और दूसरी ओर यह भी है कि राज्य के प्रति उस के जो कर्तव्य हैं उन का निर्वाह होना चाहिए, क्योंकि राज्य भी जन-राज्य है। इस दोहरी आशा से कही-कही तो बलात् कोशिश की जाती है कि कवि को ठोक-पीट कर जन-कवि या राज्य का कवि या एक साथ ही जन-कवि और राज्य-कवि बनाया जावे। इस का परिणाम यह होता है कि कवि न तो जन का रहता है और न राज्य का। वह जन-चारण या राज्य-चारण हो जाता है—या एक साथ ही जन-चारण और राज्य-चारण। यह समस्या, हो सकता है

कि हमारे देश मे ऐसी तात्कालिक न हो, केवल दूर की सम्भावना हो। क्योंकि यहाँ बलात् नियमन का खतरा, कम से कम अभी, नही है। पर कुल मिला कर आज के साहित्य की परिस्थिति में ऐसी प्रवृत्ति बढती ही जा रही है, और हमारे देश की प्रगति भी इस का अपवाद नही है, यह मानना होगा।

स्थिति का और भी अद्‌भुत पहलू यह है आज का कवि स्वयं यह मान लेता है कि उस को जन-कवि या राज्य-कवि होना है। ऐसे लेखक क्रमशः कम होते जा रहे हैं जो यह कहे कि साहित्यकार का उत्तरदायित्व सब से पहले अपने प्रति है, दूसरों के प्रति बाद मे है या परिणामतः है। आज की परिस्थिति मे ऐसा कहना सफलता का नुसखा नही है; इस लिए इस बात को कहने की आवश्यकता बहुत कम लोग मानते है—वे भी नही, जो मन ही मन इसे सही मानते होगे।

विस्तार का एक पक्ष और भी है। हमारे समाज-जीवन मे जन का महत्त्व क्रमशः बढता गया है। पुराना जो समाज-संगठन था, उन्नति के साथ-साथ उस में साधारण जन का स्थान ऊँचा उठता गया है। कलाओ मे और संस्कृति मे उसे अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है, और उचित ही दिया जाने लगा है—मैं मानता हूँ कि यह औचित्य निरी अनिवार्यता से गुरुतर और दृढ़तर आधार पर टिका है। किन्तु इस का एक अप्रत्यक्ष प्रभाव साहित्यिक प्रतिमानो या मूल्यो पर भी हुआ है। जन या लोक नाम की समष्टि मे लोगों या अंगों की संस्कारिता के कई अलग-अलग स्तर हैं, कुछ अधिक संस्कृत हैं, कुछ कम, कुछ और भी कम; कुछ पढ़े-लिखे हैं, कुछ साक्षर है, कुछ साक्षर से भी ज़रा नीचे ही—पर इन सब का एक-सा दावा कलाओ पर, सस्कृति पर और साहित्य पर हो गया है। और अब यह नही कहा जाता, और प्राय. माना भी नही जाता, कि यह दावा बिलकुल निराधार है। समान सुविधा और समान पैठ को पर्यायवाची ही मान लिया जाता है—न भी माना जाता हो तो इन के अन्तर पर बल तो नही दिया जाता। किसी समय भरत यह बता सकते थे कि समाज मे बैठने और काव्य-रस ग्रहण करने का कौन अधिकारी होता है, उन न्यून-तम गुणो की तालिका बना सकते थे जो काव्य-रसिक के लिए अनिवार्य माने जाते थे। वह परिस्थिति अब नही रही। आज यह प्रश्न उठाना, कि आप काव्य सुनने या साहित्य पढने के अधिकारी भी है या नही इस की परीक्षा होनी चाहिए, साधारणतया अनधिकार चर्चा मानी जावेगी। कोई

साक्षर है तो वह पढने का अधिकारी है ही, ऐसा मान लिया जाता है। और न केवल पाठक ऐसा मानता है जो ऐसा मान कर एक अधिकार अपने ऊपर ओढ ले सकता है, वल्कि लेखक भी ऐसा मान लेते है जो इस प्रकार अधिकार नही, केवल उत्तरदायित्व ओढते है। हम चाहे तो इसे नयी लोकतन्त्रवादी अथवा मानवतावादी प्रवृत्ति का एक पहलू मान ले सकते है कि ग्राहक (और समीक्षक) के जिस कम-से-कम संस्कार की माँग पहले की जाती थी, आज उस पर वहुत कम ध्यान दिया जाता है, आज कवि से ही अधिक माँग की जाती है। पाठक से नही कहा जाता कि वह काव्य सुनने या पढने का पात्र वने; लेखक से कहा जाता है कि वही जो नही भी सुनना चाहता है उस को भी सुना सकने का अधिकारी वने—कि वही अपने काव्य को ऐसा वनाये कि जो नही सुनता है, जो सुनने के योग्य नही है, वह भी सुने—क्योकि उस को योग्य वनाने मे लेखक का भी कुछ कर्तव्य है···

यहाँ मैं कोष्ठको मे—अथवा स्वगत—यह कह देना चाह सकता हूँ कि लेखक के दायित्व के रूप-परिवर्तन की इस क्रिया मे मैं एक सन्धि-स्थल का लेखक हूँ : जहाँ पर राज-सन्दर्भ से विद्रोह के द्वारा मुक्ति मिल गयी है, पर जन-सन्दर्भ को रूढि ने दासत्व-शृखला-सा जकड नही लिया है। पर मै अपने को जैसे या जहाँ देखता हूँ, आवश्यक नही है कि इतिहास भी वैसे या वही देखे; अपनी स्थिति का मेरा यह निरूपण तथ्य का नही, उद्देश्य या आशा का ही प्रतिचित्र हो सकता है।

अभी तक साहित्य के क्षेत्र-विस्तार की वात होती रही है। अव उस विरोधाभास की चर्चा प्रासगिक होगी जिस का सकेत ऊपर किया जा चुका है। साहित्य के क्षेत्र-विस्तार के साथ-साथ कवि-कृतिकार की परिधि मे सकोच भी होता गया है। यह परिधि-सकोच उस ने स्वेच्छया नही किया : उस की लाचारी से ही हुआ है। उस ने यह अनुभव किया है कि वर्तमान स्थिति मे कोई भी कवि ऐसा कुछ नही कर सकता है जिसे सव समान रूप से समझ सके, और वह समान रूप ठीक वही हो जो कवि समझाना चाहता है। तव उस के सामने यह विकल्प होता है कि या तो वह उतना ही, वैसा ही, वैसे ही कहे जितना, जैसा और जैसे सव लोग समझ सके, और जिसे वह अपना महत्त्वपूर्ण कथ्य मानता है। उसे छोड़ दे या स्थगित कर दे; या फिर उसे जो कहना है, जो उसे महत्त्वपूर्ण मालूम होता है, उसी को कहे—

जितने भी लोग उसे समझें और ग्रहण करें उन्ही के लिए कहे, और आगे यह आशा करे कि उन समझने वालों के सहयोग या उन की मध्यस्थता से दूसरे भी समझेंगे ।

मैं कहूँ कि मैं उन अल्पसंख्यको मे से हूँ जो कि दूसरा विकल्प अपनाते है, और मानते है कि वही उचित है। जो मुझे कहने के योग्य जान पड़ा है, उसे मैं न कहूँ ऐसी स्थिति मे मैंने भरसक अपने को नहीं डाला है। उस को कम ही लोग समझेंगे इस लिए उस से इतर कुछ कहूँ या उस मे पानी मिला कर उसे वितरित करूँ, यह प्रयत्न मैंने भरसक नहीं किया है। जो मुझे नही कहना है, जो मेरे निकट अयोग्य, अनुपयुक्त, असार, असुन्दर, असत् या असत्य है, वह कहने की विवशता या प्रलोभन में पड़ूँ, इस से मैं भरसक बचा हूँ। मैं जानता हूँ कि मैंने इस से भिन्न मार्ग अपनाया होता तो एक अर्थ मे कही अधिक 'सफल' हुआ होता। उस सफलता के न मिलने का मुझे दुःख नही है, क्योकि वह मेरी अभीष्ट ही नही थी। मैं यह भी जानता हूँ कि अन्य अनेक प्रकार की युक्तियो के अलावा जन के नाम पर भी मेरी इस—इस चाहे तो प्रवृत्ति कह लीजिए, चाहे आदर्श, चाहे हठ, चाहे साधना—का विरोध हुआ है। ऐसा विरोध भी परिस्थिति की एक देन है और मुझे उसे ग्रहण करना चाहिए, यह मैं ने माना है। अपने सन्तोष के लिए जनवाद के पैगम्बर का सन्दर्भ भी मेरे पास रहा है : लेनिन का ही कहना था कि अधिक लोगों की समझ मे आ सके इस लोभ से सही बात को सस्ता वल्गराइज़—नहीं करना चाहिए : एक बार समझ न आने पर दस बार उस की आवृत्ति करे, पर कहें सही बात : 'आन्दोलन का निचोड़ है आवृत्ति'। लेखक के नाते मैं कहाँ तक अपनी बात की आवृत्ति कर सकता हूँ या कहाँ तक आवृत्ति—जो राजनीतिक आन्दोलन का अग है, राजनीतिक कर्मी का कर्तव्य है—साहित्य का अंग हो सकती है, यह मेरे लिए चिन्त्य हो सकता है, पर इसे मैं निःसंशय भाव से जानता हूँ कि सच को लोकप्रिय बनाने के लिए उसे वल्गराइज़ नही करना चाहिए, क्योकि उसी मे वह झूठ हो जाता है। एक तरह से मैं यह भी समझता हूँ कि मेरा यह विश्वास, मेरे आज के और भविष्य के पाठक मे मेरी आलोचक से अधिक श्रद्धा और सम्मान का चिह्न है। क्योकि मैं मानता हूँ कि जो आज नही भी समझा है वह कल समझेगा · और यह आवश्यक नहीं समझता हूँ कि मैं आज ही ऐसा मान लूँ कि जो आज मेरी बात नही समझता है वह कल भी नही समझेगा, और इस लिए मैं

आज ही अपनी बात घटिया ढंग से कहूँ—या बात ही घटिया कहूँ।

जिस परिधि-सकोच की बात मैंने कही है, यह नही है कि उस के भीतर अपने लेखन-कर्म की कठिनाई का मैंने अनुभव नही किया है, या कि तीव्र मानसिक सन्ताप और संघर्ष के क्षण मैंने नही जाने है। पर कला यदि सत्य की उपलब्धि का या उस की सूचना का एक साधन या माध्यम है, और कलाकार यदि उस की इस माध्यमिकता की रक्षा का अपना कर्तव्य न भूले, तो उस की समस्या हल हो कर ही रहेगी और इसी निष्ठा के सहारे उस का पथ विशद हो जावेगा, ऐसी मेरी श्रद्धा है।

माध्यम की मर्यादा

दो-एक बातें मैं साहित्य के माध्यम अर्थात् भाषा के विषय मे कहना चाहता हूँ: वह भी हिन्दी के विधिवत् शिक्षित विद्यार्थी के, या अधीत पाठक के भी नाते नही, लेखक के नाते।

मुझे एक लेखक की हैसियत से यह बात कहने की जान पडती है—विश्वविद्यालयो मे जो पढाया जाता है यह उस के सर्वथा विपरीत है—कि विभिन्न कलाओ के जितने भी माध्यम है, भाषा का माध्यम उन मे सब से अधिक कृत्रिम है। संगीत के सुर होते है, उन का अपना एक मूल्य होता है जो गायकी मे उन के उपयोग से स्वतन्त्र है। सुर का उपयोग या दुरुपयोग उस के आत्यन्तिक मूल्य को नही बदलता। इसी प्रकार चित्रकला के रग या मूर्तिकार के मिट्टी-पत्थर, रत्न-धातु आदि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और सत्ता रखते है। किन्तु भाषा एक ऐसा माध्यम है जिस मे आत्यन्तिक या स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला कुछ भी नही है। शब्द का आत्यन्तिक या अपौरुषेय अर्थ नही है · अर्थ वही और उतना ही है जितना हम उसे देते है बल्कि देने की प्रतिज्ञा कर लेते है। दूसरे शब्दो मे ('दूसरे शब्दो मे कहना' ही अर्थ का आरोप करना है!) शब्द का अर्थ एक सर्वथा मानवीय आविष्कार है, तो एक समय है; जितने अर्थ है सभी तदर्थ है। हम ने मान लिया है कि अमुक एक शब्द-सकेत का अर्थ अमुक है, उस से भिन्न कुछ मान लेते तो दूसरा हो जाता। इतना ही नही, हम ने जो मान लिया है, उस पर भी बराबर कायम नही रहते; अर्थ थोड़ा उन्नीस-बीस होता ही रहता है और फिर ये ऊनार्थ और अध्यर्थ शब्द का सस्कार या इतिहास बन कर उस मे एक और नया अर्थ जोड़ देते है। इस दृष्टि से भाषा, कला के माध्यमो मे सब से कमजोर है।

इस का यह अभिप्राय न समझा जाय कि जो पढाया जाता है उसे मैं बिल्कुल अमान्य कर रहा हूँ। यह बात भी नितान्त भ्रमपूर्ण नही है कि अन्य कलाएँ स्थूल अथवा मूर्त साधनो पर निर्भर करती है इस लिए संगीत और काव्य, जिन के साधन सूक्ष्म और अमूर्त है, उच्चतर कोटि के है। (यद्यपि इतने ही से इन दोनो का पद-निर्णय अन्तिम रूप से नही हो जाता—दोनो की उच्चता के समर्थन के लिए और युक्तियाँ दी जा सकती है। संगीत शुद्ध स्वर पर निर्भर है, पर काव्य शब्द मे अर्थ की अपेक्षा रखता है, इसी एक युक्ति को दोनो के समर्थन मे लगाया जा सकता है।) किन्तु जहाँ तक काव्य का प्रश्न है, इस बात का महत्त्व समझना आवश्यक है कि उस का माध्यम सर्वथा मानवीय है। भाषा सब से कमज़ोर साधन है, इस का यह अर्थ नही है कि काव्य सब से कमज़ोर कला है। बल्कि जिस स्तर पर संगीत अपने सूक्ष्म साधन मे अर्थ की अपेक्षा मे मुक्त हो जाता है और एक आत्यन्तिक मूल्य—स्वर—पर आधारित होता है, काव्य उस स्तर पर भी ऐसा कोई आधार न ले कर मानव-प्रदत्त अर्थ की अपेक्षा किये रहता है, मेरी दृष्टि मे यही उस की महत्ता है—यह इतना बडा उत्तरदायित्व ही उस की शक्ति का उद्गम है। कही, कभी, किसी स्तर पर भी काव्य-कला मानवेतर या मानवापर कुछ का सहारा नही लेती है या चाहती है, यही उस का सारभूत सत्य, उस का स्वभाव या शील है। मुझे यह बात विशेष रूप से कहने की जान पडती है। लेखक के लिए तो इस का सर्वोपरि महत्त्व है कि वह अपने माध्यम की शक्ति और मर्यादा को समझे। शिक्षा-पद्धति मे भाषा के इस पहलू की उपेक्षा, और मूल्यांकन के लिए इस से होने वाली सैद्धान्तिक उपलब्धियाँ, इस का महत्त्व और बढ़ा देती है।

अपनी इस दुर्बलता या विशेषता के—विशेषता से उत्पन्न दुर्बलता के—कारण भाषा कला-साधनो मे ऐसी है जिस का सबसे अधिक आसानी से दुरुपयोग किया जा सकता है। भाषा की शक्ति का आज जितना दुरुपयोग दुनिया मे होता है, मेरी समझ मे उतना किसी युग मे न हुआ होगा। और आज जब शब्द को जन तक पहुँचाने के साधन—रेडियो, माइक्रोफोन और लाउडस्पीकर इत्यादि—इतने विकसित हो गये है, शब्द को दूर-दूर तक पहुँचाया जा सकता है और अविराम दुहराया जा सकता है—यानी जब शब्द के उपयोग की सम्भावनाएँ बहुत बढ गयी हैं—तब उस के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ भी उसी अनुपात मे बढी है''' इस खतरे

को देखना और इस के प्रति सतर्क होना मैं आज के लेखक का कर्तव्य समझता हूँ। और मुझे कभी-कभी यह देख कर क्लेश और दुःख होता है कि भाषा का ठीक उत्तरदायी ढग से उपयोग करने वाले लेखक हिन्दुस्तान मे और हिन्दी मे दिन-दिन कम होते जा रहे है।

लेखक के नाते अपने माध्यम को मैं इसी सन्दर्भ मे देखता हूँ। मैं हिन्दी भाषा लिखता हूँ। बहुत से लोग ऐसा मानते है कि मेरी मातृभाषा हिन्दी नही है। मेरे पूर्वज पजाव के रहने वाले थे और मेरे माता-पिता आपस मे अधिकतर पजाबी ही बोलते थे। मैंने सब से पहली भाषा हिन्दी ही सीखी। यो मेरा जन्म भी हिन्दी की एक बोली के प्रदेश मे हुआ और बोलना सीखने की आयु के तीन-चार वर्ष मैंने हिन्दी की ही एक दूसरी बोली के प्रदेश मे बिताये। जिन आलोचको को ये तथ्य ज्ञात हैं, उन मे से कुछ को मेरी भाषा मे 'पूर्वी प्रभाव' मिलते है, कुछ को 'पजाबी प्रयोग'। कम से कम एक बार तो ऐसा भी हुआ है कि एक ही विद्वान् को, पहले कुल-परिचय के कारण केवल पजाबी प्रभाव दीखे और अनन्तर जन्म-स्थान की सूचना मिलने पर केवल पूर्वी प्रभाव!

कौन से, या कौन-कौन से प्रभाव मेरी भाषा से लक्षित होते है, मैं नही जानता, उपर्युक्त दोनो भी हो सकते है। और सम्भव है कि अन्य प्रभाव भी हो, और हो तो उस मे कुछ अनौचित्य भी मुझे नही दीखता। इतना ही कहूँ कि अपनी विशेष परिस्थितियो के कारण मैंने हिन्दी को कुछ अधिक उत्तरदायी ढग से ग्रहण किया—आप चाहे तो यो कह लीजिए कि वैसा मुझे करना पडा। मातृ-भाषा मान कर उस की जितनी अवज्ञा की जा सकती थी, वह मैंने नही की। भाषा मान कर उसे पढ कर, समझ कर, सही सस्कारी ढग से उस का संयत और नियन्त्रित उपयोग कर के जो किया जा सकता है, भरसक वही मैं करता रहा।

जीवन की विशेष परिस्थितियो ने सुविधाएँ भी मुझे दी, कठिनाइयो मे भी मुझे डाला। इन मे एक यह भी थी कि किसी भी मातृ-भाषा या बोली से मेरा घनिष्ठ सम्पर्क नही रहा। आरम्भिक बचपन के बाद अधिकतर हिन्दी प्रदेश के बाहर ही रहता रहा, और वह भी लगातार किसी एक भाषा के प्रदेश मे नही। इस लिए जिसे वास्तव मे जन-भाषा या मातृ-भाषा कहा जा सके ऐसी किसी भी भाषा से मेरा सम्बन्ध न हुआ—या कि इतनी भाषाओ से हुआ कि उस का उल्लेख अनावश्यक हो गया। पर इस से यह लाभ भी मुझे हुआ कि हिन्दी—ऐसी हिन्दी जो लिखी-

पढी जाती है और बोली भी जा सकती है, ऐसी हिन्दी जिस के लिखे, पढे और बोले जाने वाले तीन अलग रूप नही है वल्कि एक ही सहज स्वरूप है—ऐसी हिन्दी का मेरा अभ्यास कुछ अधिक हो गया। और यह इस के बावजूद कि पहले-पहल बोलना हिन्दी मे सीखने के बाद मेरी शिक्षा आरम्भ से ही क्रमशः संस्कृत, फारसी और अँगरेज़ी मे हुई।

इस लिए यद्यपि मैं मानता हूँ कि मेरा जीवन दूसरी तरह का रहा होता तो मुझे कुछ और लाभ भी हुए होते या हो सकते, यह मैं नही मान सकता कि परिस्थिति से मुझे क्षति ही क्षति हुई। और मैं समझता हूँ कि—अच्छी ही हिन्दी लिख लेता हूँ···परिस्थिति की इस देन को गर्वोक्ति न समझा जाये।

द्विवेदी-युग मे भाषा के बारे मे जो सजगता और आग्रहशीलता थी वह आज नही है। यह ठीक है कि उस युग मे भी जो आग्रह था वह आज की स्थिति मे पर्याप्त न होता, क्योंकि उस समय व्याकरण-शुद्धि पर और भाषा के प्रतिमानीकरण पर ही अधिक बल दिया जाता था, और भाषा अथवा शब्द का संस्कार व्याकरण-शुद्धि से अधिक बडी और गहरी बात है। किन्तु द्विवेदी-युग का आग्रह तत्कालीन आवश्यकता के सन्दर्भ मे यत्प्रमाण ही था। और उस युग के भी कुछ कवियो ने तथा बाद के कई कवियों ने इस बात का गहरा अनुभव किया कि भाषा लिखने मे व्याकरण-शुद्धि से अलग भी या अधिक भी कुछ चाहिए। किन्तु छायावाद के बाद यह चेतना क्रमशः क्षीणतर होती गयी है। परवर्ती वादो का नाम लेना उचित नही है, क्योंकि इस कुप्रवृत्ति के लिए किसी एक वाद को दोषी नही ठहराया जा सकता। इतना ही कहूँ कि छायावादी-युग के कुछ कवियों को छोड कर, भाषा के सम्बन्ध मे जितनी चेतना कवि अथवा साहित्यकार मे होनी चाहिए, उतनी कम लखको मे रही, और उसे आवश्यक तो और भी कम लेखको ने माना। मैं समझता हूँ कि यह हिन्दी की एक बहुत बड़ी कमी या समस्या रही है और है। हम लोगो—लेखकों—मे से अनेकों का यह भाव, कि लिखते समय तो एक प्रकार की हिन्दी का प्रयोग होना चाहिए जो सही हो, 'अच्छी हिन्दी' हो, पर बोल-चाल मे या दूसरे कामो मे दूसरे ढंग की हिन्दी से भी काम चल सकता है, यह एक बुनियादी भूल है। भाषा का संस्कार सही वही होता है जो इतना गहरा हो जावे कि लिखते-बोलते समय ही नही; स्वप्न देखते समय भी यह प्रश्न न उठे कि भाषा सही है या नही। सही भाषा जब सहज भाषा हो जाये तभी

वह वास्तव मे सही है। इस सहजता की साधना हम हिन्दी लेखको ने यथेष्ट नही की, ऐसा मुझे लगता है।

आधुनिकता : वस्तु और नैतिक मूल्य

काव्य की वस्तु के बारे मे भी कुछ कहने की गुजाइश है। मैं मानता था कि यह वताने की आवश्यकता न होनी चाहिए कि 'काव्य का विषय' और 'काव्य की वस्तु' अलग-अलग चीज़े है, पर हिन्दी आलोचना पढ कर बार-बार समझना पड़ता है कि इस बुनियादी बात को स्पष्ट कहने और दोहराने की आवश्यकता है। कवि कोई नया विषय ले कर भी वही पुरानी वस्तु भी दे सकता है, और कोई पुराना विषय ले कर नयी वस्तु भी दे सकता है। इस लिए काव्य कैसा है, यह विचार करने के लिए विषय कैसा है, या क्या है, या नया है या पुराना है अथवा नही है, इस की परीक्षा उतनी आवश्यक नही है जितनी कि उस की वस्तु की परीक्षा। विषय भी छोटे-बड़े हो सकते है, कम या अधिक महत्त्व के हो सकते है, और उस का भी कुछ विचार तो होगा ही, पर साहित्यिक मूल्याकन प्रथमतः वस्तु से सम्बन्ध रखेगा।

और किसी भी कृति की वस्तु अनिवार्यतया मानवीय वस्तु होती है। काव्य पेड पर या पहाड़ पर भी हो सकता है, पर पेड या पहाड उस के विषय होगे, वस्तु नही; वस्तु जो भी होगी मानवीय ही होगी। क्योकि वह विपय के साथ कवि के रागात्मक सम्बन्ध का प्रतिविम्ब होगी—एक सवेदना या चेतना की अपने से इतर के साथ परस्पर प्रतिक्रिया से उद्भूत वस्तु। इस लिए वस्तु की परीक्षा करते समय कृतिकार के मानस की परीक्षा भी आवश्यक होती है। तो काव्य-विवेचन मे विषय का वहुत कम महत्त्व है, वस्तु का ही है, और वस्तु का महत्त्व भी इस लिए है कि वह वस्तु मानवीय है और उस के सहारे हम कृतिकार के मन मे पहुँचते है और उस की परख करते है कि कैसे वह वस्तु तक पहुँचा, कैसे उसे उस की सवेदना ने ग्रहण किया और कैसे वहुजन-सवेद्य या प्रेपणीय वनाया।

इसी के साथ बँधा हुआ दूसरा प्रश्न मूल्यो का है। यह शब्द भी इस अर्थ मे वहुत नया है। पुराने कवि के लिए कभी यह समस्या नही हुई कि काव्य के, या कि नैतिक, मूल्यो का विचार किया जाये। आज यह नितान्त आवश्यक हो गया है, क्योकि मूल्यो पर इतना जोखिम भी कभी नही हुआ जितना आज है। जो भी मूल्य है वे भी सन्दिग्ध है और उन से

इनकार भी उतना ही सन्दिग्ध है। अर्थात् श्रद्धा भी सन्दिग्ध है और सन्देह भी उतना ही सन्दिग्ध। यह आभ्यन्तर संकट और इस की चेतना आधुनिकता का लक्षण भी है और उस का शाप भी।

मानव-समाज उन्नति कर रहा है। उन्नति का मार्ग यन्त्रीकरण का है। यन्त्र ही उन्नति का साधन है। किन्तु यन्त्र नैतिक नही है। उसे हम अनैतिक न कह सके तो कहे कि वह अति-नैतिक है। उसे नैतिकता से कोई मतलव नही है। तो मानव यन्त्र के सहारे उन्नति करता है, और यन्त्र को नैतिकता से कोई मतलव नही है, पर मानव ऐसा नही हो सकता कि उसे भी नैतिकता से कोई मतलव न रहे। यह तो हो सकता है कि वह कुछ अनैतिक करे, यह भी हो सकता है कि वह भरसक अनैतिक कुछ न करे। लेकिन नीति और अनीति के विचार मे ही वह मुक्त हो जाये, यन्त्र के साथ यन्त्र हो जाये, ऐसा उस के लिए कम से कम अभी तक सम्भव नही हुआ है (और मैं आशा भी करता हूँ कि कभी सम्भव नही होगा)।

इस परिस्थिति मे, जहाँ पर हमारी उन्नति के जितने साधन हैं उन सब को नीति से कोई मतलव नही है पर स्वय हमे नीति से मतलव है—वल्कि उस से हमारा प्रयोजन वढता जा रहा है—आधुनिकता नाम की एक नयी समस्या हमारे सामने है। वह समस्या और भी विकट इस लिए होती है कि पुरानी, शास्त्रीय, धार्मिक अथवा ईश्वर-सम्भूत नैतिकता की प्रवृत्ति इस युग मे क्रमश: कम होती जा रही है और आज हम नैतिकता का आधार खोजना चाहते है तो एक मानव-सम्भूत नीति मे ही। अव भी ऐसे अनेक है जिन के लिए ईश्वरपरक नैतिकता काफी है और जो धर्म के वारे में कोई प्रश्न नही पूछते, लेकिन उन की संख्या क्रमश: घटती जाती है और ऐसे लोग वढ़ते जाते है जो 'नैतिक क्या है?' इस का उत्तर पाने के लिए मनुष्य की ओर देखते है। इस प्रकार नैतिकता का आधार स्वयं हो कर अथवा अपनी वुद्धि को वना कर हम ने समस्या को कठिनतर ही वनाया है। जो दायित्व अव तक धर्म पर या ईश्वर पर था, वह मानव ने अपने ऊपर ओढ लिया है।

यह समस्या किसी रचना मे स्पष्ट शब्दों मे प्रकट हो या न हो, आज के कृतिकार के सामने रहती ही है। और इस के सन्दर्भ मे—जिस हद तक वह इस के प्रति सजग होता है—एक नयी समस्या हो जाती है उस की अपनी सवेदना या अनुभूति की—हम यन्त्र के सहारे उन्नति करते हैं,

यन्त्र मे जैसे नैतिक बोध नही है वैसे ही अनुभूति भी नही है। पर हम जैसे नैतिकता से मुक्त नही हो सके है वैसे ही अनुभूति से मुक्ति भी हम ने नही पायी है। इस प्रकार यन्त्र के सहारे क्रमश आगे बढ़ते हुए हम पाते है कि उसी अनुपात ने यन्त्र के सन्दर्भ मे हमारी अनुभूति का मूल्य दिन-दिन कम होता जाता है। अगर हम इस से इस नतीजे पर पहुँच सकते कि स्वयं अपनी अनुभूति को नगण्य मान लेते, तो शायद समस्या न होती—पर हम वैसा नही कर सकते। सवेदनशील प्राणी (—और लेखक कुछ अधिक सवेदनशील ही होता है, कम नही; चाहे इसी रूप मे कि कुछ क्षेत्रों या आयामो मे उस की सवेदना अधिक तीव्र या घनी हो जाती है, भले ही कुछ दूसरे मे सकुचित हो जाये या कुन्द हो जाये—) अनुभूति को अमान्य कभी नही कर सकता। परिणाम यह होता है कि वह अनुभूति पर अतिरिक्त आग्रह करने लगता है। आलोचक इसे असन्तुलन कह कर उडा दे सकते हैं। या वे यह प्रश्न उठा सकते है, जैसा कि कुछ शास्त्रीय आलोचको ने उठाया है, कि अनुभूति की इतनी चर्चा से लाभ क्या—निजी दु ख-सुख या सघर्ष आखिर निजी ही तो है, उस से जो व्यापक या सार्वजनिक उपलब्धि हो वही सामने लानी चाहिए। किन्तु उपलब्धि की व्यापकता का खण्डन किये विना भी यह कहा जा सकता है कि कलाकार के सत्य और वैज्ञानिक के सत्य मे अन्तर है तो यही कि कलाकार का सत्य रागात्मक सम्बन्ध पर आश्रित है—अर्थात् मानवीय सघर्षो और अनुभूतियो के सन्दर्भ मे ही सार्थक है। उसे सन्दर्भ मे काट कर नही ग्रहण किया जा सकता। और वास्तव मे पश्चिम के सघर्ष-प्रधान साहित्य के मूल मे यह वात है भी। न तो उस संघर्ष को पश्चिम के जीवन की यथार्थ परिस्थिति से अलग कर के समझा जा सकता है, और न उस से उपलब्ध या उस पर परखे गये मूल्यो को उस सघर्ष से अलग कर के प्रेषित किया जा सकता है। जो पाठक उस सघर्ष को नही समझ सकते है, वे उस मे उत्पन्न होने वाले नैतिक आग्रहो को भी नही समझ सकते है। समकालीन प्रवृत्तियो से इस के कई उदाहरण दिये जा सकते है—पर वे उन्ही के लिए उपयोगी होगे जिन के लिए वे अनावश्यक है—जिन के लिए उन की आवश्यकता होगी उन के लिए वे उसी कारण अनुपयोगी हो जावेगे!

क्षण

समकालीन साहित्य में 'क्षण' पर जो आग्रह लक्षित होता है, उसे

इसी सन्दर्भ मे समझना चाहिए। अनुभूति और परिस्थिति में जब विपर्यय, असन्तुलन या विरोध होता है तब कलाकार अनुभूति पर आग्रह करता है। यदि वह अतिरिक्त आग्रह है तो इसी लिए कि वह सन्तुलन और सामंजस्य का आग्रह है। साहित्य अथवा कला के आन्दोलनो का अध्ययन करें तो हम पावेंगे कि यह आग्रह केवल नये युग की विशेषता नही है। जब-जब परिस्थिति और अनुभूति मे ऐसा विपर्यय हुआ है तब-तब ऐसा आग्रह पाया गया है। क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नही है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है। और अनुभूति को अनुभावक से अलग नही किया जा सकता—अनुभूति अद्वितीय है क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नही भोग सकता। 'सहानुभूति मे 'सह' विशेषण मे ही इस की स्वीकृति है और कवि साधारणीकरण द्वारा जिस अनुभूति का प्रेषण करता है वह काव्यानुभूति जीवन की अनुभूति से अलग होती है।

क्षण के इस आग्रह का एक पक्ष यूरोप के साहित्यिक अस्तित्ववाद मे पाया जाता है। मृत्यु के साथ उस के लगाव के मूल मे एक बात यह है कि मृत्यु-साक्षात्कार के क्षण मे ही जीवन की चरम अथवा तीव्रतम अनुभूति होती है—जीवन का चरम आग्रह उसी क्षण मे प्रकट होता है। जिस अरुचि अथवा 'मतली' की उस मे चर्चा है, वह भी परिस्थिति और अनुभूति मे विपर्यय के अस्वीकार की ही प्रतिक्रिया है। जिस मानव ने जिस व्यक्ति-विकास पर आधारित जिस यन्त्र-सभ्यता के सहारे जिस प्रकृति पर विजय पा कर अपनी उत्कृष्टता सिद्ध की है, वही मानव उसी यन्त्र के कारण उसी प्रकृति के सामने इतना नगण्य हो गया है कि उस के व्यक्ति-जीवन की अनुभूतियाँ कोई अर्थ नही रखती—इस विराट् न-कार को निगलने के लिए बाध्य होने पर अगर उस की अंतड़ियाँ विद्रोह करती हैं तो वह समझ मे आ सकना चाहिए।

निःसन्देह यह अस्तित्ववादी दर्शन ही एकमात्र दर्शन नही है। दूसरे भी हैं। एकान्त सत्य का आग्रह न विज्ञान का होता है, न कला का; धर्म का वह हो सकता है। कला या साहित्य के किसी आन्दोलन मे बुनियादी आग्रह क्या है वह समझना चाहिए; क्षण के दर्शन मे आग्रह यह है कि जीवनानुभूति नाम की निजी और आत्यन्तिक चीज़ को दूसरी सब चीज़ों की अपेक्षा मे रखना पूर्वापर को उलटना है। घोड़े के आगे गाड़ी को जोतना है। दूसरा सब कुछ ही जीवनानुभूति नाम की निजी चीज़ की अपेक्षा रखता है। अनुभूति आत्यन्तिक है, इतर सब कुछ केवल सन्दर्भ।

क्षण के विपय मे जो कुछ मैंने कहा है मेरे निजी विचार हैं। इस से यह न समझा जाये कि क्षण की चर्चा करने वाले सब मेरी समझ मे इसी दृष्टि से सोचते है, या कि उन सब मे इस की अथवा ऐसी उत्कट अनुभूति हो। यह भी हो सकता है अनेको मे वैसी अनुभूनि न हो; अथवा अनुभूति दूसरो की हो पर क्योकि ऐसे लेखन मे कुछ नयापन पाया गया हो या उस का प्रभाव पड़ा हो इस लिए दूसरो ने भी उसी प्रवाह मे लिखना आरम्भ कर दिया हो। जैसा लिखने का फैशन हो, या समझा जाये, वैसा और तो लिख ही सकते है। और फैशन नया ही होता है। दूसरी जगह पुराना हो कर छोडा भी जा चुका हो तो भी क्या, जहाँ ग्रहण किया जाता है वहाँ नया ही होता है, नया माना जा कर ही फैशन होता है और उस रूप मे अनुकृत होता है। नि.सन्देह नयी कविता के नाम पर लिखा और छापा जाने वाला वहुत कुछ ऐसा है। किन्तु जो कृति न हो कर अनुकृति है, उस के घटियापन के आधार पर कृति को रद्दी ठहरा देना भूल है; वह आलोचना नही, प्रवंचना है। अनुकृति अन्ततः अनुकृति है; कृति का मूल्याकन उस के आधार पर नही होता। छाया-वाद-युग में भी—आज हम जानते है—कवि इने-गिने ही थे। पर छाया-वादी ढंग की कविता लिखने वाले वहुत थे। दूसरे काव्य-युगो मे भी ऐसा होता रहा है। केवल इस लिए कि किसी समय जो कुछ लिखा जा रहा है उस मे कुछ सच्चा और मूल्यवान् जान पडता है और वहुत-सा ऐसा नही जान पड़ता, समूचे को उपेक्षर्णाय नही ठहरा दिया जा सकता। सागर मे सीप वहुत है, मोती वहुत कम, इतने ही से जो आलोचक गोता लगाने के परिश्रम को व्यर्थ समझता है या सागर का ही अस्तित्व मिथ्या प्रमाणित हो गया मानता है, स्पष्ट है कि उस के हाथ हम अपनी साहित्य नौका की पतवार नही सौप सकते।

कठघरे से

प्रश्न १ : साधारणतया आप के बारे में लोगो की तरह-तरह की धारणाएँ हैं। उन्हें आप जानते हैं? वे कहाँ तक ठीक हैं? जो ठीक नहीं है उन के लिए कहाँ तक आप उत्तरदायी हैं, या कि उन्हें ठीक करने में अपना क्या कर्तव्य मानते हैं?

उत्तर : तरह-तरह की धारणाएँ हैं यह तो जानता हूँ। क्या है, यह भी कुछ जानता हूँ—जाने बिना रह कैसे सकता जब वह पत्र-पत्रिकाओं तक मे प्रकट होती रहती हैं, बात-चीत मे तो होती ही हैं; और जब मेरे प्रति लोगों का व्यवहार—या व्यवहार की अनुपस्थिति!—उन को प्रतिबिम्बित करती है?

पर वे धारणाएँ ठीक हैं, यह मानना कठिन है। उन मे बहुत-सी न केवल भ्रान्त है, वरन् निराधार भी हैं—यानी मेरी ओर से उन के लिए कोई आधार नही प्रस्तुत किया गया है—यों पूर्व-ग्रह का भी आधार तो

१ इस प्रश्नोत्तर का सूत्रपात सर्वेश्वरदयाल सक्सेना द्वारा प्रेषित एक लिखित प्रश्नावली से हुआ था, उन प्रश्नों के उत्तर लिख कर उन्हे दिये जाने पर दो-एक पूरक प्रश्न उन्होंने और पूछे जिन का उत्तर भी यथा-स्थान जोड लिया गया। यह मान कर कि ये प्रश्न एक बन्धु के सहज कौतूहल से अधिक सामयिक अभिप्राय रखते हैं, और ये उत्तर न केवल लेखक के जीवन को समझने या उस की कृतियो के मूल्याकन मे उपयोगी होंगे वरन् समकालीन लेखक मात्र की समस्याओ को एक व्यापकतर परिपार्श्व मे भी रख सकेंगे, इस प्रश्नोत्तर को यहाँ सम्मिलित कर लिया गया है। लेखक ने जो कुछ अपने विषय में कहा है, उसे तो उसी के सन्दर्भ मे ग्रहण करना होगा और वह तद्वत् किसी दूसरे लेखक के जीवन पर लागू न हो सकेगा, पर उस से दूसरो का अन्त सघर्ष भी एक प्रखरतर प्रकाश मे पाठक के सम्मुख आ सकेगा ऐसी आशा की गयी है।

होता ही है स्वय पूर्व-ग्रही मे। कई धारणाओ से मुझे अचरज होता है, कुछ से विनोद, कुछ से क्लेश भी। और सब के लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ, यह मानना तो और भी कठिन है– अगर मेरा होना ही उत्तरदायी होना न मान लिया जाये। एक उदाहरण दूँ : सुना है कि कई लोग मेरे निकट के बन्धुओ से पूछा करते है—'क्यो जी, तुम ने 'अज्ञेय' को कभी खुल कर हँसते देखा है ?' मेरे बन्धु स्वय इस प्रश्न पर हँसते है, क्योकि वे और मैं साथ बैठ कर अनेकों बार अनेको विषयो पर हँसे है। हाँ, जब मै काम करता हूँ तो एकाग्र हो कर काम करता हूँ; हर दस मिनट पर पान-सिगरेट के लिए अवकाश निकालना, या टहल कर दूसरे कार्यव्यस्त लोगो को काम से हटा का उन मे गप्प लड़ाना—इस की मुझे आवश्यकता भी नही महसूस होती और इसे मैं बुरी आदत भी समझता हूँ क्योकि यह कार्य-क्षमता को क्रमशः क्षीण करती जाती है। इतने ही से कुछ लोग ऐसे नाराज हो जाते है कि मुझे मनहूस, दुर्विनीत आदि ठहरा देते है। जब मैं **'विशाल भारत'** मे गया था तब पटने के एक साप्ताहिक के सम्पादक महोदय ने मेरे आने से वहाँ छा जाने वाली 'मनहूसियत' पर तीन-चार कालम का सम्पादकीय लेख लिख डाला था; यह उन्हे सूझा ही नही था कि उन की यह प्रतिक्रिया स्वय **'सेंस आफ़ ह्यूमर'** की कितनी कमी का प्रमाण है—जिसे बाग्ला मे 'काण्डज्ञान' कहते है उस की कमी की बात तो छोड ही दे!

मुझे जो शिक्षा-दीक्षा मिली, उस मे सन्तुलन को—जीवन, कर्म और भावाभिव्यक्ति के सहज सयम को—विशेष महत्त्व दिया जाता रहा। और परिस्थितियो ने एकान्त इतना अधिक दिया कि एक आत्म-निर्भरता अभ्यास नही, चरित्र का अग बन गयी. चिन्तन और अनुभूति कम नही हुई, पर कोई अनुभूति तत्काल दूसरो पर प्रकट हो ही जानी चाहिए या चेहरे पर झलक आनी चाहिए, सामाजिकता की ऐसी कोई परिभाषा भी सीखने को न मिली। अब, जब उतना एकान्त नही है, तब भी उस सस्कार की छाप तो है ही। लोग मुझे अच्छे लगते है; पर भीड़ें नही, उतने ही जितनो से एक-साथ सीधे निजी सम्पर्क हो सके जिनमो मे सभी मुक्त भाव से अपने को अभिव्यक्ति दे सके और एक की अभिव्यक्ति दूसरे की बाधा न बने। समाज मे जीवी बन कर आऊँ या रहूँ, यह मुझे ठीक लगता है, अभिनेता बन कर रहूँ यह गलत जहाँ अभिनेता बन कर आना अनिवार्य हो वहाँ भरसक आता ही नही, क्योकि वह

फिर उस अर्थ मे समाज नही है—वहाँ आदान और प्रदान की धाराएँ एक-सी मुक्त नही वहती हैं। लेखक, या कवि या साहित्यकार के नाते विशिष्ट रूप मे दूसरो के वीच मे आने में मुझे संकोच ही नहीं, ग्लानि भी होती है, क्योकि वैसा कुछ वैशिष्ट्य है तो अपनी साधना के क्षेत्र मे। समाज को उस से कुछ मतलव है तो तव जव कि मेरी रचना उस के सम्मुख है और मैं नहीं हूँ। अगर मैं, या मैं भी, सम्मुख हूँ तो फिर उस विशिष्टता को छोड़ देना चाहिए या ओट कर देना चाहिए—क्योकि तव मैं समाज का अंग वना रहना चाहता हूँ, एक प्रदर्शित जन्तु नहीं।

मुझे लगता है कि हिन्दी लेखकों मे ऐसा सोचने वाले शायद कम है, पाठकों मे तो कम है ही। हो सकता है कि मेरा ही भाव-सस्कार विदेशी है। इस लिए मेरा वर्ताव लोगो को कुछ भिन्न जान पडता है—भिन्न है ही—और इस का कारण वे मेरा अहंकार मान लेते है। इस लिए मै दूर रखा जाता हूँ: और वचपन से एकान्त के अभ्यस्त मुझ को जव दूर रख दिये जाने से कोई क्लेश नही होता—या होना दीखता नही—तो यह भी मानना युक्ति-संगत जान पड़ने लगता है कि यह अहकार आभिजात्य का अहंकार है। जव कि स्थिति यह है कि अपने थोडे से वन्धुओ से मुझे यथेष्ट सामाजिक तृप्ति मिल जाती है और वाकी वहुत-सी खुराफात से वच कर मैं दत्तचित्त हो कर अपना काम कर सकता हूँ। मै जानता हूँ कि मै साधारण हिन्दी या भारतीय लेखक से अधिक परिश्रम करता हूँ: अधिक समय पढ़ने-लिखने मे विताता हूँ, अधिक समय आत्म-प्रशिक्षण मे जिस मे केवल मन का प्रशिक्षण नही, ज्ञानेन्द्रियो का और हाथो का प्रशिक्षण भी शामिल है। मैं कपड़े सी लेता हूँ, जूते गाँठ लेता हूँ, फर्नीचर जोड लेता हूँ, मिठाई-पक्वान्न वना लेता हूँ, जिल्द-वन्दी कर लेता हूँ। पखे, साइकल, मोटर, विजली के छोटे-मोटे यन्त्र—इन की सफाई और थोड़ी-वहुत मरम्मत कर लेता हूँ। विलायती ढग के वाल काट सकता हूँ, चाभियाँ खो जावें तो ताले खोल दे सकता हूँ, सूत कात लेता हूँ, मामूली कढाई कर लेता हूँ, मिट्टी के खिलौने वना लेता हूँ, काठ के ठप्पे खोद कर कपड़े छाप लेता हूँ, साँचे तैयार कर मूर्तियाँ वना लेता हूँ। प्रूफ देख लेता हूँ, कम्पोज़ कर लेता हूँ, प्रेस की मशीन चला लेता हूँ। फोटो खीचता हूँ, फिलम और प्रिंट डेवेलप कर लेता हूँ, हाथ से रग लेता हूँ। घर की पुताई कर लेता हूँ, सिमेंट के गमले वना लेता हूँ। फूलो की और तरकारी की खेती कर लेता हूँ, फावड़ा, कुल्हाड़ी, गैंती चला लेता हूँ, निराई कर लेता हूँ।

वन्दूक-पिस्तौल चला लेता हूँ। तैर लेता हूँ, दौड लेता हूँ, पहाड चढ लेता हूँ, क्रिकेट, टेनिस, बैडमिंटन खेल लेता हूँ। और इन सब मे केवल शौक रखता होऊँ ऐसा नही है; कुछ के सहारे आजीविका भी कमा ले सकता हूँ। और जो नही जानता वह सीखने को हमेशा तैयार हूँ। ऐसी दशा मे हल्की गप्पवाजी की अनुपस्थिति में अपने को वञ्चित या मोहताज न अनुभव करूँ तो अपने को दोषी नही मानता, और जो लोग लिख-लिख कर गालियाँ देते है उन की गालियो से उतना न तिलमिलाऊँ जितना वे चाहते है तो उन्हे भी यह न समझना चाहिए उन की गालियो मे शक्ति कम थी—इतना ही कि वे निशाने पर लगी ही नही।

पर कोई मेरे बारे मे जो सोचे ठीक सोचे, इस के बारे मे मुझे क्या करना चाहिए ? पहले तो कोई सोचे ही क्यो, और सोचे तो जो उसे ठीक जान पडे वही सोचे। मेरे बारे मे अगर लोग कुछ सोचे तो अच्छा सोचें, ऐसा चाहना स्वाभाविक हो सकता है पर वह आखिर चाहने का ही तो क्षेत्र है—अपनी आकाक्षा से मै दूसरे को बाँध तो नही सकता न ? और वह अच्छा केवल अच्छा ही न हो, सच भी हो; या अगर बुरा सोचा गया है तो वह झूठ हो, यह तो अपने कर्म और उस के स्वयं निरीक्षण का क्षेत्र है—मैं अमुक प्रकार का होऊँ या न होऊँ इस के लिए मुझे स्वयं परिश्रम करना होगा, दूसरो को उस से क्या ? मेरा कर्तव्य इतना ही है कि वह परिश्रम मै करूँ, और, हाँ, उस से मुझे जो उपलब्धि हो उस से किसी को वचित न करना चाहूँ वल्कि उसे दूसरो तक पहुँचाने का प्रयत्न करूँ। मेरा खयाल है कि वह मै ने किया भी है। हो सकता है कि मैं ने चाहा हो कि इस दिशा मे जो परिश्रम करूँ वह ऐसे व्यक्तियों के साथ करूँ जिन्हे उस से अधिक लाभ हो और मेरा परिश्रम व्यर्थ न जाये, हो सकता है कि मैंने पहचानने मे भूल की हो या कि अपने परिश्रम का व्यर्थ मोह किया हो। पर सूम की तरह केवल जोड़ कर रखना मैंने नही चाहा—अपने जानते हुए किसी क्षेत्र मे नही।

प्रश्न २ : जीवन मे आप किस सीमा तक समझौता कर पाते हैं ? अपने व्यवहार की सफाई किस हद तक और किन लोगों को देना उचित समझते है—या नही समझते ?

उत्तर . समझौता, अपनी समझ मे, कम कर पाता हूँ। कभी जहाँ

सोचता भी हूँ कि वही व्यावहारिक होगा, वहाँ भी नहीं कर पाता—यानी युक्ति जिसे मानती है, वह भावना-ग्राह्य नहीं होता और तव भावना को अमान्य नही कर पाता। पर समझौता नहीं कर पाता इस का यह अर्थ नही कि भूल नही करता। जीवन मे अनेक भूलें की है और उन की कोई सीमा निर्धारित कर सका होऊँ ऐसा नही जाना। भूलो के लिए दड मिलता है सो भोगता हूँ। भूल अपने सामने स्वीकार कर लूँ यह काफी मालूम होता है, दंड दूसरो के सम्मुख रो कर ही भोगूँ इस की कोई आवश्यकता नही देखता।

और भूल की सफाई क्या ? जव दीख जाये, तव उस के स्वीकार को ही अधिक महत्त्व देता हूँ। स्वीकृति के साथ-साथ सफाई देने मे नैतिक दुर्वलता दीखती है, याआत्म-सम्मान की कमी। स्वीकार के वाद दूसरे रियायत करें, या देखे कि कैसे वह भूल असम्भाव्य न थी या क्षन्तव्य है—यह उन के विवेक और औदार्य पर है।

पर भूल को छोड़, केवल विवादास्पद व्यवहार की वात हो, तो कहूँ कि जो स्नेही या हितैषी है, या जिन का मन खुला है, या जिन मे शुद्ध जिज्ञासा है, उन के सामने जवाव देने को, उन्हें समझाने को, समाश्वस्त करने को, उन की शकाओ का समाधान या निवारण करने को, वरावर तैयार हूँ। जिन का स्नेह या विश्वास मुझे मिला है, उन के प्रति अपना दायित्व वहुत वडा मानता हूँ !

किन्तु जो पहले ही अविश्वास या विरोध-भाव ले कर आते है, जिन के प्रश्नो मे पूर्व-ग्रह प्रधान है, जो व्यवहार के वारे मे नही, नीयत के वारे मे प्रतिकूल धारणा वना कर आते है, उन के सम्मुख सफाई देने की वात से आत्मा विद्रोह कर उठती है। मैं जानता हूँ कि यह विद्रोह अव्याव-हारिक है, वार-वार अपने को वताता हूँ कि आज के वाद-दूषित वातावरण मे प्रतिकूल पूर्व-ग्रह की सम्भावना ही अधिक है, विरोधी का मत-परिवर्तन ही तो वास्तविक विजय है और राजनीतिक को तो निरन्तर विरोध के वीच मे जीना होता है। पर मैंने कहा न कि कुछ वातों को युक्ति मान लेती है और भावना अगीकार नही करती ? यह वात भी वैसी ही है।

कह लीजिए कि आत्म-सम्मान का अतिरजित भाव है, या अहंकार है या कोरी सिद्धान्त-वादिता या अनावश्यक संवेदन-शीलता, कि मिजाज ज्यादा नाजुक है या चमड़ी वहुत पतली है। कह लीजिए कि ऐसे राज-नीति मे सफल नही हो सकता, और आज सफलता का अर्थ राजनीतिक

सफलता ही है। मैं जानता हूँ कि मै असफलता के पथ पर हूँ। लेकिन भीतर कुछ कहता है कि उस पथ के अन्त पर पहुँच कर जब पीछे देखूँगा, तो कुल मिला कर अपनी असफलता पर ग्लानि नही होगी, न अपने को यह आश्वासन देना आवश्यक जान पडेगा कि इस की पूर्ति अगले जन्म या लोक मे होगी—इसी लोक की उतनी मात्र उपलब्धि यथेष्ट होगी ऐसा मुझे प्रत्यय है।

तो जो विरोधी पूर्वग्रह लिये हुए है उन्हे कोई सफाई देने की आवश्यकता मैं नही समझता, और भरसक उन के विरोध से न उलझने का मैने प्रयत्न किया है। एक-आध अवसर पर ही इस मे चूक हुई है, और उस के लिए मैं पछताया हूँ। और जिन्होने विश्वास दिया है, उन की शकाओ की भरसक मैं ने कभी उपेक्षा नही की है, उस विश्वास का पात्र बने रहने या होने के लिए मैंने सतत प्रयास किया है।

प्रश्न ३ : लोगों की धारणा है कि आर्थिक दृष्टि से आप सदैव सम्पन्न रहे हैं, और है; और रईसी तबीयत आप को विरासत में मिली है। लोग मानते है कि इस स्थिति को बनाये रखने के लिए आप कोई भी समझौता कर सकते है। यह कहाँ तक ठीक है ?

उत्तर बाल्य-काल मे एक बार एक हाथ देखने वाला हमारे यहाँ आया था। ऐसी बातो को एक शगल से अधिक महत्त्व नही दिया जाता था, पर इस आदमी मे सभा-चातुर्य कुछ अधिक था, इस लिए पिताजी की सहास ताडना के बावजूद वह थोड़ी देर टिका रहा। मेरा हाथ देख कर बोला—'यह बादशाह होगा।' फिर थोडी देर बाद हँस कर 'तबीयत का बादशाह होगा—वैसे पल्ले कभी कुछ नही रहने का !' बात अच्छी लगी थी, पर हँस कर उडा दी गयी थी। पूर्व-पक्ष तब प्रीतिकर था ही, उत्तर-पक्ष को किसी ने महत्त्व नही दिया क्योकि हाथ देखने पर विश्वास किसे था ? आज जानता हूँ कि उत्तर-पक्ष भी सच रहा है और है, तो यह केवल स्थिति का स्वीकार है, सामुद्रिक का अनुमोदन नही।

मैं तो यही समझता हूँ कि साधारण मध्य-वित्तीय स्थिति हमारे परिवार की रही, दैन्य हम ने नही जाना तो जिसे सम्पन्नता कहना चाहिए, अर्थात् जिस का आधार आर्थिक निश्चिन्तता हो, वैसी व्यय-क्षमता—वह भी हमारी नही थी। यो हिन्दी के औसत लेखक की पारिवारिक स्थिति

की अपेक्षा मेरी कुछ अधिक सुविधा की रही, यह मान लेने मे मुझे संकोच नही। पर उस में उतार-चढ़ाव नही रहे ऐसा नही है। और मैंने विशेष कुछ उद्योग किया तो वह सुविधा की स्थिति को वनाये रखने के लिए था यह तो विल्कुल ही गलत है—मेरे सव उद्योग इस से ठीक उलटे रहे। वम-विस्फोटक वनाने वाली वात को तो छोड़िए—यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि वह रईसी वनाये रखने के लिए किया गया समझौता था। पर कष्ट के दिन मैंने न जाने हों, लगातार दो-चार दिन लाचारी की फ़ाकाकशी के अवसर न जाने हो, दूकानो के सामने खड़े हो कर फल-मिठाई आदि का वेवस काल्पनिक आस्वादन न किया हो, ऐसा नही है। अगर रईसी का यह अर्थ है कि उस से हीन-भाव या कटुता नही आयी, तो मान लेना होगा कि रईसी मुझ में रही। और यह भी मान लेना होगा कि ऐसी स्थितियो मे पड़ना वास्तव में 'लाचारी' नही थी, क्योकि ऐसा नही था कि मैं चाह कर भी स्थिति को न वदल सकूं—वल्कि एक तरह से वह स्वेच्छया वरण की गयी ही स्थिति थी—सिद्धान्त के नाम पर। उन मे से कुछ सिद्धान्त आज वचकाने हठ मालूम होते हों, वह दूसरी वात है। पर समझौता मुझ से प्रायः नही वन पड़ा, न अव वनता है।

लेकिन मेरे कुल के वारे मे लोग—या आप भी—जानते कितना है? मेरे पिता ने जव अवकाश लिया तव वह एक उच्च पदाधिकारी थे अवश्य, पर आरम्भिक शिक्षा उन्होंने एक सस्कृत 'टोल' मे पायी थी—गुरु के साथ रह कर उन के खड़ाऊँ ढो कर और उन के अँगोछे धो कर। यह तो मैट्रिक परीक्षा मे प्रथम आ कर छात्रवृत्ति पाने पर ही सम्भव हुआ कि वह विधिवत् विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी कर के प्राध्यापक नियुक्त हो सके। विश्वविद्यालय मे भी वह प्रत्येक परीक्षा मे प्रथम आते रहे। अध्यापक से पुरातत्त्व विभाग के खोजी और अनन्तर अधिकारी नियुक्त हो कर उन की जीवन-परिपाटी एक नये ढाँचे मे ढल गयी। दादा सस्कृत के विद्वान् थे, लेकिन सम्पन्नता का लांछन उन्होने नही जाना, अत्यन्त विपन्नावस्था मे ही वह अपनी विद्या के कारण समाज मे प्रतिष्ठा पाते रहे। उन के दादा विपन्नता मे पीछे नही थे, और विद्या मे भी शून्य से दूर न थे; वड़ो से सुना है कि जव उन की मृत्यु हुई तव दाह-कर्म के साधन न थे और कई घरो से कौडियो की हँड़िया वटोर कर अन्त्येष्टि हो सकी थी। उस से पहले की चार-पाँच पीढियों मे भी, जिन का पता है, सम्पन्न कोई नही हुआ; विद्यावान् कोई-कोई हुए, एक अपने पिता के श्राद्ध

के लिए पहोवा गये नो वहाँ के पंडितो से श्राद्ध-विधि के बारे मे उलझ पडे और फिर असन्तुष्ट हो कर गया गये, ऐसा पहोवे के पडो की वहियो से पता चला था।

खैर, सक्षेप यह कि मध्यवित्त कहलाने की पात्रता वास्तव मे पिता ने उपार्जित की, या कह लीजिए कि दादा ने पिता के कार्यारम्भ के बाद। उस से पहले ज्ञात परम्परा मे यह बोझ किसी ने नही ढोया और कुछने तो विद्या का बोझ भी नही। किन्तु ब्राह्मणत्व का गौरव-भाव सभी मे यथेष्ट मात्रा मे था ऐसा जान पडता है, और समझौता न कर सकना उस का एक आनुषगिक था। दादा से पहले पुरखा पौरोहित्य करते थे, पर पिता ने 'दान न लेने' के सिद्धात को इतना उत्कट रूप दे दिया था कि जहाँ कुछ 'दिये गये' होने की बू भी हो वहाँ वह बदले मे दुगुना दे कर शोध करते थे। जेल से आने के बाद मै एक 'आश्रम' बनाने की आदर्शवादी झोक मे था; एक परिचित ने उस के लिए जमीन और उस पर बनी हुई इमारत सुलभ कर दी थी। पिता से परामर्श करने पर उन्होने कहा, 'वह अगर भाडा ले, या लगान ले कर पट्टे पर दे, नो ठीक है; मुफ्त दें तो न लो।' मेरे पूछने पर उन्होने कारण बताया, 'तुम वयस्क हो गये हो और सोच-समझ कर जो करोगे उस मे बाधा देना नही चाहता, पर मैंने मन ही मन सोच रखा था कि मेरी कोई सन्तान कभी दान नही लेगी...' ब्राह्मणो का दान लेना उन के पतन का कारण रहा ऐसी उन की दृढ धारणा थी; मुझ मे ब्राह्मणत्व का कोई भाव नही है पर उन की इस भावना को मै समझ सका और ब्राह्मणत्व से अलग कर के भी उसे आदर्शवत् अपने सम्मुख रखता रहा हूँ—कि यथा-सम्भव दान मे या 'मुफ़्त' कुछ नही लूँगा। यों सृष्टि मे जहाँ सभी कुछ अकारण और विना प्रतिदान चाहे मिलता है, वहाँ यह दम्भ-सा जान पड सकता है, किन्तु जो वास्तव में उम स्तर पर जा या जी सकता है वह फिर इतना नि सग भी होगा कि सभी कुछ उसी दाता को लौटा दे और हिसाब बेबाक करते समय रूँगे मे अपने को भी झोक दे—अर्थात् उस का लेना फिर दान लेना नही, ऋण लेना भर हो जाता है। पर साधारण जीवन के स्तर पर भी उद्योग यह रहा है कि जो पाऊँ उस के बदले मे यथा-शक्य दूँ भी। जीवन का हिसाब बनिये का हिसाब नही है जिस मे देना-पावना प्रत्येक असामी के साथ अलग-अलग बराबर होना चाहिए, जीवन मे एक से पाया हुआ दूसरे को दे कर भी ऋण-शोध होता है यह मैं जानता हूँ। अभी वहाँ तक नही

पहुँचा हूँ कि खाता मिला कर देखने लगूँ कि क्या और देना है, पर इस वारे में सतर्क हूँ कि अन्त मे यह स्थिति भले ही हो कि वहुत-सा ऋण विना चुकाया ही रह गया, यह न हो कि कुछ को मैंने 'दान-खाते प्राप्त' मान लेने की भूल की हो और उस का प्रतिदान देने की वात ही न सोची हो…

थोड़ा वहक गया न ? या कि वहुत वहक गया ? उपसंहार कर दूँ: तवीयत रईसी है, लेकिन इस रईसी के पीछे जो संस्कार है, वह व्राह्मण का है, वणिक् का नहीं। कुछ जोड-जाड कर मैंने नही रखा है, कुछ जमा नही किया है, जो देने को था उसे कभी किसी को इनकार नही किया है, जो नही था उस का दुःख नही माना है। उत्तराधिकार मे पिता की चल या अचल सम्पत्ति मे (अधिक तो उन्होंने भी नही जोडा, पर कुछ भूमि और घर तो थे ही, और संगृहीत पुराखड और कला-वस्तुएँ इत्यादि) भागी होने से इनकार कर दिया था; जीवन का वीमा कराया था पर किस्तें कभी समय पर नही दे पाता रहा अतः सव जव्त हो चुकी है। घर मे साफ-सुथरे ढंग से रहता रहा हूँ, दो चार कला-वस्तुएँ भी आस-पास जुटा रखी है—पर उन की प्राप्ति मे जो कुछ व्यय हुआ है उतना मुझे रईस कह कर कोसने और अपने को सर्वहारा कह कर सराहने वाले अनेक अपने पान-सिगरेट मे फूँक देते है। और फिर यह है तो इस का सही उपभोग भी कर लेता हूँ; न होगा तो ज़रा भी खेद मुझे नही होगा—जिस भी स्तर पर रहूँगा साफ-सुथरे सयत और तोषप्रद ढग से रह लूँगा ऐसा मुझे भरोसा है।

लेकिन यह तो वताइये, लोगों मे जो धारणा है उस का उन के पास क्या आधार है यह आप उन से पूछते हैं ? या वे अपने-आप से पूछते है ? या कि, क्योकि मेरे विचार कुछ लोगो को पसन्द नही है, और कुछ लोग राजनीतिक मताग्रहो के कारण मुझे चुप कराना आवश्यक समझते है, इस लिए चाहे जो झूठा अपवाद मेरे वारे मे फैलाया जा सकता है ?

प्रश्न ४ : आप कई भाई-वहन है पर सव में आपस में वैसी गहरी आत्मीयता या गहन स्नेह-भाव नहीं लक्षित होता जो साधारणतया परिवारो में होता है। क्यों ?

उत्तर : स्नेह-भाव लक्षित नही होता, यह तो शायद ठीक है। पर

वह है नही, यह भ्रान्ति है। जैसा दूसरे परिवारो मे होता है, वैसा प्रगल्भ प्रदर्शन आप हमारे परिवार मे नही पायेगे। क्योकि हम सब का बाल्य-काल अधिकतर वन-पर्वतो या देहाती प्रदेशो मे बीता; सभी ने स्वतन्त्र या आत्म-निर्भर स्वभाव पाया; प्राय सभी किसी हद तक अन्तर्मुख हो गये—अर्थात् अनुभव अधिक करते है, भाव-प्रदर्शन कम। यह तो नही कहूँगा कि सब भाई-बहनो मे एक-सा सौहार्द है—वह क्या 'साधारण' परिवारो मे भी होता है?—पर एक गहरे स्तर पर एक अव्यक्त और अमुखर बन्धन हमे बाँधे हुए है ऐसा मैं जानता हूँ। उतना ही काफी भी समझता हूँ—क्योकि उतना शक्ति देता है, उस से अधिक जो होता है वह अवरोध करता है, व्यक्ति के विकास मे बाधक होता है।

प्रश्न ५ : आप के जीवन में कभी ऐसे अवसर आये जब आप ने कोई काम केवल भावना से—जैसे स्नेह के दबाव से—प्रेरित हो कर किया हो और बुद्धि या विवेक की प्रेरणा न मानी हो, या परिणाम की परवाह न की हो ?

उत्तर पुराने ढाका शहर के गाडीवानो की एक कहानी सुनी थी—वहाँ शहर के किसी भाग से दूसरे भाग तक का गाडी-भाड़ा एक चवन्नी बँधा हुआ था और शहर के लोग कभी भाड़ा नही ठहराते थे। जब कोई पूछता तो गाडीवान समझ लेते कि बाहर का है, और मनमाने पैसे माँगते, गाहक कुछ भी कम बताता तो उसे अपदस्थ करने के लिए कहते, 'धीरे बात करो, बाबू, घोडा सुन लेगा तो हँसेगा!' आप के सवाल से यह कहानी याद आ गयी, क्योकि जो भी मुझे निकट से जानते है सभी इस प्रश्न को सुन कर हँसेगे—वे इसे ठीक उलट कर पूछते कि क्या मैंने कभी कोई काम बुद्धि अथवा विवेक की प्रेरणा मात्र से किया, या भावना के दबाव को एक ओर रख कर, या कि परिणाम का भी विचार कर के! जो कुछ भी करता हूँ उन के निकट वह भावुकता का ही परिणाम होता है—अविवेकी, उत्तरदायित्वहीन, अव्यावहारिक, अदूरदर्शी। फिर वह चाहे नौकरी करना हो चाहे छोडना, पत्र निकालना हो अथवा बन्द करना, या—लेकिन और निजी बातो को छोडिए ही। और मैं समझता हूँ कि सचमुच अगर सोचने बैठूँ कि कौन-सा महत्त्वपूर्ण निर्णय मैंने भावना को छोड कर शुद्ध तर्क के या विवेक के आधार पर किया था, तो शायद उत्तर

नहीं पाऊँगा। इस समय भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार होता रहा है, तर्क-संगत उत्तर स्पष्ट है पर जव-जव प्रश्न सामने आया है मैंने यही कह दिया है कि 'आइ एम नाट येट इमोशनली कन्विंस्ड'—वह निर्णय अभी राग के स्तर पर ग्राह्य नही हुआ है।

प्रश्न ६ : अपने जीवन या वचपन की कुछ ऐसी घटनाएँ वताइए जिन का आप के जीवन पर गहरा असर पड़ा हो या जिन्होंने आप के आज के व्यक्तित्व को वनाने में योग दिया हो ?

उत्तर : ऐसे प्रश्न का जवाव शायद सोच-समझ कर देना चाहिए। क्योंकि ऐसी तो वहुत घटनाएँ होंगी जिन का प्रभाव पड़ा, और उन में से स्मरण भी वहुत-सी होंगी, पर क्योंकि वताते समय तो दो-एक ही चुननी होंगी और उस चयन पर तात्कालिक मन.स्थिति का प्रभाव पड़ेगा ही, इस लिए परिप्रेक्ष्य गलत भी हो सकता है। जैसे अभी सफाई देने वाले प्रश्न पर एक घटना याद आयी थी जो भूली नही, पर उस का महत्त्व कितना है क्या मैं ठीक-ठीक जानता हूँ ? मैं कोई छह वर्ष का था जव वडे भाइयो के लिए गर्म सूट वनवाये गये थे। जव कच्ची सिलाई के वाद सूट फिटिंग के लिए लाए गये, तव मैं भी खड़ा देख रहा था। सूट में कोट और जोधपुरी व्रीचेज़ थी, और भाइयो पर सूट खूव फव रहे थे, मैं मुग्ध-सा देख रहा था। माता-पिता ने मेरे मुग्ध भाव को लुब्ध-भाव समझ कर पूछा कि क्या मैं भी वनवाना चाहता हूँ ? और मेरे उत्तर देने से पहले ही माता ने कहा—'भाइयो को देख कर हिर्स हुई होगी!' और पिता ने उत्तर दिया—'होती ही है—वच्चा ही तो है। मेरे कुछ कहने से पहले ही न केवल ईर्ष्या का आरोप मुझ पर कर दिया गया है, वरन् उसे स्वाभाविक भी मान लिया गया है, इस से मुझे क्लेश हुआ। मैंने गम्भीरता से कहा कि 'मुझे नहीं वनवाना है', तो उसे झेंप समझा गया, और इस पर आँखों मे आँसू आ गये तो उस से यह प्रमाणित ही मान लिया गया कि ईर्ष्या थी। मेरे इनकार करते रहने पर भी सूट का नाप दे दिया गया और जव भाइयो के कपड़े वन कर आये तव साथ मे मेरा भी सूट था। वैसे कपड़े पहन कर मुझे प्रसन्नता न होती यह नही कह सकता, पर उन कपड़ो को पहन कर नही हुई क्योंकि गलत समझे जाने की कसक अभी थी; उस पर जव कहा गया कि 'गुस्सा अभी वना हुआ है कि मेरे

लिए भी पहले ही क्यो नही ऑर्डर दिया गया था,' तव अन्याय की भावना और तीखी हो गयी। उन सूटों मे सव भाइयो ने साथ बैठ कर फोटो खिचाया था; जो अभी है, इतना तो है, पर उस अवसर के वाद वह सूट मैंने फिर पहना हो ऐसा याद नही पडता। फिर तो वहुत जल्दी ही वह छोटा भी पड गया और दो-एक वरस वाद किसी को दे दिया गया ··

कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो यत्किचित् साधारणीकृत रूप मे उपन्यास-कहानियो मे आ गयी हैं—उन का यहाँ ब्यौरा नही दूंगा। जैसे झील, नदी, समुद्र मे डूव जाने की घटनाएँ : तैरना न जानते हुए भी तैराकी की लय-युक्त गति से मुग्ध हो कर पानी मे कूद पडा था और डूव गया था, फिर वेहोशी की हालत मे निकाला गया। लय-युक्त गति का आकर्षण अव भी कम नही है : खेतों मे हिरनो की कूद, या झारखड मे शशो की फलाँग—इस से भी अधिक सुन्दर कुछ होता है यह सहज नही मान पाता : सोचता हूँ कि '**डार हिरनों की वरसात में**' या कि '**पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगती**' घटो देखता रह सकता तो भी न ऊवता —यो इन के दृश्य कुछ क्षणो मे ही चुक जाते हैं···

एक वार जिन दिनो गोली चलाने का अभ्यास कर रहा था, एक सुन्दर पहाड़ी पक्षी पर पिस्तौल से फायर किया था। उस से पहले वन्द जगहो मे इतना अभ्यास कर चुका था कि दस कदम की दूरी से दीवार पर दौडती हुई मकडी का निशाना लगा लूँ, या ताश के पत्ते का एक-एक चिह्न अलग-अलग भेद दूं। पर चिडिया वड़ी होने पर भी दूर थी, पिस्तौल का निशाना उतने फासले पर पक्का नही होता। गोली से उस का डैना और टाँग टूट गयी, चिड़िया चीखती और एक टाँग पर उचकती हुई दौडती रही, और पीछे-पीछे मैं कि अव जैसे भी हो उस के—और उस की चीखो से अपने—क्लेश का अन्त कर दूं। न जाने कितना दौडा हूँगा, वह भी सीधा नही, न खुले मे। कोई डेढ घटे वाद वह चिडिया एक कँटीली झाडी मे घुस गयी और उस मे फँस गयी। मैं न उस के भीतर घुस पाता था न छोड कर ही जा सकता था, और मेरी पास आने की कोशिश से डर कर वह छटपटाती थी और उलझ कर चीखती थी। मैंने एक फायर और भी किया, पर जानता था कि वह व्यर्थ होगा—उस झाड़ी मे उतनी हल्की गोली चिडिया तक पहुँच ही नही सकती थी। जैसे-तैसे मैं भीतर घुसा ही, पास पहुँच कर मैंने उस का अन्त कर दिया और वाहर निकल कर ही मुझे ध्यान हुआ कि मै भी कम

लहू-लुहान नही हूँ···अब भी कभी उस चिडिया की याद आती है तो मन ही मन उस से क्षमा माँग लेता हूँ···

कॉलेज के प्रोफ़ेसर ने मानव-मात्र पर विश्वास की जो सीख दी थी—इस घटना का वर्णन 'अरे यायावर रहेगा याद ?' मे 'किरणो की खोज' वाली यात्रा मे है—उसे भी जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना और प्रभाव मानता हूँ, यद्यपि वह बाल्य-काल की तो नही है।

कॉलेज मे अपनी बी० एस-सी० की परीक्षा मैने बीमारी मे दी थी—मुझे टाइफायड ज्वर था। केवल पहला परचा मैने अपने हाथ से लिखा था, अन्य परीक्षाओ के लिए लिपिक माँगा था। छह-छह घंटे की प्रयोग-सम्बन्धी परीक्षाएँ भी आराम-कुर्सी मे लेटे-लेटे दी थी। डॉक्टर ने चारपाई से हिलने-डुलने से भी मना किया था, परीक्षा मे पोजीशन के मोह में मैंने भी प्राय तै कर लिया था कि एक वर्ष के लिए छोड दूँ, और डॉक्टर ने तो यह भी कह दिया था कि 'या तो तुम परीक्षा का मोह छोड़ो या मुझे कहो कि मैं तुम्हारा मोह छोड़ूँ।' पर एक सहपाठी ने, जिस ने मेरी बडी शुश्रूषा भी की, मुझे समझाया कि मैं परीक्षा अवश्य दूँ। आवश्यक होगा तो वह कन्धे पर उठा कर मुझे परीक्षा-गृह मे ले जायेगा ···और जहाँ तक पोज़ीशन का प्रश्न है—यह कौन कह सकता है कि एक साल टाल जाने से ही कोई गारटी मिल जायेगी—अगले साल उस समय हैज़ा हो गया तो ? या हैज़ा न सही, हॉल मे जाते-जाते पैर फिसल कर टाँग टूट गयी या गहरी मोच आ गयी तो ? जो हो, उस की, और अपने भौतिक-शास्त्र के आचार्य ('किरणो की खोज' वाले गुरु ही) की दौड़-धूप से ही मुझे लिपिक रख कर परीक्षा देने की अनुमति मिली; और मेरा सहपाठी प्रतिदिन मेरे साथ परीक्षाभवन तक जाता और वहाँ से मुझे लिवा लाता रहा। वह बी० ए० का छात्र था, अत. उस के परचे अन्य दिन होते थे—पर यह बाद मे पता चला कि उस ने परीक्षा दी ही नही। मुझे बड़ी ग्लानि हुई कि मेरे कारण उस ने यह किया, पर उसका कहना था कि उस ने स्वतन्त्र रूप से यह निर्णय पहले से कर रखा था क्योकि पास तो वह हो ही नही सकता था। और यह जान कर ही वह पुलिस के लिए इंटरव्यू मे भी जा चुका है···

यह ठीक था कि उस के पास हो सकने की आशा किसी को नही थी—मुझे भी नहीं। यह भी ठीक है कि अपना परीक्षा-फल जानने से पहले ही मुझे सूचना मिल गयी कि वह पुलिस मे भरती हो गया है और

ट्रेनिंग ले रहा है। हॉकी का वह अच्छा खिलाड़ी था—कॉलेज और विश्वविद्यालय दोनो की टीम मे (और अनन्तर प्रान्त की टीम मे) रहा, यह पुलिस के लिए अतिरिक्त योग्यता थी...

मेरे ऋण की कहानी यही समाप्त नही होती। क्रान्तिकारी दल मे आ कर मै अमृतसर मे छिप कर रहता था, तब पुलिस की सरगर्मी वहाँ बहुत बढ गयी थी क्योकि कई षड्यन्त्रकारियो के वहाँ होने की सूचना पुलिस को थी—और ठीक ही थी। हम लोग एक-एक, दो-दो कर वहाँ से हट रहे थे। एक दिन अपने दो साथियो को गाडी मे विठा कर गाड़ी के चले जाने के वाद (पुलिस का कुछ अतिरिक्त प्रबन्ध देख कर यही ठीक समझा था कि गाडी के चले जाने तक रुकूँ ताकि निश्चिन्त लौट सकूँ) मै प्लेटफॉर्म से पुल की ओर मुड़ा ही था कि सामने एक वर्दीधारी से लगभग टकरा गया। उस से आँखे मिलते ही एक बिजली-सी दौड़ गयी। थानेदार की वर्दी मे मेरा सहपाठी सामने खडा था। क्रान्तिकारियो की खोज के लिए जिन की विशेष रूप से नियुक्ति हुई थी उन मे वह भी था। वही पहले वोला—तीखे फुसफुसाते स्वर मे—'मैने तुम्हे अभी पहचाना नहीं है—दो मिनट दूँगा।' फिर वदले हुए स्वर मे—'भाई माफ करना—मैं जरा जल्दी मे हूँ—' और आगे वढ़ गया।

दो मिनट मेरे लिए काफी थे। मै वाहर जा चुका था जब सीटियाँ बजने लगी और स्टेशन की नाकाबन्दी होने लगी।

जीवन मे अकारण वहुत-सा मिलता है। वह अकारण होता है इस लिए उसे ग्रहण कर सकना भी आसान तो नही होता। न अगीकार भारी हो, न उस के लिए कृतज्ञ-भाव बोझ जान पडे, ऐसा दैव-कृपा से ही मिलता है। उस आयाम मे 'दान न लेने' की वात कोरा अहकार है। मुझे वहुत मिला है, और कैसे कहूँ कि वह अकारण नही है? मेरी जन्म-पत्री मे लिखा है कि 'मेरे शत्रु वहुत होगे, पर मित्र के सिवा कभी कोई कुछ क्षति नही कर सकेगा।' तो थोडे से मित्रो की अकृपा से आहत हो कर यह क्यो भूल जाऊँ कि अनेक शत्रुओ के आघातो से भी उसी एक व्यापक करुणा द्वारा वचा लिया गया हूँ? ग्रह-फल की वात नही कहता—ग्रह स्वय क्या कम विचारे होगे कि एक दूसरे ग्रह पर जीने-मरने वाले कोटि-कोटि प्राणियो की वेचारगी मे हेर-फेर करने की स्पर्धा करे!—जीवन के उतार-चढाव के प्रति एक दृष्टि की ही वात कहता हूँ। दुनिया मे वहुत कुछ वदलना चाहता हूँ, कुछ उखाड-पछाड कर भी, पर जीवन

के प्रति मेरा बुनियादी भाव आक्रोश का नही है। जीवन एक विस्मयकर विभूति है, और मानवीय सम्बन्ध और भी विस्मयकर।

लाहौर मे जब कॉलेज मे पहुँचा, तब तक साइकल चलाना नही जानता था। कभी मौका ही नही हुआ, जंगलो मे पैदल चलने के ही अवसर अधिक मिलते रहे और छह वर्ष की आयु मे ही जम्मू से बनिहाल के रास्ते—यह बनिहाल की सडक बनने के पहले की बात है, जब सुरग नही थी और पीर पचाल की श्रेणी को ऊपर बर्फ पर से पार करना होता था—श्रीनगर की पैदल यात्रा की थी—ऊधमपुर से वैरीनाग तक पैदल, बाकी ताँगे मे। कॉलेज के लडके साइकलो पर कम्पनी बाग जाया करते थे—पढाई करने। बाग मे पढाई कैसे होती है यह मैं अब तक नही जानता, पर कभी-कभी साइकल पर किसी के पीछे बैठ कर चला जाया करता था। एक दिन एक सहपाठी के साथ था जो डील-डौल मे मुझ से बहुत छोटा था, किसी ने आवाज़ कसी कि 'इतने बड़े आदमी को शर्म नही आती, एक लडका साइकल पर बिठा कर घसीटे लिये जा रहा है!' बाग मे पहुँच कर मैंने साथी को तो पढने छोडा और साइकल ले कर चलाना सीखने लगा। दो-चार बार गिरा, पर ठान लिया था कि बाग से लौटूँगा तो साइकल स्वयं चलाता हुआ। शाम को वही किया भी, राह में दो-एक जगह लडखडाया या इधर-उधर टकराते बचा, एक-आध फटकार भी सुनी कि 'क्या साइकल चलाना नही आता?' पर बाग से होस्टल साइकल चलाता हुआ ही गया।

इस के बाद अभ्यास बढाने के लिए कई बार कम्पनी बाग गया। मेरा तो बी० एस-सी० का पहला वर्ष था, और कॉलेज की वार्षिक परीक्षा का कोई डर मुझे नहीं था, पर दूसरे वर्ष के लोगो के साथ-साथ चला जाता था और अधिकतर साइकल चलाता था, कभी-कभी पाठ्यक्रम की कविताएँ आदि पढने बैठ जाता था।

दूसरे कॉलेजो के लड़के भी आते थे। सब पढने नही आते थे, कुछ तो केवल पढने वालों को सताने आते थे। इन मे मुख्य था लॉ कॉलेज का एक लड़का जो विद्यार्थी से अधिक गुंडा प्रसिद्ध था। चार-पाँच वर्ष बी० ए० मे लगा कर वह कुछ वर्षों से एल-एल० बी० मे था, हर वर्ष परीक्षा देकर 'पुनस्तत्रैव वैताल:'। उस से सभी डरते थे क्योंकि उस का मुख्य काम दूसरो को तंग करना और जब-तब मार-पीट कर बैठना था। यो भी वह हट्टा-कट्टा था और कॉलेज मे नियमित रूप से पहलवानी भी

करता रहा था ।

मैं लाहौर मे नया था, उसे नही जानता था। नाम सुन रखा था, वस । कम्पनी वाग मे एक दिन एक आदमी हम दो-तीन लडको मे कुछ दूर वैठ कर शोर मचाने लगा, हम लोग चुप-चाप उठ कर दूसरी जगह चले गये तो थोड़ी देर वाद वहाँ भी आ गया। साथी तो चुप रहे, मैंने उसे डाँट दिया कि 'खुद नही पढना है तो दूसरो को तो पढने दो!'

वह मानो अपने-आप से वोला—'अच्छा भई, पढने वालो को पढने दो—अच्छा हम भी वैठ कर पढ ही ले।' फिर उस ने एक किताव निकाली। थोडी देर मे सुना, वह वडे ज़ोर से कानून की धाराएँ रट रहा है। लेकिन चुन-चुन कर वे धाराएँ जो वलात्कार, अप्राकृतिक मैथुन आदि अपराधो से सम्वन्ध रखती है। अवकी वार मैंने क्रुद्ध हो कर कहा—'पढना हो तो चुप-चाप पढो, नही तो अच्छा नही होगा।'

वह वोला—'ओ-हो। क्या कर लेंगे, वादशाहो?' और कुछ और जोर से पढने लगा।

मैंने कहा—'तुम मार खाओगे।'

वह वोला—'इसी लिए तो तरस रहा हूँ।' और उठ कर तैयार हो गया।

क्षण ही भर वाद हम गुत्थम-गुत्था हो गये। मेरे साथी आस-पास आ कर खडे हो गये। उन के चेहरे पर आतक ही अधिक था, यद्यपि उन की सहानुभूति निःसन्देह मेरे साथ थी। यो भी कॉलेज के लड़के द्वन्द्व धर्म का जो अलिखित नियम मानते है—जो यूथ के धर्म के समानान्तर चलता है।—उस के अनुसार उन के हस्तक्षेप की गुंजाइश कम से कम अभी तक न थी।

मै ऐसा दुर्वल नही था, पर वचपन मे सीखे हुए दाव-पेंच से आगे कुछ जानता ही नही था। उस ने मुझे पटक दिया। पर यह कोई दगली कुश्ती तो थी नही कि पीठ छू जाने से हार हो जाये। मेरे हाथ मुक्त थे, मैंने उस के लम्वे-लम्वे वाल दोनो पंजो मे पकड कर वडे जोर से उस के माथे पर टक्कर मारी। मेरी खोपडी कोई विशेष मोटी हो ऐसा तो नही जानता, पर शस्त्रवत् उस का उपयोग वचपन से करता रहा था, और उस की शक्ति जानता था। उधर उसे शायद ऐसा अनुभव पहली वार हुआ। क्षण-भर के लिए सिर मेरा भी भन्ना गया, पर उसे जो तारे दीखे तो घूमते ही चले गये, वह लुढक कर एक ओर गिरा और मैं उस की

छाती पर चढ़ बैठा। होश मे आने से पहले ही मैंने उसे अच्छी तरह थपड़िया दिया, और फिर औंधा कर उस की नाक अच्छी तरह जमीन पर रगड़ दी। गुस्सा मुझ मे नही था यह तो नही कहूँगा, पर कोई विशेष वदसलूकी करने की भावना भी नही थी, जो कुछ किया वह प्रतिहिंसा ने उतना नही जितना कुछ इस भाव से कि वह करणीय है। आस-पास खड़े लड़के भी अव तक सँभल कर जो वढावे और सुझाव देने लगे थे, वे भी इस के अनुकूल ही थे।

थोड़ी देर रुकने पर जव वह उठा, तव उसे दो तमाचे और लगा कर और यह कह कर कि 'अव और ज़रा जोर-ज़ोर से कानून पढ़ना !' हम लोग दल वाँध कर लौट गये। लेकिन हम से पहले हमारे कॉलेज मे ही नही, दूसरे कॉलेजो मे भी यह समाचार पहुँच चुका था कि अमुक गुडे को फार्मन कॉलेज के एक लडके ने पीट दिया...दूसरे दिन से दो-चार दिन तक अन्य कॉलेजो के लड़के देखने भी आते रहे – दूर से देखते, इशारे से वताया जाता, फिर चले जाते...मेरे लिए यह वहुत ही क्लेशकर हो जाता, पर शीघ्र ही परीक्षा की छुट्टियाँ हो गयी, और फिर ग्रीष्माव-काश, और फिर वात आयी गयी हो गयी। इस लिए और भी कि मेरे प्रतिद्वन्द्वी की गुडागिरी समाप्त हो गयी और उसी वर्ष उस ने वकालत की परीक्षा भी पास कर ली। वकील वह नही हुआ, सिनेमा एक्टर हो गया, खल-नायक की भूमिका मे प्रसिद्ध भी हुआ, लेकिन दस-ग्यारह वर्ष वाद जव कलकत्ते के एक स्टूडियो मे उस से फिर साक्षात्कार हुआ तव उस की हल्की मुसकराहट मे गुडई विलकुल न थी, एक अनुभव-दग्ध विषाद का ही भाव था।...

मैं चुप्पा प्रसिद्ध हूँ—या धीरे वोलना आभिजात्य के अहकार का लक्षण वताया जाता है। वात-चीत कम करना तो जीवन की परिस्थितियों मे स्वाभाविक था—वोलने का अभ्यास इतना कम था कि लगातार थोड़ी देर वोलता रहूँ तो मुँह दुखने लगता था। पर वचपन मे कभी-कभी गा-गुनगुना लेता था। शायद तीन या चार वर्ष का था जव की वात है : मैं शौचालय मे था और वही आत्म-विस्मृत भाव से गा रहा था :

'कोई किसी में मगन, कोई किसी मे मगन,
जिस में लगी हो लगन, सच्चा उसी में मगन'

यह गाना घर मे सुन रखा था—शायद वड़ी वहन की संगीत-शिक्षा

का अंग रहा था। अचानक मेरा मोह टूटा : मेरा गाना बाहर सुना गया था और बाहर एक हँसता हुआ स्वर मेरी नकल उडा रहा था—'कोई किसी मे मगन, कोई किसी मे मगन, सच्चा टट्टी में मगन'···मैं जल्दी से निवृत्त हो कर चुप-चाप चला आया, पर यह बात और इस के साथ की हँसी कई दिनो तक मेरा पीछा करती रही। वर्षों बाद भी, जब किसी भी काम मे मेरी असाधारण तन्मयता की ओर किसी का ध्यान जाता था तब (चाहे उस की प्रशंसा के निमित्त ही) पूछा जाता था-—'सच्चा उसी मे मगन ?' क्योकि बात का सन्दर्भ मुझे ज्ञात था, अत. 'उसी' के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नही थी, मुझे चिढाने के लिए इतना ही काफी था।

अनन्तर एक वाद्य सीखने का यत्न किया था—जब पहले-पहल उस की सुविधा मिली थी। बेला का स्वर मुझे विशेष प्रिय है, अत. वही सीखना प्रारम्भ किया था। गुरु महाराष्ट्रीय थे—गुणी परन्तु रूखे स्वभाव के। एक दिन बेला लिये उन के घर की सीढियाँ चढ़ रहा था कि उन्हे मुझ से पहले आने वाले विद्यार्थी को डाँटते हुए सुन कर ठिठक गया। 'तुम्हे कभी कुछ नही आने का !' वह कह रहे थे, 'एक तुम्हे, और एक उस वात्स्यायन को।'

मैं थोडी देर चुप-चाप वही खडा सोचता रहा कि मुझे क्या करना चाहिए। नही कहूँगा कि गुरु की वाणी ही फलवती हुई · पर संगीत मे अभी तक बिलकुल कोरा हूँ। उस दिन लौट कर बेला रख दिया सो रखा ही रहा, उस के तार कीड़े खा गये और अनन्तर लकडी भी सूख कर चटक गयी। सुनने का शौक बहुत है, पर कोई पूछता है कि 'सगीत मे रुचि है या नही ?' तो हाँ कहते झिझक जाता हूँ···

और भी घटनाएँ जानना चाहेगे ? पर अब तक आप अपने प्रश्न पर पछता उठे होगे। घटनाएँ तो बहुत है जो याद आती है, और एकान्त मे रहने से उन का विश्लेषण करने का अवसर भी काफी मिलता रहा है··· पर आत्म-कथा तो नही कहने बैठा हूँ। मानवेन्द्रनाथ राय से किसी ने आग्रह किया था कि आत्म-कथा लिखें, तो उन्होने हँस कर टाल दिया था : 'नही, मेरा अह इतना प्रबल नही है !' इस मामले मे उन का अनुयायी हूँ।

प्रश्न ७ : आप ने बहुधा ऐसे लोगो के साथ मिल कर काम किया

है जो रुचि, विचारों या प्रवृत्तियों की दृष्टि से आप से विलकुल भिन्न या विपरीत भी रहे। फिर काम के समाप्त होने के बाद स्वभावतया उन का-आप का कहीं किसी प्रकार का साथ भी नहीं रहा। ऐसा करना अवसरवादी होने से किस प्रकार भिन्न है?

उत्तर: नि.सन्देह मैंने बहुत से काम ऐसे लोगो के साथ, या ऐसे लोगो को साथ ले कर किये है जो मुझ से भिन्न रहे। क्यों नही करूँ? मैं मानता हूँ कि सभी परस्पर भिन्न होते है, और यह भी मानता हूँ कि सब को एक-सा बनाना चाहना गलत है—चाहे अत्याचार हो कर गलत, चाहे मूर्खता हो कर गलत। अगर अपने से भिन्न लोगो के साथ सहयोग करना अवसरवादिता है, तो फिर लोकतन्त्र क्या है? और अगर केवल अपने मत के लोगो के साथ ही सहयोग होना सिद्धान्तवाद है, तो यह मत-स्वातन्त्र्य के साथ कैसे मेल खाता है?

अवसरवादिता तब होती है जब अवसर से लाभ उठाने के लिए सिद्धान्तों को ताक पर रख दिया जाय। मैंने वैसा नही किया, दूसरों का सहयोग लिया है तो ऐसे ही कामो मे जिन्हे मैं सही मानता था। और लाभ भी विशेष नही उठाया वल्कि दड ही अधिक पाता रहा हूँ, जिन मे गलत समझा जाना, स्वयं सहयोगियो का निराधार विरोध पाना और झूठे प्रचार का शिकार होना भी गिनाये जा सकते है। फिर भी मुझे सन्तोष है कि मैंने कुछ काम अच्छे और उपयोगी किये—और उन मे ऐसो का भी सहयोग पा सका जो मुझे सहयोग न देते पर मेरे काम को देने को बाध्य हुए क्योंकि काम अच्छा था। कुछ ने अगर इस लिए सहयोग किया कि वे लाभ उठा ले और फिर विरोध भी करे, तो इस अवसरवादिता का जवाव आप उन से तलब कीजिए, मुझे उस से क्या?

प्रश्न ८: आप जो कुछ करते रहे हैं उस में परस्पर विरोध दिखाई देता रहा है, जैसे क्रान्तिकारी होना और फिर स्वाधीनता आन्दोलन के समय सेना में भरती होना। इसे आप कैसे संगत मानते हैं? देश के स्वाधीन होने के बाद देश-प्रेम के नाम पर आपने क्या किया है?

उत्तर: जो करता हूँ, उस मे अन्तर्विरोध हो नही, यह मै चाह सकता हूँ। दीखे नही, यह अपने-आप मे कोई इष्ट तो नही है। स्वय सामजस्य

पाऊँ, यह अपनी शान्ति के लिए आवश्यक है, दूसरो को भी सामंजस्य दीख जाये यह अतिरिक्त उपलब्धि है, जिसे जीवन के अप्रत्याशित विस्मयो मे गिनना चाहिए ।

लेकिन क्रान्तिकारी होने मे, और सन् १९४३ मे सेना मे भरती होने मे ऐसा दीखने वाला विरोध भी क्या है? आप ने अगस्त १९४२ की हल-चल को ही स्वाधीनता-आन्दोलन मान लिया, क्या यही भूल नही है? उस समय स्वाधीनता के लिए कई प्रकार की कार्रवाइयाँ हो रही थी जिन मे 'भारत-छोडो' आन्दोलन भी एक था। और मैं कहूँ कि सैनिक आक्रमण से भारत की रक्षा भी स्वाधीनता-आन्दोलन का एक और पक्ष था। 'हम ने युद्ध आरम्भ नही किया, हम उस मे भागी नही हैं, भारत को उस मे भारत की इच्छा के विरुद्ध, या उस की राय लिये बिना झोक दिया गया'—इन सब बातो को मान कर भी प्रश्न रह जाता था कि भारत के सीमान्त पर आक्रमण होने पर क्या किया जाये? एक मत यह था कि कुछ न किया जाये, अविरोध की नैतिक शक्ति से ही विजय मिलेगी। एक मत यह था कि जापानियो के सहयोग से भारत को मुक्त किया जा सकेगा—और इस के लिए एक सेना छोड कर दूसरी मे जा मिलना भी बुरा नही है बल्कि अनुमोदनीय है। तीसरा मत यह था कि अंगरेज़ से अपना सघर्ष इन्ही दो प्रतिपक्षियो तक रहना ठीक है, और कोई भी नया आक्रान्ता भारत का हितैषी नही होगा इस लिए जैसे भी हो भारत की रक्षा करनी चाहिए। मैं इस मत का था। उस से पहले जो करता था, उस मे और इस मे कोई विरोध नही देखता था, और यह भी देखता था कि कोई काम अगर करणीय है तो मुझे केवल इस लिए उसे दूसरे के जिम्मे नही छोडना चाहिए कि वह 'घटिया' काम है या जोखिम का है, या कि मुझे प्रीतिकर नही है। सैनिक कर्म को मैं उच्च कोटि का मानव-कर्म न समझता था, न अब समझता हूँ, (न क्रान्तिकारी आन्दोलन की सदस्यता के समय समझता था) न मैं यह मानता था कि वह मेरे लिए या मैं उस के लिए उपयुक्त हूँ। पर आपत्काल मे उसे करना गलत भी नही मानता था—उस दशा मे और भी नही जब कि इतने कम लोग उसे करने को तैयार थे। (और उसे न करने मात्र से यश मिलता था, आराम भी, और जोखिम से बचाव भी।)[1]

1. इस सन्दर्भ मे देखिए अगले शीर्षक—'ऋणदान' के अन्तर्गत पहला पत्र।

मैं यह नही मानता था कि जापानियों का सहयोग हमे स्वाधीनता दिलायेगा। अव भी नही मानता कि वे अगर भारत तक वढ़ आये होते तो अच्छा हुआ होता। स्वाधीन हम उस के वाद भी हुए होते—और सेना मे मैं जो कुछ कर रहा था उस का एक अंग यह भी था कि यदि जापानी पूर्वी भारत मे आ ही गये तो उस के विरुद्ध सैनिक सम्पर्क के साथ जनाश्रित विरोध का वुनियादी सगठन कर रखा जाये, जैसा कि यूरोप के विभिन्न **रेजिस्टेंस** आन्दोलनों मे हुआ था—पर ऐसा मैं अव भी नही मान सकता कि उस अवस्था मे हमारी स्वाधीन स्थिति आज की स्थिति से अच्छी होती। वल्कि मैं समझता हूँ कि तव हमारी एकता को अधिक आघात पहुँचा होता। विघटनशील शक्तियाँ आज की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होती और केन्द्रापसारी प्रवृत्तियाँ अधिक प्रवल। मैं कोरी सम्भावना की वहस मे नही पडना चाहता, और राजनीतिक विवादो से इस प्रश्नोत्तर को दूर ही रखना चाहता था, पर मेरी पक्की धारणा है कि उस दशा मे हमारी दशा अव से वदतर, दुर्वलतर और अधिक चिन्ताजनक होती। हम से और पूर्व के हमारे पड़ोसी देशों मे जैसी स्थितियाँ आयी है, वैसी ही यहाँ भी आयी होती या आ रही होती—और जहाँ आज हम उन्नति की योजनाएँ वना रहे हैं, वहाँ अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न ही हमारे लिए सर्वोपरि हो गया होता।

प्रश्न का दूसरा भाग और भी भ्रान्ति-मूलक है। आप ही से पूछूँ कि आप ने विश्वविद्यालय की परीक्षा पास करने के वाद आत्म-शिक्षण के नाम पर क्या किया है, तो आप क्या उत्तर देंगे? क्या इस लिए मान लेना होगा कि आप के विद्यार्थी जीवन और वाद के जीवन मे विरोध है? तुलना एकांगी है—सभी तुलनाएँ अनुपयुक्त होती है, पर प्रश्न का अनौचित्य इस से शायद दीख सके···

या यदि किसी प्रौढ़ विवाहित व्यक्ति से पूछें कि उस ने विवाह के वाद पत्नी-प्रेम के नाम पर क्या किया है तो वह क्या उत्तर देगा? कि सन्तान उत्पन्न की है? (जैसे मन्त्रित्व या संसद् की सदस्यता पायी है, या ठेके या अनुदान, या राजकीय सम्मान!) या कि पत्नी के लिए चूड़ियाँ वनवा दी हैं, या उसे सिनेमा दिखा लाया हूँ (जैसे डेलिगेशनों मे विदेश-यात्राएँ!)।

प्रेम के नाम पर कुछ भी करना प्रवचना है। प्रेम है, सो है; नही है तो नही भी है। प्रेम न होते भी प्रेम के नाम पर वहुत कुछ किया जा

सकता है और किया जाता है—और श्लाघित भी हो जाता है।

ये सब सतही बातें है। व्यक्ति मे भी, और उस से भी अधिक कला-कार मे, जिस सगति की अपेक्षा होती है वह इन से सिद्ध या असिद्ध नही होती क्योकि ये उसकी कसौटियाँ ही नही है। और मान ही लीजिए कि किसी के कर्म मे कुछ परस्पर-विरोधी आप पाते है, और वह केवल कर्म मे नही, कर्ता की चेतना मे भी पाया जाता है, तो उस से भी क्या सिद्ध हो जायेगा? वाल्ट ह्विटमैन वाला उत्तर[1] देने की जरूरत नही है, पर क्या अन्तर्विरोध का होना पाप है? या अपराध है? या अपात्रता है—जीने की, समाज मे रहने की, लिखने की, कला-कृतित्व की? या कि उस से उन्नति करने और अन्तर्विरोध को हल करने, या उसका प्रयत्न करने का अधिकार छिन जाता है? कोई सघर्ष मेरे भीतर नही है, ऐसा मैं नही कहता, न उत्कठित हूँ कि जल्दी उस अवस्था मे पहुँच जाऊँ जहाँ ऐसा कह सकूँ। इतना अवश्य है कि जो उदाहरण आप ने दिया है, उसी से कोई अन्तर्विरोध प्रमाणित नही होता—बल्कि कोई बाहरी विरोध भी वास्तव मे उस मे नही है। यह भी कि प्राय जैसी बातो को ले कर हिन्दी जगत् मे छीछालेदर हुआ करती है उन का आधार इस से भी उथला हुआ करता है। अन्तर्विरोध का होना, या लक्षित होना, अपने-आप मे बहुत बडा नकारात्मक तर्क है, ऐसा कोई साहित्यालोचक भी कैसे मान सकता है मेरी समझ मे नही आता, और कृतिकार या कवि के सम्मुख तो यह भावना ही न होनी चाहिए थी—सुनी हुई बातो के प्रभाव के कारण भी नही!

प्रश्न ६ : कम्युनिस्टों के विरोधी आप कब से हुए? क्या आप अमेरिकी विचारधारा को मानते हैं? यदि मानते हैं तो सैद्धान्तिक रूप से या कम्युनिस्टों की विरोधी विचार-धारा होने के कारण?

उत्तर · कम्युनिस्टो का विरोधी मैं नही हुआ। मेरे विरोधी अधिकतर कम्युनिस्ट हुए तो वे जाने। कम्युनिज्म मुझे पसन्द नही है, यह ठीक है। राजनीति मे वह आततायी हुआ है, दर्शन वह अधूरा और पगु बनाने वाला

१ 'आइ कान्ट्राडिक्ट माईसेल्फ?
वेरी वेल, आइ कान्ट्राडिक्ट माईसेल्फ
आइ एम वास्ट, आइ कटेन मल्टिट्यूड्स · '

है। और भारतीय कम्युनिज्म क़दम-क़दम पर देश-विरोधी और परदेश-निर्देशित सिद्ध हुआ है। मैं व्यावहारिक राजनीतिक नही हूँ, न होना चाहता हूँ, पर राजनीति के सम्बन्ध मे मेरे कोई विचार न हो ऐसी लाचारी नही मानता। जो हैं उन्हें नागरिक के नाते यथा-समय व्यक्त भी करता हूँ। पर मैं एक विचार रखता हुआ दूसरे को दूसरा विचार रखने की स्वतन्त्रता देने का कायल हूँ, इस लिए किसी मतवाद को न मान कर मैं मतवादी का विरोधी होना जरूरी नही समझता, और उसे कलंकित करना तो बिल्कुल नही। कम्युनिस्ट क्योंकि ऐसी स्वतन्त्रता को दिमागी ऐय्याशी समझते है, और साधन की शुद्धता को महत्त्व नही देते या कि व्यावहारिक परिणामवादी हो कर सभी फलप्रद साधनों को शुद्ध मानते हैं, इस लिए वे मतवादी का भी विरोध करते है, और उसे जैसे-तैसे लांछित करने या करवाने को न्याय-युद्ध मानते है।

अमेरिकी विचार-धारा भी क्या कोई है? यदि अमेरिका की विदेश नीति से प्रयोजन है, तो उस मे मेरी दृष्टि मे ठीक और बे-ठीक बहुत कुछ है, और मैं उस को वैसा ही मानता हूँ। और अगर अमेरिकी जीवन-पद्धति से मतलब है, तो वहाँ भी यही बात लागू होती है· मै स्वय वैसे रहना पसन्द न करूँगा। अमेरिकी अगर पसन्द करते है तो वे जाने। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं यदि राज-सत्ता, या राजनीतिक दल-सत्ता पर आधारित समाज को दोषपूर्ण मानता हूँ, तो यह नही कि पूंजी की सत्ता पर आधारित समाज को दोषपूर्ण नही मानता। दोनो रद्दी है, दोनों को बदलना चाहिए। पर एक मे अगर बदले जाने के प्रति विरोध कम है, या बदलना चाहने वालो का दमन नही होता है या कम होता है, या बदलने की इच्छा है और अपने दोष देखने की क्षमता अधिक है, तो इस तथ्य को न पहचानना ही कोई गुण नही है। तो जिन देशों मे एक या दूसरी प्रकार के समाज है, उन सभी मे यथोचित परिवर्तन हो ऐसा मै चाहूँगा—जहाँ तक चाहने की बात है। और परिवर्तन के अनुकूल मानसिक स्वातन्त्र्य का वातावरण वहाँ हो, यह भी चाहूँगा। जिन देशो मे वह अधिक हो, उन को अच्छा समझूंगा, क्योंकि उस स्वातन्त्र्य के बिना उन्नति और सुधार की गुंजाइश उतनी कम हो जाती है। और अगर देखूंगा कि यह अधिक या कम स्वातन्त्र्य केवल तात्कालिक स्थिति नही है, बल्कि कुछ सामाजिक-राजनीतिक संगठन ऐसे होते हैं कि अनिवार्यतया स्वातन्त्र्य को सीमित करते चलते हैं, और कुछ ऐसे कि उसे बढाने की ओर दत्तचित्त होते है, तो न

केवल स्वातन्त्र्य के होने या न होने को लक्ष्य करूँगा वरन् इस बुनियाद की ओर भी ध्यान दिलाऊँगा। और मेरा विश्वास है कि यह बात इतिहास द्वारा प्रमाणित है कि कम्युनिज्म इस स्वातन्त्र्य को अनिवार्यतया कम करता है, लोकतन्त्र उसे प्रसारित करता है। इस लिए दोनो मे मैं लोकतन्त्र का वरण करता हूँ। सम्पूर्ण निर्दोष लोकतन्त्र अभी दुनिया मे कही नही है, यह ठीक है, उस की कमियो की आलोचना होनी चाहिए यह मान लेता हूँ। सम्पूर्ण कम्युनिज्म भी अभी कही नही आया है अत. उस के वर्तमान दोषो से ही उस की अन्तिम परिणति का मूल्याकन न किया जाय—तर्क के लिए यह भी मान लेने को तैयार हूँ। पर क्योकि उस की अन्तिम परिणति मे भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए जगह न होगी, जब कि लोकतन्त्र के परिवर्तन उसे बढाने—या और संकुचित न करने के प्रति सजग हैं, इस लिए दोनो मे लोकतन्त्र की वर्यता प्रमाणित है। कौन अपने घर मे क्या करता है इस से मुझे आवश्यकता से अधिक प्रयोजन नही है। सैद्धान्तिक रूप से मै लोकतन्त्र को कम्युनिज्म से अच्छा समझता हूँ। और लोकतन्त्र को बुनियादी (रैडिकल) अथवा प्राथमिक (प्राइमरी) रूप दिया जा सके ऐसी चेष्टा का अनुमोदन करता हूँ। एम० एन० राय के विचारो की यही दिशा थी, विनोबा के विचारो की भी यही है, जयप्रकाश नारायण की भी। तीनों अलग-अलग रास्तों से उधर आये है या आ रहे है, उस से क्या। इस से भी क्या कि एक दृष्टि बुद्धिवादी, भौतिकवादी, मानववादी है और दूसरी ईश्वरपरक और अध्यात्मवादी।

प्रश्न १० : मार्क्सवाद को आप आज के युग का सब से बड़ा जीवन-दर्शन मानते हैं या नहीं ?

उत्तर जीवन-दर्शन ? जीवन-दर्शन क्या उसे कहा जा सकता है ? सब से पहले इतिहास को समझने की वह एक पद्धति है—और अत्यन्त उपयोगी पद्धति है—उस से हमे इतिहास की गतिविधि पर एक नयी दृष्टि मिली है। दूसरे वह एक उपयोगी अर्थ-दर्शन है। समाज की अर्थ-व्यवस्था को समझने मे वह सहायक हुआ है, उस के परिवर्तन और सुधार की दिशाओ का सकेत वह देता है। किन्तु जीवन-दर्शन ? मैं समझता हूँ कि मार्क्सिज्म के नाम पर जो जुल्म हुआ है उस की जड मे यह भूल है कि उसे व्यापक जीवन-दर्शन मान लिया गया—इतना ही नही, उसे अन्तिम

मान लिया गया स्वयं उसी की शिक्षा के विरुद्ध । जहाँ तक जीवन-दर्शन की बात है मैं समझता हूँ कि एक नये जीवन-दर्शन के निर्माण में डार्विन की देन कही बड़ी थी—और आइनस्टाइन की भी—और फ्रायड की भी।

प्राय. मान लिया जाता है कि भौतिकतावाद सम्पूर्णतया मार्क्स की देन है । वास्तव मे मार्क्स को केवल इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या का श्रेय देना उचित है । नही तो जहाँ तक जड़ से चेतन के विकास की बात है, डार्विन का विकास-सिद्धान्त हमे जीव-कोप के जिस प्रारम्भिक रूप तक ले जाता था, उस से चेतन को जडज मानना अनिवार्य अगला कदम था। फिर मार्क्स का समाज-दर्शन उपकरण का अर्थ-दर्शन है; अर्थात् वहाँ से आरम्भ होता है—या वहाँ तक हमे ले जाता है—जब मानव-जाति अनेक प्रकार के सामाजिक संगठनों मे गठित हो चुकी थी और उत्पादन के उपकरणों को काम में लाने लगी थी—वे संगठन कितने ही आरम्भिक और उपकरण कितने ही आदिम क्यो न रहे हो। जीव-विकास के क्रम मे जड से जीव-कोप, जीव-कोप से तरुवासी और भूचारी वानर, और वानर से वनौकस अथवा यूथचारी प्राङ्मानव की परम्परा इतनी लम्बी है कि उस की तुलना मे औज़ार का व्यवहार करने वाले सामाजिक मानव का सम्पूर्ण इतिहास उतना ही है जितना मानव के सम्पूर्ण जीवन की तुलना में उस की एक साँस । वास्तव मे जडवाद का दर्शन एक ओर जीव-विज्ञान की उस परम्परा पर आधारित है जिस मे प्रधान कडी डार्विन है, दूसरी ओर भौतिक-विज्ञान और रसायन के शोध पर जिस मे कोई एक नाम ले लेना शायद अन्याय होगा। मार्क्स की भी देन बहुत बड़ी है। पर 'युग का सब से बड़ा जीवन-दर्शन'—वह और चीज होती है। आधुनिक युग का कोई भी सन्तोष-जनक जीवन-दर्शन किसी एक व्यक्ति के अवदान पर आधारित नही हो सकता। वह कई क्षेत्रो की कई प्रतिभाओ के अवदान का और कई विज्ञानो के शोध की उपलब्धियो का समन्वय माँगता है। आज के अति-विशेपीकृत युग मे यह समन्वय बहुत कठिन भी हो गया है और इधर प्रयास भी बहुत कम हुआ है-- भारत मे मानवेन्द्र-नाथ राय के और यूरोप मे दो-एक छोटे पर निष्ठावान् सगठनो के प्रयत्नो को छोड़ कर प्राय: हुआ ही नही—इसी लिए इस विपय मे तरह-तरह की भ्रान्तियाँ फैली हुई है। जिन मे एक मुख्य भ्रान्ति यह है कि मार्क्स ने हमे एक पूरा जीवन-दर्शन दिया है, और वह बहुत बडा जीवन-दर्शन है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि वह जडवाद का भी पूरा दर्शन नही है बल्कि

उम का एक अग है।

प्रश्न ११ : सर्वपूज्य सन्त, सर्वप्रिय लेखक या सर्वसत्ताप्राप्त राजनीतिक नेता— आप इन तीनों में से कौन-सा होना पसन्द करते हैं ? निश्चय ही मै तीनों मे से कोई भी पद प्रदान नहीं कर सकता—केवल प्रश्न कर सकता हूँ !

उत्तर · पहला विकल्प हो ही नही सकना, क्योकि सन्त तो कोई भी पद पसन्द करने गे ऊपर उठ चुका होगा— नही तो सन्त कैसा ? और सन्त को सर्वपूज्य होने में तकलीफ ही अधिक होगी ऐसा मेरा अनुमान है। वाकी दो मे मे दूमरा—राजनीतिक नेता होना—तो मैं विलकुल पसन्द न करूँगा, मर्वमत्ताप्राप्त होना तो और भी नही क्योकि वह पतन का अचूक नुसखा है। रहा तीसरा, सो लेखक तो मैं हूँ ही; प्रिय होना किसे न अच्छा लगेगा, पर मैं थोडे से लोगो की प्रियता मे भी सन्तुष्ट हूँ। क्योकि प्रीनि का आधार निरे 'अच्छे लगने' से अधिक कुछ होना चाहिए, और वैसी शील-व्यमन-समानता मभी से हो सकेगी ऐसा भ्रम मै नहीं पालता। सर्वप्रिय जान पड़ने मे भ्रान्ति ही अधिक होगी— और जहाँ प्रीति का आधार न हो वहाँ की लोक-ग्राह्यता—**पापुलेरिटी**—जी का जजाल भर होगी, इस लिए उस के चक्कर मे नही पडूँगा। प्रीति करने वाले थोडे ही हो, पर प्रत्येक मेरे निकट मूल्यवान् हो—इतना वहुत काफी समझता हूँ। सौ—या हजार—पाठक खोने का मुझे उतना दु.ख न होगा जितना एक विवेकी की प्रीति खो देने का।

प्रश्न १२ : चुप-चाप साधारण मनुष्य वन कर जीने मे आप को क्या आपत्ति है ? असाधारण होने के प्रति यह प्रेम क्यो ?

उत्तर · चुप-चाप जीना, साधारण मनुष्य वन कर जीना शायद किसी युग मे नही था, आज के मुखर युग मे चुप-चाप रहने से अधिक असाधारण क्या होगा ? पर यह वताइये, कैसा भी 'वन कर' जीना क्या साधारण जीना है ? मैं जैसा जो हूँ वही हो कर जीना चाहता हूँ, कुछ भी वन कर नहीं; इसी को आप आपत्ति मान ले तो आप की इच्छा। मनुष्य जो है वही वनता है, उस से इतर कुछ वनना नकलू वनना है। उसी सत्त्व का

उन्मेप होने देना ही सहज स्वाभाविक जीना है। कह लीजिए कि मुझ में साधारण हो कर जीने का कोई आग्रह नहीं है, केवल सहज होना चाहता हूँ। असाधारण होने की कोई लालसा मुझ में नहीं है। किशोरावस्था मे मानता था कि क्रान्तिकारी असाधारण होते है; यह अव भी मानता हूँ कि एक भीतरी असन्तुलन ही वैसे क्रान्तिकारी वनाता है जैसे हम तव थे, पर अव अपने को वैसे क्रान्तिकारी के रूप मे नहीं देखता इस लिए असाधारणत्व का वह कैशोर्य-सुलभ वहाना भी अव नहीं रहा है। सामाजिक वस्तु-स्थिति को स्वीकार कर लिया हो ऐसा सन्तुलन अव भी नहीं है; पर सन्तुलन समाज के साथ समझौते से विलकुल अलग कुछ चीज है।

प्रश्न १३ : जीवन का चरम सुख आप के लिए क्या है ? जीवन की चरम उपलब्धि आप किसे मानते हैं ? क्या आप ईश्वर को मानते हैं ? नहीं, तो शान्ति आप को कहाँ मिलती है या आप उसे कहाँ खोजते हैं ?

उत्तर : ये प्रश्न वड़े-वडे हैं। इतने वडे कि उत्तर वहुत छोटा ही हो सकता है—अगर मौन ही एकमात्र सही उत्तर न हो। चरम सुख ? वह जीवन रहते कैसे जाना जाये, जव कि सुख और दुःख और दोनो के अनुभव की अपनी क्षमता का नित्य नया उन्मेप होता ही रहता है ? या कि वैदिक आर्यो की प्रार्थना को आधुनिक रूप दे कर कहूँ कि चरम सुख, चरम उपलब्धि यही है कि जीवन के अन्त तक उस के सम्पूर्ण और एकान्त अनुभव की क्षमता वनी रहे···इस का अर्थ गलत समझा जा सकता है, इस लिए और कहूँ कि चरम उपलब्धि है डर से मुक्ति। डर है तो 'जीवन का सम्पूर्ण और एकान्त अनुभव' हो नहीं सकता। कैसा भी डर—मृत्यु का डर, जीवन का डर, प्यार का डर, घृणा का डर, ईश्वर का डर··· **'अभीता नो स्याम'** अथवा **'एवा मे प्राण मा विभेः'** इस से वड़ी कोई प्रार्थना वैदिक आर्यो ने नहीं की, इस से वडा कोई आदर्श नहीं पाया, ऐसी मेरी धारणा है।

शान्ति ? कहीं नहीं खोजता। जव जितनी पाता हूँ भीतर से पाता हूँ। वह शिक्षा अथवा अनुशासन अथवा संयम का ही दूसरा नाम अथवा धन-पक्ष है, जव उस की पात्रता आती है तव पात्र में वह भरी मिलती है। 'प्रकृति शून्य नहीं सहती'—यह नियम जितना अशान्ति पर लागू होता है उतना ही शान्ति पर, और दोनो ही ऐसे द्रव है कि पात्र का ही रूप ले

लेते है—पात्र से अलग उन का कोई आत्यन्तिक रूप नही होता।

ईश्वर ? उसे मानने न मानने की वात जिस स्तर की होती है, उसे सामने कैसे लाया जा सकता है ? कम से कम पृच्छा की दृष्टि के सामने? जिन से उस की चर्चा हो सकती है, वे पूछते ही नही। वे जानते है।

प्रश्न १४ : सामाजिक व्यक्तित्व और साहित्यिक व्यक्तित्व अलग-अलग होना चाहिए, या हो सकता है, ऐसा आप मानते हैं ? इन दोनों का संघर्ष आप के जीवन में कभी आया है ? यदि हाँ, तो उसका क्या हल आप ने निकाला है ?

उत्तर . यह प्रश्न निरा पारिभाषिक भी हो सकता है; उस दशा मे उत्तर होगा कि दो व्यक्तित्व अलग भी हो सकते है, एक भी। यदि प्रश्न वैसा नही है, तो कहूँगा कि व्यक्तित्व एक ही हो सकता है, और उस मे अन्तर्विभक्ति का न होना ही उसकी स्वस्थता है, और उस के सामाजिक और साहित्यिक पक्ष की सफलता है। यो कर्म के क्षेत्र मे दायित्व अलग-अलग हो सकते है, और यह भी हो सकता है कि एक मे अपनी प्रतिभा की पूरी अभिव्यक्ति अथवा अपनी शक्ति के सम्पूर्ण दान के लिए दूसरे क्षेत्र से अपने को कुछ हटा लेना पडे। अपनी शक्ति या सम्भावना जान कर उस का उपयुक्त क्षेत्र मे सही उपयोग करना चाहना गलत नही है। पर ऐसा भी हो सकता है कि एक अंग का विकास दूसरे की पगुता का कारण या परिणाम हो, तव वह स्वस्थ नही है—आगे वह कुत्सा का पात्र है या करुणा का, यह देखना होगा।

मेरे जीवन मे भी ऐसी द्विधा न आयी हो, ऐसा कैसे सम्भव था ? पर क्या हल मैने निकाला, यह समझाना कठिन है जव तक कि क्या समस्या थी इस का पूरा विवरण न दे सकूँ—और वह उतना आसान नही होता है जितना जान पड सकता है। इसी लिए तो उपन्यास लिखे जाते है : ऐसी द्विधा का निरूपण पूरे प्ररिप्रेक्ष्य मे ही हो सकता है।

सक्षेप मे यह कहूँ कि मैं व्यक्ति का अपने प्रति भी उत्तरदायित्व मानता हूँ, समाज के प्रति भी। यह कोई नयी वात नही। पर मैं अपने प्रति उत्तरदायित्व को प्राथमिक मानता हूँ, और समाज के प्रति दायित्व को उसी से उत्पन्न। यहाँ से मतभेद का क्षेत्र आरम्भ हो है। जाता और आगे मैं लेखक का वहैसियत लेखक के एक अतिरिक्त निजी उत्तरदायित्व

भी मानता हूँ, और एक अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व भी—वह भी गौण अथवा उपपन्न ही। इसी लिए कलाकार की एकान्त साधना को अत्यधिक महत्त्व देता हुआ भी मैं समझता रहा हूँ कि समय-समय पर उसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओ पर अपना अभिमत प्रकट करना चाहिए: उन्हे उचित समाधान की ओर प्रेरित करने के लिए अपने मन्तव्य का जितना प्रभाव हो सकता हो होने देना चाहिए। यह नागरिक कर्तव्य मात्र नही है, क्योंकि इस मे केवल नागरिक के मत का उपयोग नही है, कलाकार की तद्वत् प्रतिष्ठा से उस मत को जो अतिरिक्त गरिमा मिल जाती है उस का उपयोग है। किन्तु अपने साहित्यिक व्यक्तित्व का ऐसा सामाजिक उपयोग करने या होने देने मे उसे दल-बन्दी से बचना चाहिए, क्योकि बिना इस के वह अपने निजी दायित्व से स्खलित हो जाता है।

मेरी समझ मे द्विधा का, संघर्ष का, क्षेत्र यही होता है—यानी उस संघर्ष का, जो कलाकार के भीतर होता है और जिस का उसे अपनी अखंडता, निष्ठा, इंटेग्रिटी अथवा ईमानदारी की रक्षा के लिए सामना करना पड़ता है। नही तो बाहरी संघर्ष तो अनेक हो सकते हैं—भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक लाभालाभ के प्रश्न···मैं कहूँ कि इस स्तर का संघर्ष मेरा अपरिचित नही रहा है, यह भी कहूँ कि ऐसा इस लिए कि मैं अपने साहित्यिक व्यक्तित्व से हिन्दी के औसत लेखक की अपेक्षा अधिक माँगता रहा हूँ। अपने को अधिक उत्तरदायी समझता रहा हूँ। वह मेरी भूल हो सकती है, और उस पर आधारित हो कर जब जिस द्विधा का जो हल मैं ने निकाला उस मे भी मुझ से भूल हुई हो सकती है। जो मैं मानता हूँ वह मैं ने बता दिया, उस पर कहाँ तक कायम रहा हूँ यह कहना केवल मेरा काम तो नही है, उस पर व्यक्तिनिरपेक्ष दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है।

एक-दो उदाहरण दे दूँ—जो अन्यत्र भी दिये जा सकते थे—आप के सहयोग वाले प्रश्न के उत्तर मे। सन् १९४२ मे मैंने 'फ़ासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन' का संयोजन किया था—तीन सयोजको मे से मैं एक था, दूसरे दो थे कृशन चन्दर और शाहिद अहमद। यह सम्मेलन प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से नही था। संयोजन समिति बनने से पूर्व यह प्रश्न उठाया भी गया था; मैंने कहा था कि यद्यपि मैं फासिस्ट-विरोधी लेखको की ओर से वैसी घोषणा को आवश्यक और उपयोगी मानता हूँ, तथापि किसी दल की ओर से घोषणा की जायेगी तो मैं उस मे सम्मिलित न

हूँगा। सम्मेलन को दल-गत सगठन से मुक्त माना और रखा गया, प्रगतिशील सघ के जो सदस्य उस मे आये थे उन्होने सम्मेलन के अन्तर्गत अपनी एक अलग बैठक भी की, पर जो सदस्य नही थे उन्होने उस मे भाग नही लिया। मुख्य प्रस्ताव (घोषणा) का और कुछ अन्य प्रस्तावो का मसविदा मैने तैयार किया था, अनन्तर विषय-निर्धारिणी मे परामर्श द्वारा यह निश्चय कर लिया गया था कि किस प्रस्ताव को कौन प्रस्तुत करे और कौन उस का अनुमोदन करे।

दस वर्ष बाद बम्बई मे सास्कृतिक स्वातन्त्र्य के विषय को ले कर जो सम्मेलन हुआ था, उस के भी प्रथम सयोजको मे से एक मैं था। राजनीतिक स्थिति-वश वह सम्मेलन दिल्ली मे न हो सका, जहाँ मेरा विश्वास है कि उस का रूप कुछ दूसरा, और मेरी समझ मे अधिक सन्तोषप्रद, होता। मेरी निजी राय यह भी थी कि उसे दिल्ली से अन्यत्र न ले जाया जावे, भले ही उस पर रोक लगा दी जावे और सम्मेलन होने ही न पावे। किन्तु बम्बई का आमन्त्रण भी था और समिति का बहुमत वहाँ जाने के पक्ष मे, अन्ततोगत्वा सम्मेलन वहाँ हुआ। उस ने जो रूप लिया वह साहित्यिक कम था, राजनीतिक अधिक; उस के बाद जो समिति बनी उस मे यद्यपि मुझे भी एक मन्त्री निर्वाचित किया गया था तथापि वही से मेरा सम्बन्ध उस सस्था से छूट गया। यह नही कि उस के बाद सस्था ने अच्छा कुछ नही किया, पर गलत भी कुछ किया, और यह तो हुआ ही कि दल-गत राजनीति से कलाकार या सास्कृतिक कर्मी को अलग रखने की बात वहाँ अप्रधान हो गयी—बल्कि कलाकार ही अप्रधान हो गया। अनन्तर उस की गति-विधि मे कुछ सुधार अवश्य हुआ है, और कई लोगो ने अनुभव किया है कि साहित्यिक उद्देश्यो को प्राथमिकता न देने मे भूल हुई; उस की अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र-सस्था मे भी इस प्रश्न पर वाद-विवाद हुए है और होते रहते है। पर उस सम्मेलन के बाद से उस सगठन का अथवा उस की किसी समिति का सदस्य मैं नही हूँ। और चलते-चलते यह भी कह दूँ कि यह बात —अपने को साहित्यिक कहने वाली कुछ हिन्दी पत्रिकाओ ने जैसा प्रवाद फैलाया है—सरासर झूठ है कि मेरी अँगरेज़ी पत्रिका 'वाक्' को इस सस्था से, अथवा किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय, विदेशी या देशी भी सस्था से, अथवा किसी भी सरकार से किसी प्रकार का अनुदान या सहायता मिली है या मिलने का आश्वासन मिला है। इतना ही नही, कोई अप्रत्यक्ष सहायता—यथा बडी सख्या मे प्रतियाँ खरीद लिया जाना—भी उसे

नही मिली है ।

जो कुछ मैं करता रहा हूँ उस पर लज्जित नही हूँ, उसे गलत भी नहीं मानता। इधर कुछ मित्रों ने सुझाया है कि इस प्रकार शक्ति का अपव्यय होता है, और जितनी शक्ति मैंने इन या ऐसे दूसरे कामों मे लगायी उस का इस से अच्छा उपयोग भी हो सकता था। मै यह मान लेता हूँ। सोच भी रहा हूँ कि भविष्य मे ऐसी झंझट मे न पड़ूँ। पर इसे आप चाहे सामाजिक बोध कह लीजिए चाहे खुदाई फ़ौजदारी, कि जब मुझे स्पष्ट कुछ दीखता है जिसे दूसरे नही देख रहे है—या देखते हैं तो जोखिम के डर से कह नहीं रहे है—तो उसे कहे बिना नही रहा जाता। 'भई, मुझे क्या!' वाली बुद्धि, उस दायरे में जो स्पष्ट ही मेरा दायरा है, मुझे ग्राह्य नही होती। जानता हूँ कि दूसरे बहुत से लेखकों को हो जाती है, और उन मे मेरे गुरुजन भी हैं और समवर्ती भी और नये लेखक भी, पर इस ज्ञान से मुझे और ग्लानि ही होनी है। फिर 'अमुक काम करणीय तो है, पर मुझे अप्रीतिकर या क्षतिकर है, इसलिए कोई दूसरा इसे कर दे और तब तक मैं कोई दूसरा लाभप्रद या यशप्रद काम कर लूँ'—यह बुद्धि भी मुझे ग्राह्य नहीं होती : यदि यह ठीक है तो फिर अवसरवादिता क्या है, स्वार्थ लोलुपता क्या है?

प्रश्न १५ : साहित्यिक कृतिकार के नाते आप क्या अपने-आप से सन्तुष्ट हैं, अपनी रचना के सम्बन्ध में अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो सके है? नहीं, तो रचना के बारे में आप की गहनतम चिन्ता क्या है?

उत्तर : सन्तुष्ट बिलकुल नही हूँ, नही तो और लिखता क्यो? अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त भी नही हूँ। पर वह अधिकतर लिखने से पहले होता है। और अगर बाद मे भी रहे तो जब तक वह रहता है, प्रकाशन नही करता। प्रकाशन के बाद फिर अगर शंका हो जावे तो फिर दोबारा नही छपने देता। जो लिखा है, उस मे कुछ काफ़ी अच्छा भी लिखा है ऐसा मानता हूँ, पर जो भी जब भी छपने भेजा है, द्विधा रहते नही भेजा, अच्छा समझ कर ही भेजा है। बाद मे स्वयं मत बदल जावे, या दोष दिखाने पर दीख जावें, वह दूसरी बात है। इस लिए कृतिकार के नाते अपने-आप पर लज्जित भी नही हूँ।

रचना के क्षेत्र मे गहनतम चिन्ता और क्या हो सकती है सिवा इस

के कि जो रचूं वह रागदीप्त सत्य हो—वह सम्पूर्ण सच हो, और जो सच है उस का अधिक से अधिक उस की पकड मे आ जाये और उस मे राग-दीप्त हो उठे ? इस पर शका हो सकती है कि सत्य तो दर्शन का क्षेत्र है, कला का क्षेत्र सुन्दर का ही है, और मैं उस बात का खडन नही करूँगा। कला भी ज्ञान का एक प्रकार या क्रिया है, अर्थात् सत्य की उपलब्धि की एक साधना है, सुन्दर उस की रागदीप्ति का उपकरण या साधन है।

बडी-बडी बाते मै नही करना चाहता, सत्य की बात कह रहा हूँ तो इस लिए कि इस समय मै जहाँ हूँ वहाँ, जो कुछ लिखता रहा हूँ उस सब के बारे मे, और भविष्य मे जो लिखूं उस के बारे मे एक मौलिक जिज्ञासा मेरे मन मे है। कह लीजिए कि एक नये, नये प्रकार के, अन्तर्द्वन्द्व के सामने हूँ। जब अभी नही जानता कि उस का हल क्या पाऊँगा, तब उस का कुछ भी निरूपण कर के आप को भ्रम मे डालना या अपना मार्ग और दुस्तर बनाना नही चाहता। जो भी उत्तर मिलेगा—अगर मिलेगा—तो वह उस मे प्रतिबिम्बित होगा जो लिखूंगा—अगर लिखूंगा। सच मानिए, उस के बारे मे मेरा कौतूहल आप से कम नही है।

लेखक-अभियुक्त

लेखको को—मोटे तौर पर—दो वर्गों मे बांटा जा सकता है। एक वर्ग उन का है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अपने को अपना 'हीरो' मान कर चलते, जीते और लिखते है; दूसरा उन का जो कुछ भी करे, अपनी नजर मे अभियुक्त ही बने रहते है। मै कहूँ कि मैं इन मे से दूसरे वर्ग का हूँ, तो यह न आत्म-श्लाघा है, न मुझ से भिन्न वर्ग के लोगो पर व्यग्य; यह केवल एक तथ्य की पहचान और स्वीकृति है। न मै अपना स्वभाव बदल सकता हूँ, न वे दूसरे; वस्तु-स्थिति के साथ हमारे सम्बन्धो मे और उन से प्रतिकृत होने वाले अनुभव-यन्त्रो यानी हमारे मानसिक गठन मे जो भेद है उसी का यह परिणाम है। मेरे वर्ग के लोग प्रतिकृत होते है और फिर अपनी प्रतिक्रिया को भी अपनी-अपनी अनुभव-दक्षता की धार पर रखने का प्रयत्न करते है—यानी प्रतिक्रिया और यन्त्र दोनो एक-दूसरे की कसौटी बन जाते है।

बात असल मे यह है कि ये दोनो प्रवृत्तियाँ दो अलग-अलग प्रकृतियो को सूचित करती है। एक प्रकृति अन्तर्मुखीन होती है इस लिए कभी अपने को 'मान कर' नही चल सकती। 'मैं जैसा हूँ, वैसा अपने को

स्वीकार्य नही हूँ और उसे बदलना चाहता हूँ तो पहले उस को सही-सही पहचान लेना चाहिए—चेतन अथवा अवचेतन रूप से यह धारणा इस प्रकृति के लोगो को निर्दिष्ट करती है। दूसरी तरफ कुछ कलाकार—कलाकार होने के बावजूद—वहिर्मुखीन प्रकृति के होते हैं; वे अपने को मान कर चलते हैं। अव्वल तो वे बहुत जल्दी कुछ बदलना भी नही चाहते; दूसरे बदलना भी चाहते है तो औरो को ही बदलना चाहते हैं और अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं। उन मे से बहुत-से युग-सम्पृक्त आदि-आदि होने का दावा भी करते हैं, लेकिन मूलतः उन की धारणा यही होती है कि युग और समाज उन से सम्पृक्त हो, यह नही कि वे अपने को युग के अनुकूल ढालें।

यह नही कि मैं ही अपने को हमेशा हर बात मे युग के अनुकूल ढालने को तैयार हूँ या कि उसे सम्भव ही मानता हूँ। मेरी सीमाएँ तो हैं ही, साथ ही युग की भी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ है जो मेरे निकट अवांछनीय हैं। उन्हे मैं नहीं मानना चाहता और भरसक नही मानूँगा; उन के अनुकूल अपने को क्यों ढालूँ, क्यो ढालना चाहूँ? इस बात की सच्चाई को मान कर भी मैं उस से अभिभूत नही हो जाता कि जो संस्कृतियाँ अपने को युगानुकूल नहीं ढालती वे मर जाती है। मर जाना एक तो अनिवार्य है; दूसरे वह कुछ ऐसा आत्यन्तिक रूप से बुरा भी नही है; और तीसरे जीवन अत्यन्त वांछनीय और प्रीतिकर और मूल्यवान् हो कर भी सांस्कृतिक मानव-जीवन का चरम मूल्य नही है। ऐसी बहुत अधिक चीजें नही हैं, पर कुछ बातें अवश्य है जिन के लिए जीवन को छोड़ा जा सकता है—या कि जीवन के लिए जिन को नही छोड़ा जा सकता। अणु-बम के विरोध मे वर्ट्रेंड रसेल के शान्तिवादी तर्कों की सब से बड़ी कमजोरी मुझे यही मालूम होती रही है कि जब वह कहते हैं कि 'जीवन रहेगा तो सांस्कृतिक मूल्यों की फिर से प्रतिष्ठा करने का मौका भी रहेगा', तब यह भूल जाते हैं कि ऐसा मान लेना ही तो मानवीय सभ्यता की सब से बड़ी उपलब्धि को खो देना है। मानवीयता और क्या है सिवा इस पहचान के कि जीवन ही अन्तिम मूल्य नही है—**कि जिजीविषा से बड़ा भी कोई मूल्य है और वही सच्चा मानव मूल्य है क्यो कि मानव का रचा हुआ मूल्य है?**

यह तो अपनी बात हुई—कि अपने तईं मैं अभियुक्त होने का आदी हूँ। कुछ साहित्य-जगत् ने भी मुझ पर ऐसी कृपा रखी है कि मुझे इस

का काफी अवसर दिया है कि मुझे अपने स्वभाव के अनुकूल वातावरण मिलता रहे। जो कुछ लिखता रहा हूँ उस को प्रशंसा या मान्यता मिली भी है तो हर नयी पुस्तक के बाद इस रूप मे कि 'इस से पहली रचना तो फिर भी गनीमत थी, यह नयी रचना तो बिल्कुल असह्य है'। किसी हद तक मै साहित्यिक और पत्रकार समाज का इस के लिए आभारी हूँ क्यो कि इस ने मेरे स्वास्थ्य को बनाये रखने मे बड़ी सहायता दी है। मुझे सन्तोष है कि अभी तक आलोचक-समाज की प्रतिक्रिया का यह क्रम बना हुआ है। बल्कि जिस दिन वह समाज मेरी किसी नयी रचना को उस से पहले की रचनाओ से सब तरह श्रेष्ठ बतायेगा उस दिन मैं समझूँगा कि चिन्तित होने का यथेष्ट कारण है—कि प्रयोगशीलता समाप्त हो गयी और इस लिए नया कुछ सीखना भी बन्द हो गया क्यो कि साहित्य-रचना सब से पहले नया कुछ सीखना ही है।

लेकिन, जैसा कि मैंने पहले भी बार-बार कहा है, लेखक की बात का कभी विश्वास नही करना चाहिए; खास कर उस के अपने लेखन के विषय मे उस की बात का। इस लिए अगर मेरी बात को सौ फी सदी सच मान लेगे तो मुझे तकलीफ होगी। मै जब अपने सामने अभियुक्त हूँ तो आप के सामने भी अभियुक्त ही हूँ, मेरा बयान अभियुक्त का बयान है और इस लिए उस को ज्यो का त्यो सच मानना जरूरी नही है। न वह बयान मुझ से हलफिया दिलवाया जा सकता है। उस मे सच्चाई से कुछ इधर-उधर आप को मिले तो उसे आप लेखक का 'पोज़' मान लें, वहाँ तक तो ठीक—और लेखक के दूसरे अनेक पोज़ क्षम्य है तो अभियुक्त का पोज भी क्यो नही हो सकता ?—लेकिन उसे आप झूठ नही मान सकते।

दिल्ली षड्यन्त्र केस और उस के बाद शस्त्र कानून और विस्फोटक कानून के अधीन मुकदमो के बाद मुझे सैशन अदालत से सजा हुई थी पर फिर हाई कोर्ट ने मुझे बरी कर दिया। इस के बाद एक मित्र के यहाँ भोजन पर उस अँगरेज सैशन जज से भेट हुई थी जिस ने मुझे दंड दिया था और उसे मेरा परिचय देते हुए बताया गया था कि मै लेखक हूँ, तो उस ने पूछा था, "उपन्यास के ?"

उत्तर मे जब मैंने कहा, हाँ, तब उस ने मुस्करा कर व्यंग्य किया था, "मैं पहले ही समझ गया था, तुम्हारा सफाई का बयान उपन्यास का अच्छा नमूना था !"

यह स्थिति सर्वथा ठीक है। मेरा सफ़ाई का बयान निरी औपन्यासिक रचना थी; लेकिन इस्तगासा तो बिल्कुल ही झूठा था—और इसी लिए उच्चतर अदालत ने मुझे बरी कर दिया। अब भी ऐसा ही है कि मेरे बयान औपन्यासिक है, लेकिन दडनीय मैं नही हूँ क्यो कि वाद केवल प्रवाद है। अर्थात् मेरी अभियुक्तता वरकरार है लेकिन अपराधी मैं नही पाया जाऊँगा।

और यह बात मेरी पहली ही रचना से शुरू हो गयी थी। पहली रचना यानी—पहली बडी रचना, क्यो कि उस से पहले इक्का-दुक्का कविताएँ तो मैंने लिखी थी। यह 'बडी रचना' थी एक नाटक जो कि मेरा पहला और अभी तक सब से अन्तिम नाटक था। मैं दूसरे वर्ग का लेखक होता तो इतने आधार पर यह भी कह सकता कि यह मेरा सब से महान् नाटक था क्यों कि अद्वितीय तो रहा ही। लेकिन वर्गबन्ध के कारण उसे अपनी असफलता के रूप मे पेश कर रहा हूँ। तब मैं दस-ग्यारह वर्ष का था; उसी वर्ष मैंने मच पर पहला अभिनय देखा था—**सत्य हरिश्चन्द्र** का—और उस के फौरन बाद **भारत-दुर्दशा** और फिर **सूम के घर धूम** तथा द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक नाटक पढे भी थे। इसी के साथ-साथ गान्धी के नाम से और स्वदेशी आन्दोलन से भी परिचित हुआ था। इन सब का सयुक्त प्रभाव यह हुआ था कि मैंने स्वाधीनता-सम्बन्धी एक नाटक लिखा था जिस का आरम्भ (**सत्य हरिश्चन्द्र** की तरह) इन्द्र सभा मे होता था और अन्त एक ऐसे अपूर्व लोक मे जिसे आप चाहे तो रामराज्य कह ले—राम के अभिषेक के बाद की अयोध्या का सुना हुआ वर्णन नि सन्देह मेरे मन मे बसा रहा होगा।

नाटक का अभिनय तो हो ही न सकता; पर जिस-जिस को पढ कर सुनाया उस-उस से बिल्कुल दिल-तोड अवमानना ही मिली। ग्लानि से भर कर मैं नाटक की हस्तलिपि हाथ मे लिये हुए घर के पिछले बरामदे मे खडा था, जहाँ उस समय और कोई नही था सिवा हमारी गाय के जिस की उपस्थिति मुझे उस समय नहीं खटक रही थी क्यो कि वह नाटक की श्रोता तो नही थी। एकाएक गाय ने मुँह आगे बढा कर मेरे हाथ से कागज़ खीच लिये और बड़ी-बड़ी आखो से मेरी ओर देखते हुए उन्हे खा गयी। उस समय मुझे लगा कि उस गाय की आँखो मे भी अभियोग है। अब यह तो गाय ही बता सकती है कि वह अभियोग क़ागज़ के बेस्वाद होने का था या कि नाटक के बेमज़ा होने का। और गाय

की भाषा मैं तो समझता भी नही। एक दूसरे बुजुर्गवार कहानी-लेखक अपनी कहानियो मे गाय से वातचीत कर लेते है; पर उन से तव तक परिचय नही हुआ था। मैं तो मै, मेरी गाय भी उन से परिचित नही हुई थी।

जव हवा निरन्तर अभियोगो के उछाले जाने की सरसराहट से भरी रहती है, तो मै अपनी ओर से वे अभियोग क्या गिनाऊँ जो मैं अपने ऊपर लगाता रहता हूँ? अगर इतना कहूँ कि मेरे अपने अभियोग वे अभियोग नही होते जो दूसरे मुझ पर लगाते है, तो इस का अर्थ यही होगा कि मैं अपने पर ऐसे भी अभियोग लगाता हूँ जिन का पाठको और आलोचको को पता नही हैं। निःसन्देह ऐसा ही है, और क्यो कि ऐसा है इस लिए मैं अपनी अदालत मे अपने मुकदमे की सुनवाई और पैरवी अपने तक ही रखना चाहता हूँ। यह मुकद्दमा विल्कुल इन कैमेरा है—इस मे किसी बाहर के व्यक्ति को आने की अनुमति नही है। जज, वादी, प्रतिवादी, वकील, अभियुक्त और दोनो पक्ष के गवाह—वस ये ही व्यक्ति अदालत मे आ सकते है। और ये सव व्यक्ति स्वयं मैं हूँ क्यो कि मेरी ही तो अदालत है। यह ठीक हैं कि गवाहो मे कुछ मेरे उपन्यास-कहानियो के चरित्र भी होगे; लेकिन वे भी तो जिस रूप मे मेरे सामने आ सकते है उस रूप मे सर्वसाधारण के सामने नही आ सकते—अर्थात् उन के वयान भी प्रकाश मे नही लाये जा सकते। मेरे जीवन की तरह उन के जीवन भी जितने प्रकाश मे आ सकते है उतने रचना मे ही आ गये है। उतने ही पाठक के लिए प्रासंगिक भी हैं। शेखर या चन्द्रमाधव, रेखा या योके, मदनसिंह या मोहसिन पाठक के सामने जो है, क्या यह कहा जा सकता है कि मेरे सामने भी ठीक वही है? उन से मेरी वात प्राय. होती रहती है और मै उन सव का अभियुक्त हूँ क्यो कि वे जैसे वने है उन को वैसा वनाने का उत्तरदायी मै हूँ। लेकिन वे जैसे मेरे पाठक को दीखते है, जैसे मुझे दीखते है और जैसे वे स्वय अपनी नजरो मे है, क्या तीनो अलग-अलग नही है? उन की आपस मे वातचीत और कहा-सुनी भी अवश्य हो सकती है। लेकिन ऐसा हो सकता है, यही इस वात का सवूत है कि मेरे ये पात्र कुछ दूसरे है और आप के यही पात्र विल्कुल दूसरे। फिर इन के साथ मेरा मुकद्दमा मैं आप तक कैसे पहुँचा सकता हूँ?

आप ने कभी वह जेवी शतरंज देखी है जिस के मोहरे चिपके रहते

हैं और जिसे जब चाहे समेट कर जेब मे रख लिया जा सकता है और जब चाहे फैला लिया जा सकता है? अकेले मे समस्या-शतरंज खेलने वाले लोग ऐसी ही जेबी शतरंज अपने पास रखते हैं। लेखक और उस के चरित्रों का खेल भी ऐसी ही शतरंज है—वह स्वभावतः समस्या-शतरंज है और अनिवार्यतया एकान्त की शतरंज है। दूसरे सब उस के लिए बाहरी हैं—इन की उपस्थिति केवल एकाग्रता को विकेन्द्रित करती है और इस तरह समस्या को धुंधला कर देती है।

और मैं अपना अभियुक्त हूँ। मुझे एकाग्र हो कर मुकद्दमा सुनना है इस लिए क्षमा चाहता हूँ। आप सब तब तक मेरी रचनाओं के साथ अपना मनोरंजन कीजिए—मेरे रचे हुए सब चरित्र आप की सेवा मे उपस्थित हैं।

सन्दर्भ : मन

मन से परे

राजा त्रिशकु और विश्वामित्र की कहानी वचपन मे ही सुनी थी । वच-पन मे सगति-असगति और तारतम्य का जो कठोर निर्मम शास्त्र होता है, वह तनिक-सा भी व्यतिक्रम नही सहता, और उस पर कसी जाने पर दु स्पर्द्ध मुनि की सृष्टि कुछ ऐसी अटपटी, वेमेल और अपरूप जान पडी थी कि उस का वेढंगापन ही कहानी के मुख्य प्रभाव के रूप मे अवशिष्ट रह गया था · किन्तु ज्यो-ज्यो भापा के साथ परिचय वढता गया है, शब्द और सस्कृति के परस्पर योग की गम्भीरता क्रमश अधिक प्रकट होती गयी है, त्यो-त्यो पुरानी कहानियो मे भी गम्भीरतर नया अर्थ मिलता या दीखता गया है और एक दिन हठात् मुझे ऐसा लगा है कि त्रिशकु की कहानी भी वास्तव मे वह नही कहती जो वह कहती है । उस का न तो मुनि की स्पर्द्धा से विशेप सम्बन्ध है, न राजा के शरीर-मोह से, न ही वह अपरूप और वेढगे जीव-जन्तु या वनस्पतियो के अस्तित्व की सफाई देने की युक्ति है···परम प्रमाण-विद् विश्वकर्मा ने ऊँट और ताड नही वनाये होगे, इस लिए इन के होने का वोझ एक मुनि के अहकार पर लाद दिया जाये, यह प्रकारान्तर से मानवीय अह का ही विस्तार है : विश्वकर्मा भी उन्ही मूर्ति-प्रमाणो को मानते है जिन्हे हम ने आविष्कार किया है, इस वात का दावा है ! वास्तव मे कहानी जो कहती है, वह समूची वात ही एक दूसरे स्तर की है ।

पेड-पौधे और जीव-जन्तु देखने का अवकाश बचपन से मिलता रहा है, जगलो, वीरानो और खँडहरो मे रह कर मानवेतर सृष्टि को कुछ

अधिक निकट से देखने का सुयोग पा गया हूँ—उसे स्वीकार कर लिया इस लिए सुयोग कहता हूँ, नही तो दूसरे बहुत से लोग उसे केवल लाचारी कहते यह जानता हूँ। जो हो, एक प्रकार का बबूल देखा था जिस का काँटा तीन काँटों या शूलों का समूह होता है। बहुत बचपन मे तो इस काँटे का एक ही उपयोग यह जानता था कि उस से 'घड़ी' बनायी जाये—एक पत्ती मे एक शूल भेद कर उसे नीचे से घुमाया जाये तो बाकी दोनो शूल घडी की सुइयो की तरह पत्ती के ऊपर घूमते थे। तीनो शूलो के परस्पर सम-कोण बनाने के कारण घडी की 'सुइयाँ' बराबर तीन या नौ बजाये रहती थी [या कह लीजिए पौने छह, सवा छह, या पौने बारह, सवा बारह], इस से बाल-सुलभ कल्पना-शीलता को कोई बाधा न होती थी।

किन्तु अनन्तर, जब यह घडी की सुइयों वाली बात अपनी नवीनता खो कर बचकानी हो गयी, तब तीनों शूलो की सम-कोण स्थिति अपने-आप मे कौतूहल का विषय बन गयी। घन के तीन आयाम—लम्बाई, चौडाई, ऊँचाई—उस से सूचित होते है, गणित की शिक्षा का यह आरोप प्राकृतिक रचना से बुद्धि या पर्यवेक्षण का एक नया सम्बन्ध जोडता था।

किन्तु जिस दिन कोश मे पाया कि शंकु का अर्थ काँटा होता है, उस दिन पहली बात यह हुई कि त्रिशंकु का चित्र मन मे बदल गया। बचपन की कहानी का अधर मे टँगा हुआ राजवेशी मानव, ताड़, ऊँट, छिपकली, लकड़बग्घा आदि से घिरा हुआ तन कर खडा मुनि—ये सब आँखो के आगे से हट गये और उन का स्थान तीन शूलो वाले एक बड़े काँटे ने ले लिया। तीन आयामों की ओर इंगित करने वाला वह बबूल का काँटा ही वास्तविक त्रिशंकु है जिस पर एक रूपाश्रयी कहानी का आरोप कर दिया गया है; कहानी मे जो कुछ अर्थ है—और पौराणिक कहानियो मे क्या रूप-वेष्टित अर्थ ही प्रधान नही होता ?—वह राज-रूप से नही, कंटक-रूप से ही उपलब्ध होगा, ऐसी एक सम्भावना मन मे कहीं बस गयी। सीख मिलेगी तो 'शलाका पुरुष' से नही, स्वय शलाका से ही। [शलाका, सलाख, शंकु, सीक, सीख, सीख !]

इस तरह के सहसा उदित होने वाले 'सत्य' वास्तव मे सहसा मूर्त नही होते; मूर्ति का उद्घाटन ही सहसा होता है और हम उद्घाटन के क्षण को निर्माण का क्षण मान लेते है यद्यपि वह न जाने कितने लम्बे संचय-अपचय, क्षरण-निरूपण का परिणाम होता है। इस लिए त्रिशंकु की नयी

रूप-कल्पना के 'जव' को काल-विन्दु न माना जाये, धारा मे किसी समय पहचान लिया जाने वाला एक स्रोत या आवर्त ही माना जाये···तत्त्व की वात यह कि त्रिशकु का रूपक एक नये चोले मे सामने आ गया--या कि उस रूपक के भीतर एक दूसरे स्तर की सचाई का सकेत मुझे मिला। अर्थ और कथा, रूप्य और रूपक, वास्तव मे दोनो ही आमने-सामने रखे हुए दो मुकुर हैं, जो एक-दूसरे के अनन्त प्रतिविम्व देते चले जाते है, क्षीण से क्षीणतर पर सभी पुष्टिप्रद···इसी लिए तो एक ही अर्थ जव दो अलग-अलग रूपको मे वाँधा जाता है—अर्थात् दो मुकुरो मे से एक जव वदल दिया जाता है—तव ये असख्य परस्पर प्रतिविम्व भी वदल जाते है—वही सत्य असंख्य नयी अनुगूंजे दे जाता है···

'देश' अथवा दिक् मे किसी भी वस्तु की 'स्थिति' निरूपित करने के लिए तीन आयामो मे उस की अवस्थिति वतानी पडती है, नही तो उसे स्थूल या मूर्त रूप ही नही मिलता। कौन चीज चीज है, और कहाँ है, यह वताने के लिए तीन आयामो की माप अपेक्षित है। त्रिशंकु को त्रि-शंकु के नये रूप मे पहचानें तो आकाश मे उस का निरूपण वास्तव मे भौतिक अस्तित्व का निरूपण है। विना उस के भौतिकता ही नही होती। 'सशरीर आरोहण' भी सहसा कैसी नयी अर्थवत्ता पा लेता है इस प्रकार ! जो त्रि-शकु नही है वह स-शरीर हो ही नही सकता—क्योकि तीन आयामो मे अस्तित्व ही तो शरीर है !

और 'अधर' मे स्थिति ? नैरन्तर्य का यह सकेत चौथे आयाम का सकेत है —काल के आयाम का। वास्तविकता केवल देश मे स्थिति नही, काल मे स्थिति भी है—मूर्त होने के लिए केवल होना पर्याप्त नही है वल्कि होते रहना भी अपेक्षित है।

तो त्रिशकु की कहानी का यह नया अर्थ मुझे मिला। वह अर्थ उस मे है या नही, कथाकार ने उसमे रखा था या नही, इस का उत्तर कौन क्या दे सकता है ? काव्य की शक्ति इस उत्तर के सहसा न दिये जा सकने मे ही है। यही है जो कलाकृति को कलाकार से वड़ा वनाती है—इसी मे उस की अन्त.सत्त्वता है जिस के लिए यह आवश्यक नही है कि कलाकार ने उसे देखा-पहचाना हो, पूरी तरह उस से अवगत हो या उसे आयत्त कर चुका हो। मुकुरो के परस्पर प्रतिविम्व · क्या उन की अन्तहीन परम्परा को मुकुरों ने वहाँ सजाया है ?

सह सत्य वडा है या नही, नया है या नही, इस से भी मुझे क्या

मतलव है जव इसी से मुझे प्रयोजन नही रहा कि वह सत्य भी है या नही ? वास्तव में वह प्रश्न दूसरे क्षेत्र का हो जाता है। किसी रूपक या विम्व या 'इमेज़' के पीछे सत्य का आत्यन्तिक मूल्य एक वात है, उस की सम्वन्ध-कारकता, उस की तदर्थ-प्रेषकता दूसरी वात। घर है कि नही, यह प्रश्न कला का नही, तत्त्व-दर्शन का है; द्वार है कि नही, यही प्रश्न कला की कसौटी है। यह जोडना आवश्यक नही है कि द्वार का होना किसी तरह भी घर के होने का विरोधी नही है, यह नही मॉगता कि घर न हो। किन्तु द्वार के आगे घर ही हो, यह शर्त भी वह नही करता। उस के आगे खुला प्रवेश भी हो सकता है। एक अवस्थिति से दूसरी तक का परिप्रेक्ष्य उसके द्वारा खुले, असल मॉग यही है।

[२]

देश-काल की परम्परा। और एक द्वार।

मेरा मन ही तो एक द्वार है जो एक अचरज-भरी दुनिया की ओर खुलता है। [वह दुनिया घर है कि खुला प्रदेश।] एक तनाव और दर्द और मनस्ताप-भरी अचरज-दुनिया की ओर—जिस मे कैसे-कैसे अद्‌भुत प्राणी रहते है। भोक्ता मैं, और भोग्य ममेतर—मेरा परिदृश्य, मेरी परिस्थिति, मेरा परिजगत्, यथार्थ—ये दोनो मुकुर भी आमने-सामने हैं और एक-दूसरे को प्रतिविम्वित करते है असख्य रहस्यमय आवृत्तियो मे, छाया-रूपो मे···और ये छाया-रूप ही मेरे मनोजगत् के वासी असंख्य अद्‌भुत प्राणी है—जो सभी मैं भी है, ममेतर भी है, और दोनो की परस्पर प्रतिच्छायित असंख्य रहस्यमय सम्भावनाएँ भी···उसी जगत् मे से कोई सम्भावनाएँ ऊपर आती है और कोई विलीन होती है, कोई खुल कर जैसे घुटन और तनाव को विखेर देती है, मुक्त करती हैं; कोई मुँद कर, रुँध कर तनाव मे और वल दे देती हैं; कोई प्रतीको के मुखौटे ओढ़ कर वाहर विचरण करने चली जाती है, तो कोई एकान्त साक्षात् की साधना मे सव आवरण-वेष्टन झरा कर कृच्छ्र तपस्या के लिए गुफा-वास अपना लेती हैं···

कुछ को मैं पहचानता हूँ। कुछ से दुआ-सलाम है; कुछ से पान-खइनी के विनिमय का सम्वन्ध, कुछ ऐसे अति-परिचित हैं कि अवज्ञा को ही सहजता पाते है···

एक है जो सागर की ओर चले है—उन को धुन है कि सागर के

किनारे बैठ कर लहरो का पछाड खा कर गिरना देखा करेंगे—हो सकता है कि कभी-कबाह मौज मे आ कर दो मुट्ठी वालू उठा कर सागर मे फेंक दिया करे ! यह नही कि उस से सागर भर जायेगा, या कि बाढ आ जायेगी या पानी छलक जायेगा—यही कि···कि कुछ नही, यही कि सागर मे इतनी अनवरत हलचल होती ही रहेगी और वालू तनिक-सा हिल कर भी नही देगी ? पर सागर तक पहुँचने की युग-युगान्त की धुन के वावजूद सागर तक वह कभी पहुँचे नही है, चलते ही जा रहे है· ·यहाँ तक कि अब उन से अधिक उत्कठा मुझे है : कब वह सागर के किनारे पहुँचे, कव उस मे दो मुट्ठी वालू डाले, और कव···

एक दूसरे है जिनके कन्धे पर वैल की लादी वाला धोवी का झोला है। उसे वह कन्धे पर लादे जिम गति से चलते हैं, वह रीढ झुके धोवी की नही, किसी मनचले फिकैत की गति है ! उन्होने देख रखा है कि कैसे वाँस के आगे वँधी हुई जाली की थैली से तितली पकडी जाती है; और उन का निश्चय है कि जब भी जहाँ भी तितली उन्हे दीखेगी, कन्धे का झोला उस पर डाल कर उसे पकड लेंगे···

एक यह देवी है कि वैठी हैं उन्हे कुछ काम नही है, पर चेहरे पर उन्होने गहरे वात्सल्य-भाव का ओप दे रखा है जिस मे चिन्ता भी मिली हुई है। मुझ से यह जाने रहने की अपेक्षा की गयी है कि उन का मेरे प्रति मातृभाव है, जिस का होना ही काफी है, कर्म मे प्रतिफलित होना गौण वात है; और वह वैठे-वैठे ही मेरे हित की रक्षा और साधना करती है। मै उन के आगे विनयावनत हूँ।

छोर पर—जो वगीचे का छोर है, यह एक बड़ा अभिमानी परिवार बैठा है। जिस दृप्त अवज्ञा से ये सवको देखते है, उस से तो अनुमान होता है कि अभिजात होगे। पिता हर किसी से द्वन्द्व युद्ध के लिए तैयार है और आते-जाते को ललकार देते है—'युद्ध देहि।' या विना शब्दो के ही अस्त्र आगे वढा कर अवमानना से घूरते है—कि आ, हिम्मत है तो लड ले ! कन्या आने-जाने वालो की ओर देखती तो है, पर मानो उस की नजर किसी पर टिकती ही नही—या यो कह लीजिए कि कोई उस के आगे नही ठहरता, वह उछटती हुई-सी सब को अनदेखा करती चली जाती है दूर-दूर, दूर—कितनी अभिजात है वह कि दूर से कुछ कम हो हो नही पाती ! और माँ—वह युयुत्सु पिता और मानिनी कन्या की ओर बारी-बारी से देखती हुई असहाय खडी है—क्यो इतनी असहाय है वह ?

क्या वही मात्र इस परिवार मे अनभिजात है और क्या उसी की हीनता दोनों के दृप्त भाव मे प्रतिविम्वित है ? या कि वही वास्तव मे अभिजात है—और आभिजात्य के कारण सव सहने वाली, असहाय और अरक्षित ··

यह एक जो छावड़ी लिये घूमता है, यह सपने वेचने वाला है। शायद कभी जव मैं नही देखता तव यह 'हर माल दो आना' वाला विक्री का ढंग अपनाता है : दो आने की तो नही कहता, दो पैसा भी हो सकता है. वहरहाल ढंग वही 'हर माल एक मोल' वाला है। और जव मैं देख लूँ, तो झट से अनेक अलग-अलग ढेरियाँ वना कर एक तरफ रखी हुई दाम की परचियाँ उन पर लगा देता है—कुछ आनों से ले कर सैंकडो-हज़ारों रुपये तक। मैंने कभी कुछ खरीदने की कोशिश नही की—न सस्ते, न महँगे, न हर माल एक दाम वाले—और वास्तव में क्या सभी इस तीसरी कोटि के नही हैं ? पर कभी जव उसे माल को एक ढेरी से दूसरी ढेरी मे रखते हुए पकड पाया हूँ तव उस ने वरावर यह यत्न किया है कि मुझे अपने एक स्वप्न-मंच पर विठा भर दे—उसे यह विश्वास है कि उस पर वैठते ही स्वप्न मुझे ले कर उड़ जायेगा, जव कि मैं सोचता हूँ, कभी मुझे मौका मिलेगा तो मैं ही सपने को ले उडूँगा···

और वह वगीचे के छोर पर कौन है ? वह शायद एक माली है, क्योंकि उसके हाथ मे वाड़ काटने का वड़ा कैंचा है। पर उस से वह वाड़ नहीं काट रहा है—वडे मनोयोग से दाढ़ी को कतर-सँवार रहा है—यद्यपि उतने वड़े कैंचे की पकड़ में वाल नही आते, फिसल कर ज्यो के त्यो रह जाते हैं।

यह एक साहव हरियाली पर वैठे-वैठे सेव खा रहे है, ऐसे गपागप जैसे चने चवा रहे हो। एक मुँह मे डाल कर हाथ वढाते है और सामने के ताल मे से मानो सिंघाड़े की वेल से दूसरा तोड़ लेते है। और सेव वास्तव मे चीड़ की 'कुकड़ियाँ' है—इसी लिए वह साहव सेवो को चिलगोज़े की गिरी की तरह गप-गप खा रहे है···

एक वह जो वेत के उस झूलने पुल पर वैठा है, वह कौन है ? वह है तो मैं ही—उस का नाम पुलिया वाला मैं है। यो तो और सव भी जितने मुझे दीखते हैं, दीखे हैं, दीखेगे, सव मैं ही हैं, क्योकि सव मेरे ही तो मनोजगत् के वासी हैं, पर दूसरों को मैं कभी दूसरे मान कर—या उन के मैं होने को भूल कर—भी देख लेता हूँ; यह पुलिया वाला सदा मैं

ही रहता है। और पुल के पार जो वे दो बैठे है · एक जो बहुत बेचैन है और अलखधारी साधू की तरह अनवरत हिलता-डुलता ही रहता है,—वह भी मै है—पर उस का नाम ममेतर-मै है, और दूसरा जो गुम-सुम बैठा पुल के नीचे पानी की ओर ताक रहा है और पानी को भी नही देखता, कुछ भी नही देखता, वह भी मैं है—उस का नाम न-कोई मैं है।

इन तीनो को ले कर बडी मुश्किल है। ये तीनो सीमान्त पर है—बल्कि कहा जा सकता है कि सीमान्त से परे है क्योकि एक तो पुलिया पर बैठा है और बाकी दोनो उस पार है, और इस लिए समझ मे नही आता कि इन्हे सँभाला कैसे जाये। द्वार बन्द करूँ तो, और न करूँ तो, ये अशासित ही रह जाते है। मेरे वशवद वे कदापि नही है; कभी-कभी मुझे यह भी सन्देह हुआ है कि जब मै द्वार बन्द कर देता हूँ या उस से हट जाता हूँ तो इन तीनो मे खूब घुटती है, और तीनों मेरी ही छीछा-लेदर करते है। पुलिया वाला मै तो घुन्ने सरपच-सा आसन जमाये बैठा रहता है, और इतर मैं तथा न कोई मैं कनखियो से इशारे करते हुए मुझ पर टीका-टिप्पणी करते रहते है।

लेकिन इस मुश्किल का हल क्या है? आखिर तो सब दो मुकुरो मे दीखने वाली एक-दूसरे की प्रतिच्छायाएँ है। इस लिए एक हल तो सीधा है · मुकुरो के मुँह अलग-अलग फेर दूँ तो सब छायाओ से एक साथ छुट-कारा मिल जायेगा। पर जो मुझ को मुझ न ही काट देगा, वह क्या छुटकारा है? क्योकि मम और ममेतर का साक्षात्कार ही मैं है, अगर ये सारे छाया-रूप उस सन्धि-स्थल की मायामयी उपज है, तो मैं भी तो दोनो के परस्पर सघात का जीवन्मूर्त पुज हूँ···

[३]

और यह पुज, इस के भीतर का सन्तुलित और सधा हुआ तनाव ही मेरा अस्तित्व है। अस्तित्व वह वस्तु से परे है, मन से भी परे है, पर वस्तु मे उस की स्थिति की अवधारणा उस के शरीर से ही होती है, जिसे वे ही तीन शकु नापते और निरूपित करते है और जिस का होने के अलावा होते रहना उसे चौथा आयाम देता है। त्रिशकु ही नही, विश्वामित्र भी अपनी पूरी सृष्टि के साथ उसी शून्य आकाश मे अवस्थित है जो कि देश-काल-परम्परित इकाई है।

मैं क्यों लिखता हूँ ?[1]

मैं क्यो लिखता हूँ ? यह प्रश्न वडा सरल जान पड़ता है, पर वडा कठिन भी है। क्योकि इस का सच्चा उत्तर लेखक के आन्तरिक जीवन के कई स्तरों से सम्वन्ध रखता है, और उन सव को सक्षेप में कुछ वाक्यो मे वाँध देना आसान तो नही ही है, न जाने सम्भव भी है या नही। इतना ही किया जा सकना है कि उन मे से कुछ का स्पर्श किया जाये—विशेष रूप से ऐसो का जिन्हे जानना दूसरो के लिए उपयोगी हो सकता है।

एक उत्तर तो यह है ही कि मै इमी लिए लिखता हूँ कि स्वय जानना चाहता हूँ कि क्यो लिखता हूँ—लिखे विना इस प्रश्न का उत्तर नही मिल सकता है। वास्तव में सच्चा उत्तर यही है। लिख कर ही लेखक उस आभ्यन्तर विवशता को पहचानता है जिस के कारण उस ने लिखा—और लिख कर ही वह उस से मुक्त हो जाता है। मै भी उस आन्तरिक विवशता से मुक्ति पाने के लिए, तटस्थ हो कर उसे देखने और पहचान लेने के लिए लिखता हूँ। मेरा विश्वास है कि सभी कृतिकार—क्योंकि सभी लेखक कृतिकार नही होते, न उन का सव लेखन कृति होता है—सभी कृतिकार इसी लिए लिखते है। यह ठीक है कि कुछ ख्याति मिल जाने के वाद कुछ वाहर की विवशता के कारण भी लिखा जाता है—सम्पादको के आग्रह से, प्रकाशक के तकाज़े से, आर्थिक आवश्यकता से। पर एक तो कृतिकार हमेशा अपने सम्मुख ईमानदारी से यह भेद वनाये रखता है कि कौन-सी कृति भीतरी प्रेरणा का फल है, कौन-सा लेखन वाहरी दवाव का; दूसरे यह भी होता है कि वाहर का दवाव वास्तव मे दवाव नही रहता, वह मानो भीतरी उन्मेष का निमित्त वन जाता है। यहाँ पर कृतिकार के स्वभाव और

१. यह वार्ता नेपाल रेडियो के लिए लिखी गयी थी और काठमाण्डू से प्रसारित भी हुई थी।

आत्मानुशासन का महत्त्व बहुत होता है। कुछ ऐसे आलसी जीव होते हैं कि बिना इस बाहरी दबाव के लिख ही नही पाते—इसी के सहारे उन के भीतर की विवशता स्पष्ट होती है···यह कुछ वैसा ही है जैसे प्रात.काल नीद खुल जाने पर कोई बिछौने पर तब तक पडा रहे जब तक कि घड़ी का अलार्म न बज जाये। इस प्रकार वास्तव मे कृतिकार बाहर के दबाव के प्रति समर्पित नही हो जाता है, उसे केवल एक सहायक यन्त्र की तरह काम मे लाता है जिस से भौतिक यथार्थ के साथ उस का सम्बन्ध बना रहे। मुझे इस सहारे की ज़रूरत नही पडती, लेकिन कभी उस से बाधा भी नही होती। उठने वाली तुलना को बनाये रखूँ तो कहूँ कि सवेरे उठ जाता हूँ अपने-आप ही, पर अलार्म भी बज जाये तो कोई हानि नही मानता।

यह भीतरी विवशता क्या होती है? इसे बखानना बड़ा कठिन है। क्या वह नही होती, यह बताना शायद कम कठिन होता है। या उस का उदाहरण दिया जा सकता है—कदाचित् वही अधिक उपयोगी होगा। अपनी एक कविता की कुछ चर्चा करूँ जिस से मेरी बात स्पष्ट हो जायेगी।

मैं विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ, मेरी नियमित शिक्षा उसी विषय मे हुई। अणु क्या होता है, कैसे हम रेडियम-धर्मी तत्त्वो का अध्ययन करते हुए विज्ञान की उस सीढी तक पहुँचे जहाँ अणु का भेदन सम्भव हुआ, रेडियम-धर्मिता के क्या प्रभाव होते है—इन सब का पुस्तकीय या सैद्धान्तिक ज्ञान तो मुझे था। फिर जब हिरोशिमा मे अणु-बम गिरा, तब उस के समाचार मैंने पढे, और उस के परवर्ती प्रभावो का भी विवरण पढता रहा। इस प्रकार उस के घातक प्रभावो का ऐतिहासिक प्रमाण भी सामने आ गया। विज्ञान के इस दुरुपयोग के प्रति बुद्धि का विद्रोह स्वाभाविक था, मैंने लेख आदि मे कुछ लिखा भी। पर अनुभूति के स्तर पर जो विवशता होती है वह बौद्धिक पकड से आगे की बात है, और उस की तर्क-सगति भी अपनी अलग होती है। इस लिए कविता मैंने इस विषय मे नही लिखी। यो युद्धकाल मे भारत की पूर्वीय सीमा पर देखा था कि कैसे सैनिक ब्रह्मपुत्र मे बम फेक कर हजारों मछलियाँ मार देते थे जब कि उन्हे आवश्यकता थोडी-सी होती थी, और जीव के इस अपव्यय से जो व्यथा भीतर उमड़ी थी उस से एक सीमा तक अणु-बम द्वारा व्यर्थ जीव-

नाश का अनुभव तो कर ही सका था।[1]

पिछले वर्ष जापान जाने का अवसर मिला, तब हिरोशिमा भी गया और वह अस्पताल भी देखा जहाँ रेडियम-पदार्थ से आहत लोग वर्षों से कष्ट पा रहे थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव भी हुआ—पर अनुभव से अनुभूति गहरी चीज है, कम से कम कृतिकार के लिए। अनुभव तो घटित का होता है, पर अनुभूति सवेदना और कल्पना के सहारे उस सत्य को आत्मसात् कर लेती है जो वास्तव मे कृतिकार के साथ घटित नही हुआ है। जो आँखो के सामने नही आया, जो घटित के अनुभव में नही आया, वही आत्मा के सामने ज्वलन्त प्रकाश मे आ जाता है, तव वह अनुभूति-प्रत्यक्ष हो जाता है।

तो हिरोशिमा मे सव देख कर भी तत्काल कुछ लिखा नही, क्योकि इसी अनुभूति-प्रत्यक्ष की कसर थी। फिर एक दिन वही सड़क पर घूमते हुए देखा कि एक जले हुए पत्थर पर एक लम्वी उजली छाया है—विस्फोट के ममय कोई वहाँ खड़ा रहा होगा और विस्फोट से विखरे हुए रेडियम-धर्मी पदार्थ की किरणें उस से रुद्ध हो गयी होगी—जो आस-पास से आगे वढ गयी उन्होने पत्थर को झुलसा दिया, जो उस व्यक्ति पर अटकी उन्होने उसे भाप वना कर उड़ा दिया होगा। इस प्रकार समूची ट्रैजेडी जैसे पत्थर पर लिखी गयी···

उस छाया को देख कर जैसे एक थप्पड-सा लगा। अवाक् इतिहास जैसे भीतर कही सहसा एक जलते हुए सूर्य-सा उग आया और डूब गया। मैं कहूँ कि उस क्षण मे अणु-विस्फोट मेरे अनुभूति-प्रत्यक्ष मे आ गया—एक अर्थ मे मैं स्वय हिरोशिमा के विस्फोट का भोक्ता वन गया।

इसी मे से वह विवशता जागी : भीतर की आकुलता वुद्धि के क्षेत्र से वढ कर सवेदना के क्षेत्र मे आ गयी। फिर धीरे-धीरे मैं उस से अपने को अलग कर सका, और अचानक एक दिन मैंने हिरोशिमा पर कविता लिखी[2]—जापान मे नही, भारत लौट कर, रेल-गाड़ी मे वैठे-वैठे।

वह कविता अच्छी है या वुरी, इस से मतलव नही है। मेरे निकट

१. इस की एक प्रक्रिया **'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये'** सग्रह की 'इतिहास की हवा' नामक कविता में है। उस की रचना-प्रक्रिया भी यहाँ कही गयी वार्तों की पुष्टि ही करेगी।

२ **'अरी ओ करुणा प्रभामय'** में 'हिरोशिमा' शीर्षक कविता।

वह सच है, क्योंकि वह अनुभूति-प्रसूत है, यही मेरे निकट महत्त्व की बात है। मैं कहूँ कि कृतिकार या कवि जब सत्य से ऐसा भीतरी साक्षात् करता है तब मानो वह एक बलि-पुरुष की तरह देवताओं का मनोनीत हो जाता है। और काव्य-कृति ही उस का आत्म-बलिदान है, जिस के द्वारा वह देवताओं से उऋण हो जाता है। यही देवता से उऋण होने की छटपटाहट वह विवशता है जो लिखाती है—फिर वह ऋण-परिशोध तत्काल हो जाये या वर्षों बाद—यह दूसरी बात है। इस क्रिया पर भी मैंने एक कविता लिखी है : स्वाति की बूंद सीपी का मर्म वेध जाती है, फिर वर्षों में मोती पकता है...[1]

१ 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' में 'सर्जना के क्षण'

जो न लिख सका

मैं उन व्यक्तियों मे से हूँ—और ऐसे व्यक्तियो की सख्या शायद दिन प्रतिदिन घटती जा रही है—जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने-आप में एक सिद्धि मानते है। अच्छा गद्य पढने मे मुझे अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है, जो कि उस गद्य मे कही गयी बात या कहानी या सूचना के सम्भाव्य आनन्द से—कम से कम मेरे लिए—किसी तरह कम महत्त्व का नही है। फिर भी निरी वाक्चातुरी मेरे निकट कोई बडी बात नही है, और बात-बात मे बहुत कुछ कहते जान पड़ने पर भी कुछ न कहने की कला को मैं बहुत अधिक आदर की वस्तु नही मानता। वह भाषा की मदारीगीरी है; और मदारी का तमाशा देखने मे क्षण-भर रम जाना एक बात है, उसे कला के सिंहासन पर बैठाना दूसरी बात। **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—और मदारीगीरी भी कार्य-कौशल तो है ही, फिर भी ऐन्द्रजालिक की और योगी की सिद्धि अलग-अलग होती है इसे अधिक समझाने की आवश्यकता नही।

और मेरे निकट किसी लेखक के लिए 'जो मैं न लिख सका' की चर्चा इस मदारीगीरी से अधिक कुछ नही हो सकती। साधारण पाठक चाहे जो समझता हो, और कवियश.प्रार्थी अपनी प्रतिभा के बारे मे अपने को चाहे जो विश्वास दिला लेते हो, सच बात यह है कि 'जो मै न लिख सका' प्रश्न कोई अर्थ ही नही रखता अगर उस मे यह ध्वनि है कि 'मुझ मे कुछ है जिसे मैं जानता हूँ पर कह नही सकता।' यदि वास्तव में ऐसा कुछ है जिसे मैं कह सकता नही हूँ, तो वास्तव में मैं उसे जानता ही नही हूँ; अर्थात् स्थिति यह नही है कि मैं लिखना चाहता हूँ और लिख नही पाता, स्थिति यह है कि मैं जानना चाहता हूँ और जानता नही हूँ। जान लेने पर सम्भव है कि मैं लिखना ही न चाहूँ; तब भी न सकने का कोई प्रश्न

नही उठता और अगर लिखना चाहूँगा तो अवश्य लिख सकूँगा भी। इस लिए मैं तो यह कहना भी झूठ न समझूँ कि मैंने जो लिखा है वही मैंने लिखना चाहा है, और सामर्थ्य ही इच्छा का प्रमाण हो सकता है। निःसन्देह यह सारी बात कृति-साहित्य के बारे मे ही लागू हो सकती है—सच्ची 'रचना' के,—नही तो अगर मै कुछ इस ढग की बात चाहूँ कि मैं अँगरेजी, सस्कृत और मैथिली मिश्रित भाषा मे पुष्पिताग्रा छन्द मे एक सतसई लिख जाऊँ तो उस मे सफल नही भी हो सकता हूँ।

बात असल मे रचना की क्रिया की है और उस मे दो बाते बुनियादी है—जो वास्तव मे एक ही बात के पहलू है। रचना के लिए दो चीजे चाहिए . एक तो कलात्मक अनुभूति या सवेदना, दूसरे उस के प्रति वह तटस्थ भाव जो उसे सम्प्रेष्य बना सके। और यह एक के पूरा हो जाने के बाद दूसरी होती हो ऐसा भी नही है, सवेदनशील कलाकार निरन्तर अपनी अनुभूति से अपने को अलग करता चलता है, तभी तो वह देख पाता है कि वह अनुभूति देय भी है या नही, साधारण भी हो सकती है या नही, इसी प्रकार तो वह द्रष्टा है।

यदि कोई कलाकार समझता है कि उसके पास दर्द तो बहुत है पर उसे वह कह नही सकता, तो उस का दर्द झूठा ही हो ऐसा नही है। पर इतना अवश्य है कि उस दर्द को उस ने 'देखा' नही है, यानी उस से अपने को अलग नही कर सकता है, अर्थात् उसे कह डालना चाहने की ही स्थिति मे अभी नही आया है—अभी तो वह उसे अपने से ही कहने के, उसे पहचानने के यत्न मे लगा है। 'यह देखो, यह मेरा दर्द'—यह दृष्टिकोण ही रचयिता का नही है; दर्द दिखा कर सहानुभूति चाहना तो जीवन की सहज प्रवृत्ति है जो अपने को पीडित समझने वाले हर व्यक्ति मे मिल सकती है। फिर वह चाहे ठोकर खा कर गिरने वाला बच्चा हो, चाहे लँगडा भिखारी, चाहे सट्टे मे थोडा-सा पैसा हारने वाला कोटिपति, चाहे अपने अत्याचारो के कारण अकेला पड गया आततायी शासक। रचनाकार सहानुभूति का भिखमगा नही है। 'यह देखो, कितना सुन्दर दर्द'—यह कह कर जब वह दर्द की पहचान कराने दौडता है, तब वह पहले ही उस से तटस्थ हो चुका होता है—वह दर्द उस का अपना रहा हो तब भी। और इसी लिए वह दया, करुणा, सहानुभूति का भिखारी न रह कर दाता हो जाता है—वह भावक अथवा ग्राहक की दया और

करुणा की क्षमता बढ़ाता है, समाज को अन्त समृद्धि प्रदान करता है।

लेकिन कृतिकार सब सर्वांगनिर्दोष कहाँ है ? इस लिए अपने दर्द का थोड़ा-सा मोह शायद सब मे बना भी रहता है। इस लिए दृष्टि थोड़ी-सी धुँधली भी हर किसी की होती है, आत्मदान मे थोड़ी-सी चूक सब कर जाते है। पर जहाँ तक सिद्धान्त का सवाल है, मै यही मानता हूँ कि जिस ने जो लिखा नही, उस ने वह लिखना चाहा नही, सकने का सवाल ही कहाँ है।

एक दूसरी बात भी है। आज अभी तक जो नही लिख डाला है, वह कल भी नहीं लिखूँगा, यह कैसे मान लूँ ? आत्म-साक्षात्कार आज तक नही हुआ, भले ही न हुआ हो; अगर मैं यत्नशील हूँ तो कल भी क्यो न होगा ? जो व्यक्ति घर की खिडकियाँ खोलने मे लगा है वह यह कैसे कह दे कि बाहर का दृश्य मुझे दीख नही सकता ! वह इतना ही कह सकता है कि 'ठहरो, अभी देख कर बताता हूँ'।

इसी तरह की अद्यावधि असफलता की एक बात यहाँ बता दूँ—जो रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी मेरे विश्वासो को भी स्पष्ट कर देगी, और 'जो लिख न सका' के नाम पर पाठक के सम्मुख आ कर उस से ठीक उल्टी बात कह जाने की मदारीगीरी को गम्भीरतर अर्थ भी दे देगी। यही अपनी रचना के प्रति अनासक्त भाव की समस्या बरसो से मुझे उलझाती रही है। मैंने कविता मे उस के सम्बन्ध मे बार-बार लिखा है—कुछ छपा है, कुछ फेंक दिया है, कुछ छप कर आने वाला है—पर उस से सन्तोष नही हुआ है। कहानी भी इस बारे मे लिखी है, वह अब भी अच्छी ही लगती है, पर पूरी बात उस मे भी नही कही गयी। फिर कभी-कभी नाटकीय संवाद सूझे, पर उन्हे मैंने बार-बार दुत्कार दिया क्योकि बरसो से ठान रखा था कि नाटक नही लिखूँगा, नही लिखूँगा—उधर मेरी गति नही है और बिना जीवित रंगमच के हो भी नही सकती। निरा 'पठ्य' दृश्य-काव्य लिखना किसी न किसी को ज़रूर धोखा देना है—अपने को या दूसरे को, जो जैसा मान ले। पर इस प्रश्न को ले कर नाटकीय सवाद और परि-स्थितियाँ बार-बार सामने आयी है, अन्त मे मानो नाटक ने मूर्त हो कर कहा है कि 'देखो, अगर तुम मुझे सचमुच प्रकट करना चाहते हो तो यह मेरा रूप है, इसी में मैं आविर्भूत हो सकता हूँ, किसी दूसरे मे नही। तुम्हें मंजूर हो तो लो, नही तो अपना रास्ता देखो।' और मैंने बाध्य

हो कर मान लिया है कि इस तर्क का कोई उत्तर नही है, नाटक मुझे लिखना ही होगा। क्योकि वस्तु और वस्तु-रूप कला मे अलग-अलग कभी नही होते, और जब वस्तु ऐसी 'अनन्याश्चिन्तयन्ती' हो कर आती है तब कौन उस की अवज्ञा कर सकता है ?

तो यही मेरी असफलता है · 'जो मैं न लिख सका' का यही मेरा प्रतिकूल उत्तर है—कि मैंने ठान रखा था कि नाटक कभी नही लिखूंगा पर लिखे बिना रह न सका। इसी लिए मैं सोचता हूँ कि 'जो न लिख सका' कोई अन्तिम स्थिति नही है, एक अन्तरिम अवस्था हो सकती है। प्रश्न के इस विवेचन से—क्योकि यह उत्तर तो नही है! पाठक का कौतूहल कहाँ तक शान्त हुआ, नही जानता, यद्यपि अपनी तरफ से तो शायद एक रहस्योद्घाटन कर ही गया हूँ !

शारदीय धूप

वगीचे में वैंठना तो क्या, वग़ीचा देखना भी रोज नसीव होता हो इतना भाग्यवान् मैं नहीं हूँ। फिर भी अपने को अभागा नही मानता क्योकि जव भी वगीचे मे वैंठना या उसे देखना नसीव हो जाता है तो मैं उस अनुभव में समूचा डूव सकता हूँ और उस से पुनरुज्जीवित हो सकता हूँ। उतना नही तो कम से कम वग़ीचे के वाहर के दैनन्दिन धूल और राख भरे जीवन की कँकरीली थकान की परत अपने पर से उतार दे सकता हूँ।

इस समय मैं वगीचे के एक सिरे पर वैठा हूँ और शरत्काल के तीसरे पहर की धूप मेरे सामने विखरी हुई है। नीचे घास पर वह स्थिर और अचंचल विछी हुई है, जैसे शिशु कभी-कभी सोये ही सोये आँखे खोल कर मुसकरा देता है। ऊपर पेड़ की धुली हुई पत्तियों पर धूप-छाँह का खेल अपनी चंचलता से ही मानो दर्शक को स्थिर और अचंचल कर देता है। जिस से होड नही होती उस के सामने छटपटाना कैसा? स्थिर वैठ कर उस की क्रीड़ा देखना ही श्रेयस्कर है…

और यो निश्चल वैठे-वैठे ही मानस क्षितिज पर से धीरे-धीरे एक शव्द का उदय हो आता है : शान्ति।

जैसी मेरे इस समय की मनोदशा—यह अचंचल जिज्ञासा की मनोदशा।

तो फिर क्यो हम शान्ति के लिए ज्ञान खोजते है? मनोदशा के लिए मन के वाहर का कुछ भी क्यो महत्त्व रखता है? मन ही से मनोदशा उत्पन्न होनी चाहिए, और मन अपना निजी है, आभ्यन्तर है—कुछ है भी या नही हम नही जानते—आभ्यन्तर शक्तियों की लीला के वोध पर आधारित एक अनुमान है।

पर मन जो भी हो, स्वयम्भू तो नही है। आभ्यन्तर होकर भी बाह्य स्थिति से प्रभावित है, उन स्थितियो के घात-प्रतिघात और परस्पर प्रभाव से अनुशासित है। अर्थात् मनोदशा भी आभ्यन्तर हो कर बाहरी परिस्थितियो के प्रभाव का परिणाम है, वह प्रभाव चाहे कितना भी परोक्ष क्यो न हो।

शान्ति भी निरी मन की दशा नही है, मन की मानसेतर से सम्बन्धों की दशा है। जब मन और मन से इतर का आपसी सम्बन्ध तनाव-खिचाव से रहित हो कर सन्तुलन पा लेता है, तब शान्ति की अवस्था होती है।

इस से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि इस शान्ति के लिए स्थिति का ज्ञान भी आवश्यक है। और परिस्थितियो से अपने सम्बन्धो का ज्ञान भी आवश्यक है। इतना ही नही, ज्ञान के अलावा कर्म भी आवश्यक है, क्योकि स्थिति को जानना ही तो उस का अनुकूलन नही है, स्थितियो को बनाना भी तो होता है, उन से सम्बन्धो को बदलना भी तो होता है। शक्तियाँ हो, और पहले से ही अपने-आप सन्तुलित हो, ऐसा सयोग अगर सिद्धान्तत असम्भव न भी हो तो भी एक दुर्लभ सयोग से अधिक कुछ नही है। और इस लिए सहज सन्तुलित शक्तियाँ सर्वदा वैसी ही अनायास सन्तुलित रहती चली जायेगी, ऐसा मान लेने का क्या कारण हो सकता है ?

शारदीया धूप। बगीचे की पत्तियो पर आँख-मिचौनी खेलती हुई धूप। नही, उस से जिस शान्ति का उदय होता है वह सहसा छिन जाने वाली नही है। फिर भी उस के मूल स्रोत के बारे मे मेरे कौतूहल ने मेरे सम्मुख एक अन्तर्विरोध ला कर खडा कर दिया है, बल्कि दो समानान्तर अन्तर्विरोध मेरे सम्मुख खडे है।···

पहला · आभ्यन्तर को जानने के लिए बहिर्मुखता की आवश्यकता है, भीतर को समझने के लिए बाहर का अनुशीलन अनिवार्य है।

दूसरा शान्ति सदा सन्तुलन की अवस्था है पर उस को जानने के लिए कर्म, हलचल, अस्थिरता आवश्यक है।

और इस प्रकार हम फिर वही पर लौट आते है जहाँ से हम ने यात्रारम्भ किया था। ज्ञान की उत्कट खोज तो हमारे अन्तस् की रस-धारा को सुखा देती है और शान्ति की मनोदशा का अनुभव करने की हमारी क्षमता ही जाती रहती है। वह शान्ति क्या जिस का हमे बोध ही न रहे ? वह

हमारी शान्ति कैसे है जिस का अनुभव करने की क्षमता ही हम खो बैठे हैं ? दूसरी ओर उत्कट कर्म का अर्थ है अनवरत हलचल, संघर्षण, तनाव और अशान्ति : और अशान्ति की साधना मे शान्ति मिल ही कैसे सकती है।

या कि इस अन्तर्विरोध का हल यही है कि यह अन्तर्विरोध ही झूठा है क्योकि ये सारे इष्ट ही झूठ है ? शान्ति मिथ्या है, भ्रम है—ज्ञान भी मिथ्या है, संघर्ष भी मिथ्या है—अनुभव मिथ्या है क्योंकि अनुभव को हम जिस यन्त्र से आत्मसात् करते है वही मिथ्या और अविश्वसनीय है? अर्थात् हमारी खोज किसी धनात्मक निधि की खोज नही हो सकती, हमारा उद्देश्य मूलतः नकारात्मक ही हो सकता है ? शान्ति की अवस्था, केवल मात्र अदु.ख की अवस्था है, निर्वेद की अवस्था है । न हम चाहते है, न हम नही चाहते हैं; न हम अनुभव करते है, न हम अनुभव नही करते हैं; न हम जानते है, न हम नही जानते हैं । इस प्रकार हम इस खंडनात्मक और कुंठा भरे परिणाम पर पहुँचते है कि हमारी जिज्ञासा मिथ्या है क्योकि वास्तव में हम ही मिथ्या है, होना ही मिथ्या है ।···

शारदीया धूप । धूप का एक वृत्त जिसके भीतर की आलोक भरी शान्ति ने मुझे घेर लिया है और जो मुझे घुमा-फिरा कर उसी एक स्थल पर ले आती है । यात्रारम्भ करते ही हमारे सामने कई मार्ग खुल जाते है, विभिन्न और प्रतिकूल दिशाएँ विशद हो जाती है । कई मार्ग है, लेकिन किस को चुन कर हम शान्ति पाते है यह भी मूलतः हमारी मनोदशा पर ही निर्भर है ! अर्थात् अन्ततोगत्वा शान्ति मनोदशा ही है और मन के वाहर से नही, मन से उत्पन्न होती है ।

पत्तियों पर झूलती हुई तीसरे पहर की धूप इस से भिन्न किसी परिणाम की अनुमति नही देती । वल्कि वह मानो वाहर से मेरे कान मे यह भी कहती है कि यह परिणाम भी पूरा-पूरा सही नही हो सकता क्योकि वास्तव मे शान्ति मनोदशा भी नही है । वह होने की ही एक दशा है । और होना क्या है इस को हम न केवल वाहर से वाँध सकते है न केवल आभ्यन्तर से । न वह दोनों के सम्बन्ध भर से वँध सकता है । वह एक वहुत वड़ी इकाई है—नही, एक वहुत छोटी-इकाई जिस मे वड़ी-वडी इकाइयाँ डूव जाती है । वैसी ही इकाई जैसी यह छोटी-सी पत्ती और इस पर झूलती हुई शारदीय तीसरे पहर की धूप ।

यही एक परिणाम है जो जीवन और शान्ति के सम्बन्ध को अमान्य नही करता क्योकि वह जीवन को भी और शान्ति को भी मिथ्या नही करता। जीवन होने की एक दशा है, और शान्ति होने की अनुभूति की और अनुभावक की एक दशा—सहज, स्वस्थ, स्व-पूरक, स्व-प्रेरक, आत्म-भरित और स्वतःसम्पूर्ण दशा।

वगीचे मे शारदीय तीसरे पहर की धूप। धुली पत्तियो पर खेलती धूप की आँख-मिचौनी। मानस-क्षितिज पर एक शब्द का उदय : शान्ति।...

एकान्त साक्षात्कार[1]

भूख और संस्कृति

वार-बार सुनता हूँ कि 'भूखे आदमी से तुम सस्कृति की वात नही कर सकते।' विदेशों मे भारतीय विशेष रूप से इस का आग्रह करते है, क्योकि पेट भरने की प्राथमिकता का विदेशी भ्रम उन पर छा गया है।

मैं तो देखता हूँ कि तुम भूखे आदमी से संस्कृति की वात भले ही न कर सको, पर भूखा आदमी तो तुम से संस्कृति की वात कर सकता है···

हर देश-काल मे ऐसे व्यक्ति हुए है जिन्होने स्वेच्छा से भूखे रहने का वरण किया है ताकि वे सस्कृति की वात करने के लिए समर्थ—और स्वतन्त्र हो सकें।

इसी लिए तो संस्कृति वात करने लायक चीज़ है. एक अघाया हुआ आदमी दूसरे अघाये हुए आदमी से जिस चीज की वात करता है, वह किस काम की हो सकती है ?

किस के लिए लिखता हूँ ?

मैं लिखता हूँ।

मेरे पास एक सांस्कृतिक परम्परा है। और मेरे पास सवेदना है।

१ यूरोप प्रवास के समय अपनी दैनन्दिन प्रकृति के व्यौरे के लिए लेखक ने एक खाता रखा था। किन्तु अधिकांश मे उस मे एक मानसिक चर्या का ही विवरण लिखा जाता रहा, क्योकि देशाटन-सम्बन्धी वातें तो सव स्वदेश भेजे गये पत्रो मे चली जाती थी। उस खाते से एक चयन, जिस का सम्बन्ध पूर्व-पश्चिम की समस्याओ से है, एक अन्य पुस्तक मे गया है, दूसरा यह है। मान लिया गया है कि इस की जिज्ञासाओ का स्वर निजी होने पर भी उन की तत्त्व-वस्तु एकान्त निजी नही है।

कोई विशेष क्रम नही रखा गया है—कम से कम कालानुक्रम तो नहीं ही है।

और बाकी तो शिल्प है ।

जिन बहुसख्य लोगो के साथ मेरा सास्कृतिक परम्परा का साझा है—क्योकि मैं मूलत भारतीय हूँ और अनेक इतर प्रभावो के रहते भी एक प्रकार का हिन्दू भी हूँ—उन लोगो से मेरी सवेदना भिन्न है ।

किन्तु दूसरी ओर जिन अल्पसख्य लोगो की सवेदना मुझ-सी है, उन से सस्कार-परम्परा के विषय मे मेरा कही भी मेल नही है । उन के पास पश्चिमी सस्कृति की एक सतही छाप है—अर्थात् पश्चिम की रहने की पद्धति तो उन्होने आत्मसात् कर ली है पर उस की वैचारिक अथवा आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओ की लीको मे वे नही पड़े ।

तब मैं किस के लिए लिखता हूँ ? यदि उन बहुसख्यको के लिए नही जो मेरी सवेदना मे नही डूब सकते, और उन अल्पसख्यको के लिए नही जो मेरे सस्कार के साझीदार नही हो सकते, तब फिर किस के लिए ?

जैसा मैं हूँ वैसी स्थिति मे—किसी के लिए नही । किन्तु मैं बदलना चाहूँ तो क्या यह सम्भव है ? न सास्कृतिक परम्परा, न सवेदना ही चाहने भर से पा ली जा सकती है; न सकल्प-मात्र से दोनो मे से किसी को छोडा जा सकता है—बिना रचनाशील व्यक्तित्व को पगु किये···

क्या अच्छा है कि आँखे हो, पर वाणी लड़खडाये, या कि वाणी हो पर टाँगे लड़खडाये ?

'पोर्ट्रेट ऑफ द आर्टिस्ट—ऐज ए यंग डॉग'

मालिक के साथ दौडते हुए कुत्ते को देखो : मालिक के चले हुए प्रत्येक मील पर कुत्ता पाँच-छह मील चल लेता है—आगे, पीछे, इधर, उधर, पडताल करता हुआ, प्रदेश को पहचानता और स्मरणार्थ चिह्नित करता हुआ ।

कलाकार की ठीक यही स्थिति है : किन्तु वह एक ही मे मालिक और कुत्ता दोनों है । एक स्तर पर वह सीधे सरल पथ पर अग्रसर होता हुआ दूसरे स्तर पर खोजता-परखता, पड़ताल और पहचान करता और चिह्नित कर के स्मृति पर आँकता भी जाता है ।

और तुलना को और आगे बढाना चाहे, तो वह एक साथ ही जहाँ अपने मुँहजोर कुत्ते को झिड़कता और अनुशासित करता चलता है, वहाँ दूसरी ओर ज़जीर पर झटके देता हुआ मालिक की ओर दुम भी हिलाता

जाता है।

कुछ है जो केवल मालिक हैं : सीधी तरह चलते है और 'क' से 'ख' तक पहुँच जाते हैं। बीच का रास्ता उन्होने देखा और पहचान लिया है, यह वे स्थिर भाव ने जानते हैं, 'क' से 'ख' की दूरी की माप उन के पास है।

कुछ हैं जो केवल कुत्ते हैं। सीधी छोड़ सभी राहे चल लेते हैं। 'क' से 'ख' तक उन का पहुँचना हो गया है, इसी से वे 'क' से 'ख' तक गये यह कहना कठिन होता है। रास्ता वे शायद नही जानते, वे प्रदेश जानते हैं जिस में 'क' 'ख' से मिला हुआ है।

कलाकार मालिक और कुत्ते को एक करता है। इस प्रकार वह रास्ते को प्रदेश मे विठा देता है। वह 'क' और 'ख' को न मिलाता है न अलग करता है : वह उन के अलगाव को एक सूत्र मे पिरो देता है।

मानव एकाकी

मानव सभी एकाकी हैं, यद्यपि सदैव, सभी कालो में नही। किन्तु काल पूर्वापर होने के साथ-साथ समवर्ती भी है : जो कभी भी था, या कभी भी होगा, वह इस समय भी है। अतएव प्रत्येक मानव का एक अंग सर्वदा एकाकी होता है।

यह एकाकी अंग ही प्रेम का अनुभव कर सकता है; शेष मानव तो केवल कामना करना जानता है। और इसी लिए त्याग भी यह एकाकी ही कर सकता है, शेष मानव नही।

जिस से यह सिद्ध होता है कि मानव का जो अंश सर्वाधिक असम्पृक्त, अनासक्त है, वही सब से अधिक सहता है, वही सब से अधिक तीव्रता से अपने अस्तित्व का अनुभव करता है—वह अंश ही सबसे अधिक वह मानव है।

अमरत्व का क्षण

अमरत्व का अर्थ अनन्त काल तक जीवित रहना नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अनन्त काल तक मरते रहने का ही दूसरा नाम है। अमरत्व तभी सार्थक है जब वह काल-निरपेक्ष हो—अर्थात् जब वह एक अनुभूति हो, एक मनोदशा हो, एक दृष्टि हो।

या तो मैं इस क्षण मे अमर हूँ, या कभी नही हूँ ।

'जीवित क्षण'

कला मे 'जीवित क्षण' को पकडने के बारे मे आज के कलाकार की जो व्यग्रता है, उस की जड मे क्या केवल यह बात नही है कि इस प्रकार उस क्षण के परिणामो से बचने की इच्छा को एक तर्क-सगति दी जा सकेगी ?

अनुभूति की आत्यन्तिकता के आग्रह के पीछे, कहाँ तक अनुभूति का मूल्य चुकाने की अनिच्छा छिपी है ?

वरण की स्वतन्त्रता

मेरी वेदना ही मेरी स्वतन्त्रता का प्रमाण है। यदि मुझे स्वतन्त्र निर्वाचन का अधिकार न होता तो मुझे वेदना भी न होती . क्योकि या तो मैं निर्विकल्प भाव से वही कर्म करता जो सही है, या निर्विकल्प भाव से उसे स्वीकार करता जो सही नही है ।

मेरी विकल्प और वरण की स्वतन्त्रता का और क्या प्रमाण है सिवा मेरी वेदना के—सिवा उस कष्ट के जो मुझे अपने अधिकार का उपयोग करने मे होता है ?

स्वतन्त्र या नगण्य

क्या मैं इस लिए स्वतन्त्र हूँ कि मै नगण्य हूँ, कि मेरा कोई मूल्य नही है ?

स्वातन्त्र्य और नरक

नरक क्या है ?
व्यक्ति का निजी विवेक—आत्मा ।

स्वातन्त्र्य क्या है ?
व्यक्ति का निजी विवेक का अधिकार ।

होने के आयाम

प्रेम के आयाम मे मै जानता हूँ कि जो प्रेम करता है वह अकेला है ।

दु.ख के आयाम में मैं जानता हूँ कि जो दु.ख भोगता है वह अकेला है।

संवेदना के दूसरे आयामो में भी क्या मैं नही जानता कि उस आयाम का अनुभावक भी अकेला है ?

अर्थात् : क्या होना मात्र अकेला होना नही है ?

नाटक और संघर्ष

नाटक ··संघर्ष···हाँ, किन्तु किस के और किस के बीच ? किस के विरुद्ध किस का प्रयास ?

भाग्य और व्यक्ति का द्वन्द्व ? उस मे जो कुछ रस था यूनानियों ने सदियो पहले निचोड़ लिया।···सामाजिक परिवेश से व्यक्ति का द्वन्द्व ? दो दुनियाओं के मरभुक्खो ने जल्दी से जल्दी फसले उगा कर काटने के लालच से इस भूमि की उर्वरा-शक्ति ही नष्ट कर दी, और अब उस मे साहित्य के धान की बजाय मतवादो के काँटे उपजते हैं।···व्यक्ति का अपने-आप से द्वन्द्व ? पिछले चालीस-एक वर्ष से, जब से फ्रायड ने हमे यह नया स्वाद लगा दिया, हम अपनी अँतड़ियाँ चबाते रहे हैं और वे ताँत के गुंझर-भर रह गयी है···

और इस के बाद रह जाता है व्यक्ति और उस के विवेक का द्वन्द्व—उस सहजात बुद्धि से द्वन्द्व जो बताती है कि जीवन मे कोई अनिवार्य, अमोघ कार्य-कारण सम्बन्ध नही है—कोई पहचानी जा सकने वाली कारण-कार्य-परम्परा नही—कि अस्तित्व-मात्र अनिश्चित और नियम-विहीन, बेमानी, उबाने वाला, उबकाई लाने वाला है···

किन्तु यदि अस्तित्व बेमानी है, तब उस मे अन्तर्हित संघर्ष भी बेमानी है। तब वह संघर्ष नाटक को अर्थ कैसे दे सकता है ?

संघर्ष से परे अस्तित्व

पर एक और भी परम्परा थी जो कहती थी : संघर्ष मिथ्या है क्योकि विरोध की स्थिति मिथ्या है—तनावो के शमन की स्थिति ही स्थिति है। दुःख, व्याधि, वैषम्य, मरण—इन को देखना अधूरा देखना है; क्योकि ये सब स्वयं अधूरे है। जो न केवल इन के पार देख सकता है वरन् जिस की दीठ अचंचल भाव से इन के पार की सम, सन्तुलित, समाहित शिवता पर टिकी हुई है, वही नाटक लिखने का अधिकारी है··· वह द्रष्टा है, वह क्रान्तदर्शी है···अस्तित्व के बेमानी होने से संघर्ष बेमानी

हो जाता है, पर संघर्ष के बेमानी होने से अस्तित्व बेमानी नही होता—बल्कि संघर्ष से परे अस्तित्व ही सार्थकता है—स्वय अर्थ है···

दु:ख और करुणा

दु:ख यदि मिथ्या है, तो क्या करुणा भी मिथ्या है, समवेदना भी मिथ्या है ?

हमारे समाज मे दूसरे के दु ख के प्रति जो दोहरी प्रवृत्ति देखने मे आती है, उस की जड़ मे क्या यही भाव नही है ?

सामाजिक रूप से हम दु ख-क्लेश के प्रति निष्करुण भाव से उदासीन हैं—क्योकि दु ख तो असत्य है, माया है···पर व्यक्तिगत रूप से हम दान-पुण्य करते है, दया धरम का मूल मानते है—क्योकि दु:ख ही नही, यह जीवन, यह लोक ही मिथ्या है और हमे अगले जीवन के, परलोक के लिए अपनी व्यवस्था करनी है !

रचना-शीलता

वैषम्य या सघर्ष का बोध अपने-आप मे रचनाशील नही होता; वह तभी रचनाशील हो सकता है जब मूलभूत नियम को पहचाना जाये।

दु.ख भोगना रचना करना नही है, यद्यपि रचना करने के लिए दु.ख भोगना आवश्यक है। दु ख से जो उन्मेष होता है वही रचनाशील होता है।

करुणा का स्रोत

करुणा का स्रोत केवल दु.ख नही है, दर्द नही है, उन की यथार्थता का सैद्धान्तिक प्रत्यय भी नही है।

मैं और ममेतर का जीवन्त, तात्कालिक, रागाविष्ट अनुभव ही करुणा का स्रोत है। वह अनुभव ही दु ख है और उस की उत्कटता ही दर्द।

उस अनुभव के प्रति खुले रहना करुणा के लिए खुले रहना है; जितना ही वह व्यापक है या गहरा है, उतनी ही करुणा भी व्यापक या गहरी है।

चरम उपलब्धि

ईश्वर ने अन्धकार मे न-कुछ से सृष्टि की।
अतः सृष्टि का मूल रहस्य क्या है ?
—न-कुछ।

ससर्वत्तावादी स्वतन्त्रता से कितना प्रेम करते है !

मूल्य

उपलब्धि के बिना मूल्य नही है। किन्तु मूल्य केवल उपलब्धि मे नही है, वह उस गहराई मे भी है जिस पर उपलब्धि हुई हो।

प्रत्येक वस्तु जो अपनी माप है उस गहराई की भी माप है जिस मे उस की रचना हुई।

प्रतीक का महत्त्व

महत्त्व या मूल्य प्रतीक का या प्रतीक मे नही होता, वह उस से मिलने वाली अनुभूति की गुणात्मकता मे होता है।

सत्य की सत्यता

सत्य इस से कम सच्चा नही हो जाता कि उसे थोड़े लोग जानते है। पर सत्य इस से झूठा हो जा सकता है कि उसे हर कोई जानता है।

संस्कृति और कला

संस्कृति क्या है ?

सारे समाज का पुजित अनुभव रचना मे लगने पर उस से जो आनन्द-मयी सृष्टि होती है वही सस्कृति है। अगर वह सृष्टि नही है तो सस्कृति नही है; अगर आनन्दमयी नही है तो भी वह सस्कृति नही है। और अगर उस का आधार पूरे समाज का अनुभव—समाज-व्यापी सत्य—नही है तो भी वह सस्कृति नही है।

समाज के अनुभव का वहन करने के लिए व्यक्ति का सस्कारी होना आवश्यक है। संस्कृति दीक्षा और अनुशासन माँगती है। बिना अनुशासन के सस्कृति टिक नही सकती आनन्दोपभोग की क्रिया का भी वह अनु-शासन माँगती है। इन्द्रियो के और मन के प्रशिक्षण मे, उपभोग्य के साथ-साथ विवेचन मे, पहचानने, परखने, विविक्त करने, मूल्य आँकने और निर्देश देने मे अधिकाधिक अनुशासन ही हमे वन्यता से संस्कृति की ओर ले जाता है, और सस्कृति से कला की ओर बढ सकने का सामर्थ्य देता है।

पर कला···

एक विन्दु ऐसा है जहाँ कला का मार्ग संस्कृति के मार्ग से अलग हो जाता है। संस्कृति का आधार समाज है, उस का सत्य व्यापक सत्य है और उस की दृष्टि भी तदनुकूल है। पर कला का क्षेत्र विशिष्ट का क्षेत्र है : उसका सत्य विशिष्ट, अद्वितीय और मौलिक सत्य है, और उस की दृष्टि भी वैसी ही एक और अद्वितीय।

यह नहीं कि इस प्रकार कला हमे समाज से काट देती है। वल्कि इस के प्रतिकूल साधारण अनुभव के आधार पर सस्कृति हमे तर्कना के माध्यम से ज्ञान देती है; विशिष्ट अनुभूति के आधार पर कला हमे अन्तश्चेतना के माध्यम से वोध देती है। इस प्रकार कला भी ज्ञान का साधन है, पर इस ज्ञान की कसौटियाँ विज्ञान की कसौटियाँ नही है।

जिज्ञासा के स्तर

जिज्ञासा के तीन क्षेत्र या स्तर :

कार्य और कारण के सम्वन्ध, जिनका अनुसन्धान विज्ञान है;

साध्य और साधन के सम्वन्ध, जिन का शोध नीति-दर्शन है;

प्रतीक और अर्थ के सम्वन्ध जिन की उपलब्धि धर्म अथवा अध्यात्म है।

और कला ?

आह कितनी सुन्दर है जिज्ञासा, कितना सुन्दर यह वोध कि उस के स्तर अनेक रहते भी मूलतः वह एक है;

कितना आनन्द है जिज्ञासा के समाधान मे—उस एकत्व की उपलब्धि मे, जिस मे सव सम्वन्ध ही समाहित हो जाते हैं !

संस्कृति और अनुशासन

संस्कृति अनुशासन नही है . वह अनुशासन का सहज आभ्यन्तर वोध है।

संस्कृत व्यक्ति नियम को मान कर नही चलता; नियम उस के भीतर मे निःसृत होता है।

ईश्वर का प्रतिरूप

ईश्वर ने मानव के रूप मे अपनी प्रतिमा का निर्माण किया। कुशल

शिल्पी होने के नाते उस ने प्रत्येक प्रतिमा भिन्न और अद्वितीय बनायी; भिन्न होने के कारण प्रतिमाएँ परस्पर प्रेम कर सकी।

अब यन्त्रयुग मे मानव ईश्वर के रूप मे अपनी प्रतिमा का निर्माण करता है। उत्पादक होने के नाते वह सभी प्रतिमाएँ एक-रूप और एक-प्रमाण बनाता है; समान होने के कारण प्रतिमाएँ एक-दूसरे से केवल घृणा कर सकती है।

व्यक्ति का शोध

अपने से भिन्न एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का क्रमिक शोध और अनु-सन्धान—इस से अधिक सुन्दर, प्रीतिकर और तृप्तिदायक अनुभूति क्या हो सकती है ? यह शोध अत्यन्त कठिन है, इसी लिए वह इतनी तृप्ति भी देता है। किन्तु यह शोध अहेर नही है, 'पाने' से उस का कोई सम्बन्ध नही है। अहेरी की भावना ले कर पुरुष अथवा स्त्री व्यक्ति का 'पीछा' करना उस अनुसन्धान और शोध को आरम्भ से दूषित कर देना है, क्योकि वह वास्तव मे खोज नही है, वह तो केवल पूर्वग्रह है क्योकि वह उपलब्धि का रूप पहले से निर्धारित कर के चलता है।

क्या मानव-जाति का शोध भी उतना ही तृप्तिकर और प्रेय हो सकता है ? क्या कोई यह नही कह सकता कि व्यक्ति को छोडो और सम्पूर्ण मानव को ही अपना लक्ष्य बनाओ ? किन्तु इस अर्थ मे सम्पूर्ण मानव का अर्थ या अस्तित्व क्या है ? मानव जाति व्यष्टि इकाइयो के योग से अधिक क्या है ? संकल्पपूर्वक व्यक्ति के शोध का परित्याग, अपनी आत्मा का पगुकरण है, आशिक आत्म-हनन है। क्योकि व्यक्ति के शोध के परित्याग के बाद मानव का शोध सम्भव नही रहता—मानव व्यक्ति एक सत्य है, मानवता केवल एक उद्‌भावना।

प्यार : दर्शन

मै जब तुम्हारे सम्मुख घोषित करता हूँ कि मैं तुम्हे प्यार करता हूँ, तब क्या मैं वास्तव मे केवल अपने को यह नही सूचित कर रहा होता हूँ कि मैं तुम्हे इस विश्व-रूपी इकाई के ऐसे विशिष्ट अग के रूप मे पहचान रहा हूँ जिस ने मुझे एकान्त दर्शन दिया है, जो केवल मेरे समक्ष अवतरित हुआ है—इस विश्व-रूपी इकाई के जो इसी अर्थ मे मेरी है कि मुझे उस

के ममेतर होने का बोध है ?···

फिर भी···तुम अवतरित हो इस का अर्थ यह है कि जहाँ तक तुम्हारा सम्बन्ध है मैं उस ममेतरत्व के बोध का भी परिक्रमण कर सकता हूँ—ऐसी अवस्थाएँ प्राप्त कर सकता हूँ जहाँ वह निरर्थक हो जाता है···

मैत्री : सत्य का आयाम

मैत्री मे मैं मित्र नही खोजता, मैत्री भी मैं नहीं खोजता; मैं केवल सत्य खोजता हूँ जिस का एक आयाम वह है।

प्यार : आत्म-दान

जिसे तुम प्यार करते हो, या प्यार करने का दावा करते हो, या समझते हो कि प्यार करते हो, उस के निकट तब तक न जाओ जब तक तुम्हारे पास देने को कुछ न हो और देने की उत्कट अभिलाषा न हो।

प्रिय के पास केवल माँग ले कर जाना एक अलग व्यक्तित्व की अवहेलना है इस लिए असभ्य है, और आनन्द के सच्चे स्रोत की अज्ञता है इस लिए असंस्कृत है।

निःस्वार्थता

अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ को संकल्प-शक्ति द्वारा दूसरे की इच्छा अथवा आवश्यकता के अधीन कर देना सम्भव है। यही आत्म-बलिदान है।

संकल्प अर्थात् इच्छाशक्ति की क्रिया होने के कारण आत्म-बलिदान आत्म-हनन का एक रूप है : वह आत्मा को हीन, नीरस, वन्ध्य करता है।

निःस्वार्थता संकल्प की क्रिया नही है, वह विकास और शिक्षा का फल है। उस मे कोई नकार या बलिदान नही होता, अतः वह आत्म-दान को आनन्दमय बनाती है।

प्रेम और बलिदान

अगर प्रेम के लिए बलिदान करना सम्भव है; तो क्यों नही बलिदान के लिए प्रेम करना भी सम्भव है ?

बल्कि प्रायः तो हम यही करते है···

काश कि मैं अपने-आप से कुछ अधिक प्रेम करता, क्योकि तब मैं अपने को वलिदान के लिए उपयुक्त महत्त्व और गौरव दे सकता।

अथवा मैं अपने को कुछ कम प्रेम करता—ताकि दूसरो का वलिदान करने मे मुझे द्विधा न होती !

यान्त्रिक उन्नति

यान्त्रिक उन्नति इसे क्रमश. सुगमतर बनाती जाती है कि मानव अधिकाधिक काम विना आत्म-दान के कर सके।

अर्थात् वह क्रमश. अधिकाधिक मानवो का अकेला होना अधिकाधिक सम्भव बनाती जा रही है, यदि वे यान्त्रिक उन्नति पर ही निर्भर करते है।

यान्त्रिक उन्नति अपने-आप मे दूषित नही है। वह मृत्यु को सुगमतर बनाती है, इस का अर्थ यह नही है कि वह जीवन को असम्भव बनाती है।

किन्तु यान्त्रिक उन्नति आत्मा को प्रेरणा नही देती, और वह प्रेरणा आवश्यक है। उस प्रेरणा के स्रोत की खोज आधुनिक मानव की खोज है।

शिक्षा और प्रतिमानीकरण

लोक-कल्याण का अर्थ जब परिस्थितियो का प्रतिमानीकरण समझ लिया जाता है, तब शिक्षा का अर्थ भी मानसिक प्रतिक्रियाओ का प्रतिमानीकरण हो जाता है। तब हम परिस्थिति की विशिष्टता को अरक्षित होना समझने लगते है, और भाव-प्रतिक्रिया की विशिष्टता को अशिक्षित होना या असामाजिक होना।

शिक्षा विवेचन की परिपाटी देती है। जो शिक्षा विचार-शक्ति की बजाय भावना का नियम करना चाहती है, वह सर्वसत्तावाद की चेरी है।

सस्कृति और प्रतिमानीकरण

हम जीवन के प्रतिमान की बात करने चलते है, और जीवन का प्रतिमानीकरण करने चलते है।

हम सास्कृतिक स्वातन्त्र्य को राजनैतिक मतवाद बनाना चाहते है, पर यह भूलते जाते है कि स्वतन्त्र रखने के लिए सस्कृति तो प्रतिदिन कम होती जाती है। व्यक्ति-सस्कृति भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भाँति दिन-प्रति-

दिन आक्रान्त होती जा रही है···

सख्य

सख्य अथवा सम्पृक्ति मानस की स्थिति है।

अकेलों की भीड़ से अकेलापन नही मिटता, किन्तु अकेले के आत्म-दान से मिट सकता है।

सम्बन्ध कारक

'तेरा', केवल 'तू' मे सम्बन्ध कारक जोड़ देने से नही बनता, वह 'तू' के अस्तित्व का एक नया स्तर अथवा आयाम है, सम्बन्ध की एक अलग विभक्ति, एक स्वतन्त्र सत्य है।

अपने को तुझे सौंपने मे, ऐसा नही है कि मैं केवल अपने को बदलता हूँ!

जीवन-मरण

मैंने इस जीवन मे जो भी प्रगति की, वह क्या इस से निरर्थक हो जावेगी कि इस जीवन के अतिरिक्त और कोई जीवन मेरा नही है—कि मेरा न पहले जन्म हुआ न फिर होगा ?

क्या उस प्रगति की अर्थवत्ता इस से और भी कम न हो जायेगी कि यह जीवन एक ऐसी कार्य-कारण-परम्परा की केवल एक कड़ी है, जिस में मैं जो इस जन्म मे करता हूँ वह उस से नियमित होता है जो मैंने पिछले जन्म में किया, और उसे नियमित करता है जो मैं अगले जन्म में करूँगा ?

प्रगति क्या मेरी प्रगति है ?

अमरत्व क्या मेरा अमरत्व है ?

'मेरे' अमरत्व की शर्त से क्या मेरी बुद्धि, या मेरा सौन्दर्य-बोध परितुष्ट होता है।

प्रगति क्या हम में, हमारे द्वारा, आद्य की, आद्या शक्ति की, ईश्वर की ही प्रगति नही है ? क्या हमारा मर्त्य होना, मरणधर्मा होना, इसी लिए नही है कि हमारे द्वारा ईश्वर जीता रह सके ?

उपनिषत्

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीयाः'—अगर हम मर्त्य हैं तभी यह सत्य है कि जो

कुछ हैं सब 'ईशावास्य' है, और तब कितना सत्य ! उस के उच्छिष्ट से ही हम जीते हैं, उसी पर आधारित है : उस का स्वय उत्सर्ग करना ही वह मुद्रा है जिसके द्वारा हम उस के समपदासीन होते है !

दावाग्नि

जगल मे आग लगी तो हम उसे बुझाने नही गये, हम ने कुछ आगे बढ कर पेड़ काट कर गिराने आरम्भ कर दिये कि शेष जगल बच जाये।

इस प्रकार जो पेड बच गये सो तो बच गये। जो जल गये सो भी, हाँ, जल गये। कदाचित् उन का जलना ही एक अविस्मरणीय दीप्ति छोड गया। किन्तु जो जले भी नही; पर बचे भी नही—जो जलने वालो से बचने वालो को अलग करने के लिए काट कर गिरा दिये गये—उन का क्या ?

क्या ये हम बीच की पीढी के लोग भी ऐसे ही पेड है—जिन्हे काट कर फेंका जा रहा है कि भविष्य को दावाग्नि से बचाया जा सके ?

खंड २

लिखि कागद कोरे

रघुवीर सहाय
और
'दिनमान' के अन्य
सहयोगियों के लिए

मुद्राएँ

हौआ-प्रकरण–१

काश कि ऐसी होती वह · कैसी ? हज़ारों वर्षों से कवि लोग इस सवाल का जवाब खोजते आये हैं—या बनाते भी आये हैं। अपने सपनों की, अपनी कल्पना की 'वह' कैसी होगी, इस पर कोश-कोश-भर शब्द खर्च कर के भी कवि अघाते नहीं हैं। और इस में भूल जाते हैं—और पाठक को भी भुला देते हैं!—कि असल सवाल, और सच कहें तो असली और बुनियादी आकांक्षा, इस घटाटोप के नीचे दब गयी है · काश वह ऐसी न होती! यों तो इच्छा मे ही इस बात का स्वीकार निहित है; 'काश वह ऐसी होती' का मतलब ही यही है कि वह ऐसी नहीं है, कुछ दूसरी है। हो सकता है कि उस बात को निहित रहने देने मे शायद कवि की—या सारे पुरुष-समाज की—आशा यही रही है कि कल्पना के सहारे यथार्थ की कड़वाहट को अनदेखा कर देंगे। पर क्या जब-जब हम इच्छा प्रकट करते है कि वह ऐसी हो, तब-तब प्रतिध्वनि मूल बात को और सामने नही लाती कि वैसी वह नहीं है ? और प्रतिध्वनि का स्वभाव है मूल को थोड़ा विकृत कर देना, इस लिए क्या पहले से ही कड़वी बात और कडवी हो कर ही सामने नही आती ?

खैर ! 'कैसी होती है वह' का जवाब भी कोई क्यों देता है, मेरी समझ मे नही आता। क्यो कि 'कैसी न होती वह' के बाद दूसरी बात जो पुरुष-समाज चाहता है—और कवि भी आखिर तो पुरुष होते ही

हैं, कुछ चाहे कि पुरुष भी होते हो !—वह यह कि उस के सपनो की वह, किसी भी एक तरह की न होती। यानी कि 'कैसी होती वह' नही, 'कैसी होती वे' ही उस की कल्पना का असल विषय होता है। कैसी होती वे—और अन्त मे यह कि जब सब रूपो का बखान हो चुके तब उस के आगे भी एक अप्रत्याशित, अकल्पित रूप बाकी रह जाये जिसे कवि ताकता रह जाये, बस, ताकता रह जाये! इस लिए मानना होगा कि कवि की **प्रिये प्राणों की प्राण!** से ज्यादा सही बात उपन्यासकार ने कही जिस ने **ओ तू!** कह कर छोड दिया : अब इस 'तू' को कोई चाहे जिस या जिस-जिस रूप मे सँवार ले!

अपनी बात कहूँ : वह अप्रत्याशित विविधरूपिणी हो, इस माँग से आगे सोच नही पाता कि क्या चाहूँ, कल्पना को कोई मूर्त्त रूप नही दे पाता। या शायद यह कहना चाहिए कि अब नही दे पाता, पहले कदाचित् इस मे आगे भी सोचता। जानता हूँ कि जो भी चाहूँगा, शब्दश: उस की पूर्त्ति करता हुआ भी ऐसा कुछ हो जायेगा जो बिल्कुल अकल्पित हो। अप्रत्याशित कुछ हो ऐसा तो पुरुष चाहता है, पर वह अकल्पित ऐसा हो कि और जो-कुछ चाहा गया है वह अपने-आप कट जाये तब क्या हो? अब जैसे यही लीजिए : शायद ही कोई चाहता है कि 'वह' मुझ से अधिक अक्लमन्द हो। पर मुश्किल यह है कि 'वह' इस बात को खूब समझती है। इस लिए वह कमअक्ल बन कर ही सामने आती है : पुरुष भी खुश और वह भी विजयिनी। अब इसे कमअक्ली कहा जाये या कि अक्लमन्दी?

सब से बडा सौभाग्य तो यह हो कि सच-सच कह सकें : वह जैसी है वैसी ही होती—और वैसी ही रहे—! **'वह कितनी ऊँची है?'—'कि मेरे दिल तक पहुँचती है।'** जिन का ऐसा सौभाग्य है—और वास्तव मे टिकाऊ सौभाग्य है, क्यो कि ऐसा आभास तो कइयो को कई बार हो सकता है कि 'वह दिल तक पहुँचती है' जब कि वास्तविक स्थिति यह हो कि दिल ही गच्चा खा कर लोट-पोट होता हुआ उन के आस-पास कही जा गिरा हो!—जिन का ऐसा सौभाग्य है उन्हे बधाई देता हूँ। यह दूसरी बात है कि मन ही मन यह सोचूँ कि अगर वे सचमुच ऐसा मानते है तो भी शायद है गलती पर—वह जैसी है वैसी है नही, या कम से कम दूसरों की दृष्टि मे नही होगी। और जिन का ऐसा सौभाग्य नही

हैं उन्हे—उन्हें भी बधाई ही देनी चाहिए इस लोकतन्त्र के ज़माने मे—क्योंकि उन्ही की संख्या अधिक है।

काश कि ऐसी होती वह : ऐसी, कि मेरी इस सारी बात को पढ़-सुन कर चिढती नही, हँस देती। मेरे साथ वह हँस सके, मुझ पर नहीं, इस से आगे मुझे कुछ नहीं चाहिए![1]

१. बी० बी० सी०, लन्दन, से प्रसारित

हौआ-प्रकरण-२

मैं कैसी स्त्री चाहता हूँ, इस का जवाब आसान नही है। क्यो कि किसी को इस का ठीक-ठीक उत्तर देना हो, तो पहले इसी बात का निर्णय करना होगा कि वह विशेष 'मैं' स्त्री चाहता भी है या नही। और फिर यह भी सोचने की बात है कि कल्पना की उडान मे जैसी की चाहना की जाती है, क्या वास्तविक जीवन मे भी वैसी ही स्त्री चाही जा सकती है, या मिल सकती है?

इतने बडे सवाल का समुचित उत्तर देने का यहाँ न समय है, न स्थान। अधिक-से-अधिक इतना किया जा सकता है कि एक विचार-पद्धति का सकेत-भर दे दिया जाय। उस से आगे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे वह परिस्थिति आती है, जहाँ वह प्रार्थना करता है—'हे देव! जैसी स्त्री मैं चाहता हूँ (लेकिन स्वय नही जानता कि कैसी चाहता हूँ) वैसी ही मुझे मिले।'

बात के दो पहलू होते है। जब दामाद अपनी स्त्री के वश मे होता है, तब कन्या देवी जान पडती है और दामाद साधु पुरुष, लेकिन जब पुत्र अपनी स्त्री के वश मे होता है, तब वधू डायन हो जाती है और पुत्र नालायक। प्रत्येक पुरुष दो प्रकार की स्त्रियाँ चाहता है—एक तरह की औरो के लिए, दूसरी तरह की अपने लिए।

सौन्दर्य की बात तो जाने दीजिए। प्रत्येक पुरुष चाहता है सब स्त्रियाँ सुन्दर हो, बल्कि कुछ तो शायद यह भी चाहते है कि दूसरों की स्त्रियाँ अपनी स्त्री से कुछ अधिक ही सुन्दर हो (लेकिन दूसरे पुरुष उन से कदापि सुन्दर न हो!) क्योकि जब आँखे है, तो उन का इस्तेमाल तो होगा ही, और जब उन का इस्तेमाल होगा ही, तब उन्हे सुन्दर चीज़

ही दीखनी चाहिए। (पर यदि दूसरे पुरुष सुन्दर होंगे, तो अपनी स्त्री का शील कैसे निभेगा?)

दूसरों की स्त्रियाँ मिलनसार होनी चाहिए। अतिथि का सत्कार करने में दक्ष और कर्त्तव्यनिष्ठ; यहाँ तक कि मेहमानदारी निबाहने में उन्हें अपने पति को कष्ट देने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

दूसरो की स्त्रियो में बहिर्जगत् का आकर्षण होना चाहिए—सैर मे, पिकनिक-पार्टियो मे, सिनेमा-तमाशो मे उन्हें रुचि होनी ज़रूरी है, क्यो कि इन के बिना व्यक्तित्व का विकास नही हो सकता और स्त्रियाँ अब तक गुलाम इसी लिए हैं कि उन का व्यक्तित्व विकसित नही हुआ।

दूसरो की स्त्रियो में गुणग्राहकता होनी चाहिए और दूसरो की त्रुटियो के प्रति उदारता। जिस मे जो गुण हो, उसे पहचान कर उस का समुचित आदर करने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए और पहचान के मामले मे उन्हे पक्षपात-पूर्ण या सकुचित नही होना चाहिए—अपने पति को सर्वगुण-निधान मान कर आँखें बन्द नही कर लेनी चाहिए।

दूसरो की स्त्रियों को 'मॉडर्न' (आधुनिक) होना चाहिए, प्रगति-शील होना चाहिए। आज-कल के ज़माने मे घूँघट-पर्दा जैसी व्यर्थ चीज़ो का उन्हें कार्यात्मक विरोध तो करना ही चाहिए. इस के अलावा विवाहित जीवन का जो 'घरेलू' आदर्श हमारे पुरखा मानते थे, उस का भी उन्हे खंडन करना चाहिए। जो स्त्री समय के साथ नही चल सकती, उस का जीवन ही क्या?

लेकिन अपनी स्त्री—ऊँ-हूक्! अपनी स्त्री मे एकाग्रता और सयम का गुण होना चाहिए। उस मे क्षमता होनी चाहिए कि सौ काम छोड कर भी पति की ओर ध्यान दे सके (और दे)। जीवन की भीत ही है कुटुम्ब, उस की रक्षा करना स्त्री का परम कर्त्तव्य है। इस के लिए सैर-सपाटे और खेल-तमाशो का त्याग करना पडे तो उसे चाहिए कि प्रसन्नता से उन्हे तिलांजलि दे दे और इसे बेगार न समझ कर अपना गौरव जाने, क्यो कि इस के द्वारा वह जगत् की पालने वाली, ईश्वर की समकक्ष, हो जाती है।

अपनी स्त्री मे विवेक आवश्यक है। यह मानी हुई बात है—आज-कल का विज्ञान भी यही कहता है—कि स्त्री स्वभावत. रूढिवादी है, पुरुष क्रान्तिवादी। स्थायित्व स्त्री की मुख्य देन है। उसी का काम है

कि वह जीवन को एकदम डाँवाडोल नही हो जाने देती, हर-एक लहर मे स्वय नही वह जाती। नयेपन के आकर्षण मे पड़ कर उसे अपना सनातन रूप नही भूल जाना चाहिए। जो नया है, वह कल पुराना भी तो हो जाएगा, लेकिन जो प्राचीन है, वह चिरन्तन है। 'मॉडर्न' होने का तो आज-कल एक रोग हो गया है, जिस से खुदा वचाये।

और अपनी स्त्री को सादगी-पसन्द होना चाहिए। सिल्क-सैटिन, जार्जेट-किमखाव, जरी-गोटा, पाउडर-क्रीम, वैंगल-ब्रेसलेट—जिस का जीवन इन्ही मे रमा हो उस की क्षुद्र आत्मा क्या कर सकेगी ? आर्थिक दृष्टि से भी देखा जाए, तो यह पूँजी को ऐसी जगह डाल देना है, जहाँ मूल-धन तो नष्ट होता है, सूद भी नही प्राप्त होता। और कौन यह नही जानता कि फैशन का मोह कितना भयकर है ? दूसरो की स्त्रियाँ फैशनेवल होती है, तो हो, वला से।

लेकिन ये सव आम वातें है। इस प्रकार की वातें कोई भी पुरुष स्त्रियो के वारे मे कह सकता है। जहाँ व्यक्तिगत मेरा प्रश्न आता है, वहाँ मैं अपने लिए एक वडी भारी कैद रखना चाहता हूँ।

किसी भी स्त्री को—चाहे कैसी भी स्त्री को—चाहने की प्रकाड वेवकूफी जव मैं करूँगा, तव उसे अखवार मे छपाने नही जाऊँगा। अखवार मे यदि कुछ घोषित कर सकता हूँ तो यही कि सिद्धान्तत: मैं इस वात को ही गलत समझता हूँ कि कोई पुरुष किसी स्त्री को चाहे। दुनिया की तमाम वेवकूफियो की यह जड है। इस के अलावा चाहने का काम प्रकृति ने तो मादा के ही सिपुर्द किया है। हाँ, स्त्री द्वारा चाहा जाना दूसरी वात है। कोई यह पूछे कि कैसी स्त्री द्वारा चाहा जाना मैं पसन्द करूँगा तव दो-एक वाते मैं कह सकता हूँ। सुनिए :

प्रकृति ने आरम्भ मे मानवेतर प्राणियो को एकपत्नीव्रती (मॉनोगैमस) वनाया था, लेकिन जव प्रकृति की उत्पत्तिशीलता ने उन के आगे जीवन-सग्राम की—अस्तित्व के लिए सघर्ष की—समस्या खडी कर दी, तव सहूलियत और जैविक मितव्ययिता के कारण वे वहुविवाही दलो मे रहने लगे। उदाहरणार्थ, वन्दरो के गिरोह मे एक वानरराज ही सारे 'हरम' का पति होता है, वाकी वन्दर 'दरवारी' होते है, जो इस ताक मे रहते है कि वानरराज कव कमजोर हो और कव उन्हें लपकझपट का मौका मिल जाये। एक को हटा कर दूसरा वही राजा वनता

है, जो अपने पराक्रम से बाकी सबको मार भगाये—हरा दे। तब यह दूसरा राजा उसी 'हरम' का पति बन जाता है।

इस के विपरीत मनुष्य प्रकृति से बहुविवाही (पॉलीगैमस) है और आर्थिक दबाव से मजबूर हो कर ही एकव्रती बन कर रहने लगा है। यहाँ नैतिकता का प्रश्न नहीं है, क्यो कि नैतिकता तो हमारी जीव-प्रकृति-सम्बन्धी (बायोलॉजिकल) प्रेरणाओ के पीछे चलने वाली चीज़ है।

पुश्त-दर-पुश्त एकव्रती हो कर रहने पर भी पुरुष अपनी बहु-विवाही वृत्तियों को एकदम दबा नही सका है। वह उन्हें दूसरे तरीकों से शान्त करना चाहता है। फलतः अनेक प्रकार के खिचाव पैदा हो जाते हैं, एक संघर्ष-सा उठ खड़ा होता है, जो कभी-कभी विनाशकारी भी हो सकता है। इस लिए स्त्री को ऐसा होना चाहिए (यानी मैं ऐसी स्त्री द्वारा चाहा जाना पसन्द करूँगा) जो एक ही मे अनेक व्यक्तित्व रख सके, विभिन्न अवसरो पर जिस के विभिन्न रूप और विभिन्न पहलू हों और इस प्रकार जो स्वयं एक हो कर भी पुरुष की बहुविवाही वृत्ति को आप्यायित कर सके।

प्रकृति का काम तो वही समाप्त हो जाता है, जहाँ स्त्री को मातृत्व मिल जाता है। (आज भी लोग स्त्री को 'अमुक की माँ' कह कर पुकारते हैं) लेकिन स्त्री का काम वहाँ समाप्त नही होता। स्त्री को कम से कम इतने रूप धारण करने मे तो समर्थ होना ही चाहिए: (१) बच्चो की माता, (२) बौद्धिक सहयोगिनी और सखी, (३) उद्यमशील और पराक्रमी शिकारी की साथिन (यानी को जीवन-संग्राम में लड़ सके, लड़ने को उत्साहित कर सके और संघर्ष मे जय की हुई वस्तु की निधि हो सके), (४) नुमाइशी कला की कोमल वस्तु (जिसे यत्न के साथ सँभाल कर रखा जाये), (५) खिलौना (जिस के साथ खेल कर मनोरंजन किया जा सके, और बाल-भावना को तृप्त किया जा सके) और (६) रक्षिका (वह मजबूत लकडी, जिस पर वक्त पडने पर झुका जा सके, जो सँभाले)।

यह न समझना चाहिए कि इस मे स्त्री पर कोई ऐसा विशेष बोझ डाला जा रहा है, जिस से पुरुष मुक्त है। स्त्री के ये विभिन्न रूप वास्तव मे उन विभिन्न रूपो के प्रतिरूप हैं, जो पुरुष अपने में पाता है। पुरुष अपने माता-पिता, भाई-बहन को छोड कर जिसे अपनाता है, उस में इतना सामर्थ्य होना चाहिए कि वह उस की पूरक हो—उन की कमियों

को पूरा कर सके ।

स्त्री स्वभावतया रूढिवादी है, जीवन को स्थायित्व देती है । पुरुष स्वभावतया क्रान्तिवादी है, विकास की ओर बढता है । लेकिन प्रत्येक पुरुष मे स्त्रीत्व का कुछ अश होता है (जो अनेक प्रकार प्रकट हो सकता है) तब प्रत्येक स्त्री मे भी पौरुष का कुछ अश होना चाहिए । लेकिन कैसा पौरुष ? लडना भी तो पुरुष का गुण है । स्त्री मे पौरुष का सर्व-श्रेष्ठ रूप वह है जो उसे उदार बनाता है, जो उसे सामर्थ्य देता है कि वह विकास और परिवर्त्तन के प्रति सहनशील हो सके और उसे जीवन मे घटित करने मे पुरुष की सहायक हो सके । प्रकृति से वह रूढिवादी है लेकिन बुद्धि से वह क्रान्तिवादी हो सकती है । पुरुष आगे बढ जाता है · उस नयी स्थिति को कायम रखना स्त्री का काम है, ताकि पुरुष फिर पीछे न खिसक आये । पुरुष मे इस प्रकार की व्यावहारिक कार्य-कुशलता नही होती : उस की कमी स्त्री ही पूरी कर सकती है ।

स्त्रियो मे विनोद-वृत्ति (**सेंस ऑफ ह्यूमर**) नही होती । इस का एक ही प्रमाण काफी है । संसार के साहित्य मे कोई हास्य-लेखिका नही दीख पडती है । हाजिर-जवाबी उन मे रही है । एक पैना और कभी-कभी विषैला चातुर्य (विट) उन मे मिलता है, लेकिन सच्चा हास्य कभी नही । यह शायद इसी लिए है कि जीवन का सब से गम्भीर उत्तरदायित्व उन पर है—जाति को कायम रखना—प्रजनन । पुरुष को गम्भीर (सीरि-यस) समझा जाता है, लेकिन उस मे तटस्थ होने को योग्यता उसे हास्यवृत्ति देती है । स्त्रियो मे तटस्थ होने की योग्यता नही होती (मौका भी नही होता, यह ठीक है) । यदि मैं कभी यह गवारा करूँगा कि किसी स्त्री की चाहना मुझ मे हो, तो ऐसी स्त्री चाहूँगा, जिस मे हास्यवृत्ति काफी मात्रा मे हो, जो ससार पर भी हँस सके, अपने पर हँस सके और हाँ, मुझ पर हँस सके—यद्यपि मुझ पर बहुत अधिक नही !

लिख तो मै गया, लेकिन अब सोच रहा हूँ कि इस से होगा क्या ? शायद मेरी गति उस आदमी-सी ही होगी, जो फाँसी के खिलाफ प्रचार किया करता था । वह सदा कहता था कि तलवार से मरना ठीक, जहर खा कर मरना ठीक, डूब कर मरना ठीक, बिजली से मरना ठीक, लेकिन फाँसी ! – वह किसी राक्षस की सूझ है । एक दिन उसे एक जल्लाद मिल गया । उस की बात सुन कर जल्लाद को क्रोध हो आया । जल्लाद

ने कहा—"क्यों बे, तू मेरे निःस्पृह आत्म-त्याग की कद्र न कर के उलटा मेरे व्यवसाय के विरुद्ध प्रचार करता है?" और प्रचारक को एक चांटा रसीद किया। उस के बाद जानते हैं प्रचारक का क्या हुआ? उसे दी गयी—फाँसी।

लेकिन ख़ैर, जो आता है, सो आये। अभी तो मैं अपने मन की कह लूँ और ख़ुश हो लूँ कि मैं अभी तक विवाहित नहीं हूँ,[1] नहीं तो यह बात भी न कह पाता—ऐसा कुछ कहना बेमौत मरना होता—बल्कि उस से भी बदतर, बेमौत जीना होता।

१ यह लेख कभी 'विशाल भारत' में "मैं कैसी स्त्री चाहता हूँ?" विषय पर एक परिसंवाद के अन्तर्गत सन् '३७—'३८ में छपा था। तब लेखक का नाम दिया गया था डॉ० अब्दुल लतीफ़। इस के पुनः प्रकाशन का खास प्रयोजन न होता, पर सन् १९७० में बी० बी० सी० में एकाएक यही प्रश्न पूछा जाने पर जो उत्तर दिया था (दे० पिछली टीप) उस ने याद दिलाया कि एक माँग (हँसी में ही प्रस्तुत की गयी सही) इतने वर्षों तक एक-सी बनी रही है, विनोद-प्रियता की माँग। नहीं जानता कि इस का और किसी के लिए कोई अर्थ होगा या नहीं, पर स्वयं प्रत्यव-लोकन करता हुआ अपने ही को समझने में इसे उपयोगी पाता हूँ। बेमौत मरने और बेमौत जीने, दोनों के वास्तविक आस्वादन के बाद जानता हूँ कि बात हँसी की नहीं है, पर उस के लिए तो हँसी के सिवा कोई चारा नहीं है।

कुट्टिजात-विनोदेन-१

हिन्दी के सब से अधिक जाने हुए अजनबी से मिलना कुछ आसान काम नही है, ऐसा उन के रोज के मिलने वालो से सुन रखा है। फिर भी जब विशेषाक के लिए विशेष भेट कुछ विशेष प्रकार की होनी ही थी तब सोचा कि इस से भी विशेष और क्या होगा। घर पर वह किसी से मिलते नही या कोई मिलने पहुँच जाये तो घर उस को सौप कर कही चल देते है, इस लिए दफ्तर जाना ही ठीक समझा।

"मै आप से इटरव्यू लेने आया हूँ।"

एक अभेद्य मुस्कान। "वैठिए तो। इटरव्यू किस हैसियत से ?"

"जी मैं विशेष सवाददाता—"

अब की बार थोडी हँसी। "आप की हैसियत नही पूछ रहा—वह तो जानता हूँ। लेकिन इटरव्यू देने की मेरी क्या हैसियत ?"

मुझे ध्यान हुआ कि हमारे अजनबी एक से अधिक व्यक्तित्व बताने और बनाये रखने मे विश्वास रखते हैं। तत्परता से कहा, "मैं साहित्य-कार अज्ञेय—"

"अज्ञेय से इटरव्यू ?" वह पीठ टेक कर बैठ गये और थोडी देर एकटक मेरी ओर देखते रहे। देखते-देखते (बल्कि यहाँ शायद मुझे कहना चाहिए दीखते-दीखते) मुझे लगा कि वह कही दूर हटते जाते हैं। अलग, तटस्थ होते जा रहे है यानी एक व्यक्तित्व की जगह दूसरा व्यक्तित्व—(**भोक्ता** की जगह **द्रष्टा** का!)—पहना या ओढ़ा जा रहा है। यहाँ तक कि अब की बार जो व्यक्ति बोला वह मेरा तो अजनबी था ही, अज्ञेय के बारे मे भी अन्यपुरुष के लहजे मे बोला "देखिए, अज्ञेय तो कृतिकार है। कृतिकार को जो कुछ कहना होता है कृति मे ही कहता है· उस के बाहर जो कुछ कहे वह अविश्वसनीय है तब वह पूछने

से फायदा ?"

मैंने हठ करते हुए कहा, "आप और अज्ञेय क्या दो हैं ? मैं आप से पूछ रहा हूँ ।"

"मैं ? मैं तो अब केवल पत्रकार हूँ । कभी फिर साहित्यकार हो जाऊँगा इस की आशा तो नही छोड़ी है, पर यह भी हो सकता है कि इस से भी गयी-गुज़री अवस्था मे जा पड़ूँ—अध्यापक हो जाऊँ ! फिलहाल इस हीनतर पद का निर्वाह कर रहा हूँ । बल्कि कहिए तो मैं आप को इंटरव्यू कर लूँ—बल्कि (घंटी की ओर हाथ बढाते हुए) पहले आप का फोटो ही क्यो न खिचवा लिया जाये—"

"मेरा क्या इंटरव्यू ? मैं तो आप का संवाददाता हूँ । आप इंटरव्यू ले लेंगे तो मेरी रोज़ी भी ख़तरे मे पड़ जायेगी । चलिए मैं एक सम्पादक पत्रकार से ही भेंट ले लेता हूँ ।"

उन की मुस्कराहट में अनुमति थी ।

मैंने पूछा, "पत्रकार के नाते आप से राजनीति के बारे मे भी पूछा जा सकता है । मैं दल-बदल के बारे मे सवाल पूछना चाहता हूँ । आप कहते हैं और आप ने लिखा भी है कि प्रश्नों को व्यापक सांस्कृतिक सन्दर्भ मे देखना चाहिए । लेकिन दल-बदल का सास्कृतिक सन्दर्भ क्या हो सकता है ?"

"हो कैसे नही सकता ? राम-राज्य में—मेरा मतलब असल राम-राज्य से है, रामायण वाले राम-राज्य से, इस रामछाप कामराज्य से नही—राम-राज्य में ही विभीषण ने दल-बदल द्वारा राजपद पाया था । अब जनता तो अभी तक कहती है कि विभीषण ने लंका ढायी; लेकिन राज-पद से कभी किसी ने कहा कि राम ने अयोध्या ढायी ? जब कि हमारी असल चिन्ता लंका के बारे मे नही, अयोध्या के बारे मे होनी चाहिए ।"

"तो आप का आशय मैं यह समझूँ कि हमारे यहाँ दल-बदल की परम्परा है और इस के पीछे रामायण का प्रभाव है ?"

फौरन कोई जवाब नही मिला । सामने की मुस्कराहट की दीवार को देखते-देखते मुझे शरारत सूझी । मैंने कहा, "क्षमा कीजिए, यह मुस्कान तो अज्ञेय वाली मशहूर मुस्कान है जिस का जो चाहे जो अर्थ लगा ले ।"

"जी हाँ, मैं उन लोगो मे से नही हूँ जो किसी भी प्रभाव से इनकार करने मे ही गौरव समझते हैं । मैं तो जिस के भी सम्पर्क मे आता हूँ उस

से प्रभाव ग्रहण करता हूँ। और अज्ञेय से तो मेरा घनिष्ठ सम्पर्क है, यह कोई रहस्य नही है।"

"अच्छा तो रामायण के प्रभाव से फिर आज के शासन को भी राम-राज्य माना जाये ?"

"राम-राज—कामराज—वामराज। जो चाहे मान लीजिए। थोडा सोचें तो कोई भी नाम सार्थक हो जायेगा।"

थोडा रुक कर मानो अन्तर्मुखीन स्वर से दोहराते हुए "वाम राज !" फिर वह एकाएक जोर से हँस दिये; मानो उन्हे इस का कोई नया अर्थ सूझा हो।

"राजीव और सोन्या के विवाह के वारे मे आप की क्या राय है ?"

"मै क्या काजी हूँ ? और होता भी तो—"

मैंने दवे विना कहा, "सुना है मुल्ला तो आप रहे है।"

"मुल्ला भी नही रहा, सिर्फ मुसलमान वन कर एक मौलवी के हुजरे मे रह चुका हूँ। लेकिन खैर, यह दॉव आप का रहा।"

"तो फिर राय ?"

"लोगो के निजी मामलो पर—"

"लेकिन प्रधानमन्त्री की सन्तान का विदेश मे विवाह क्या सिर्फ निजी मामला है ? क्या इस स्तर के सार्वजनिक व्यक्तित्व के कौटुम्बिक सम्बन्ध भी सार्वजनिक महत्त्व नही रखते ?"

वह कुछ सोच मे पडते हुए दीखे। अपना पलडा भारी समझ कर मैंने थोडा और चिढाने के लिए कहा "और इस का जवाब भी मुझ को ऐतिहासिक सन्दर्भयुक्त चाहिए।"

इस पर वह हँसे। "यानी **खीर बनायी जतन से चरखा दिया जलाय** ? अच्छी वात है, वही सही। आप ने रोमन इतिहासकार प्लाइनी का नाम सुना है न ?"

मैंने कुछ अचकचाते हुए कहा, "हाँ-अँ-अँ।" डर लगा, कही वह प्लाइनी के वारे मे कुछ पूछ ही न बैठे।

"तो प्लाइनी ने ईसा की पहली सदी मे रोम और भारत—यानी रोम साम्राज्य और भारत साम्राज्य—के सम्बन्धो पर टिप्पणी करते हुए इस बात पर खेद और चिन्ता प्रकट की थी कि रोम का सारा सोना खिच कर भारत चला जा रहा है। सोना—सोन्या। लेकिन उस समय रोम का सोना इस लिए खिचा चला आ रहा था कि भारतीय माल का

आयात इतनी मात्रा मे होता था। कला-विलास की सब सामग्री भारत से निर्यातित हो कर पश्चिम जाती थी और पश्चिम का सोना यहाँ आता था। अब विलास-वस्तुओ का आयात कौन कहाँ से करता है, यह बताने की ज़रूरत नही है। 'भारतेन्दु' ने फ़िरंगी की शिकायत की थी: हम सन्दर्भवश फ़िरंगी का अर्थ अंग्रेज़ लगाते रहे लेकिन फिरंगी नाम भी फ़ांस से बना है और इस का अर्थ भी था भूमध्यसागर के उत्तरी तट से आने वाले सभी गौरवर्ण विदेशी—क्या अँगरेज, क्या फ्रासीसी, क्या पुर्तगेज़ी और ओलंदेज़ी, क्या इटालियन।"

"लेकिन क्या आप विषय से हट नही गये है?"

"मैं?" कुछ ऐसे स्वर से, मानो सारी दुनिया विषय से हट जाये, वह ऐसा प्रमाद नही कर सकते। "जी नही, मेरी बात सोलहों आने सन्दर्भ ही है। थोड़ा सोचने की ज़रूरत है।"

"लेकिन पत्रकारिता में तो बात ऐसे कहनी चाहिए कि सोचने की ज़रूरत न पड़े—"

उन्होने एकाएक बिगड़ कर कहा, "वैसी पत्रकारिता मैं नही करता—साहित्यकार नही रहा तो क्या हुआ? वैसे इटरव्यू आप को चाहिए तो—तो—" हाथ का एक अनेकार्थ-व्यजक इशारा कर के सभी चुप हो गये। उस इशारे की परिधि मे मानों बहुत-से दूसरे पत्र या पत्रों के सम्पादक आ गये थे जिन का नाम लेना भी उन्हे गवारा नही था। "बात यह है कि मैंने कभी अपने पाठक को बेवकूफ नही समझा—पत्रकारिता मे भी नही समझता।" फिर आँखो मे एक व्यग्य-भरी मुस्कान लाते हुए उन्होने जोड़ दिया, "मैं तो भेंट करने वाले को भी पाठक के बराबर मानता हूँ—हाँ आप चाहे कि आप को अपवाद समझा जाये तो जैसा आप कहें।"

मैं कुछ और पूछने जा रहा था कि एकाएक उन्होने कहा, "आप तो होली अंक के लिए भेंट करने आये थे न? तो फिर इतना काफी है। मेरी भेंट वार्ता के लिए इस से अधिक जगह कोई सम्पादक नही देगा।" और थोड़ी देर रुक कर उन्होने जोड़ दिया: "हालाँकि सम्पादक ज़रूर अपवाद भी हो सकता है।"

मैने ज़िद की: "कुछ पत्र तो परिशिष्टांक भी निकालते है—'होली अंक' के बाद भी तो 'व्यग्य-विनोद अंक' हो सकता है।"

कुट्टिजात-विनोदेन–२

उत्तर भारत का हर लेखक यानी हिन्दी-लेखक एक अजूबा होता है। लेकिन उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जब दक्षिण की सद्भावना यात्रा पर आये थे तब उन्होंने अपने सद्भावना-प्रसार के दौरान एकाधिक बार कहा कि "आप लोग हमें ही अजूबा मानते है? तब आप जरा 'अज्ञेय' से मिलिए—उन्हें तो हम भी एक अजूबा मानते है।" तब से कौतूहल था जो इस बात से और बढ़ गया कि मोहन 'राकेश' से उनके बारे मे पूछने पर उन्होंने कहा: "बात तो ठीक है—न मालूम अश्क कैसे एक फ़ैक्ट सही बयान कर गया। पर ठहरिए, एड्वाइस उस की ठीक नही है—क्यों कि अज्ञेय से मिलने की राय मैं नही देता। वह अजूबा ज़रूर है, पर मीट करने लायक हरगिज़ नही—बल्कि उस से मिला तो जा ही नही सकता। मिलना तो मेरे जैसे यारबाश आदमी से चाहिए।"

इस लिए केरल में भारतीय लेखक सम्मेलन के लिए जब वह इधर आये तो उन से मिलने उद्योगमंडल जा पहुँचा। वहाँ पहुँचा तो पता लगा वह घूमने कोचिन गये हैं; कोचिन में पूछ-ताछ कर निराश हो कर समुद्र की ओर घूमने चला गया तो देखा, एक 'ढूह की ओट' काठ-चम्पे के झाड़ के नीचे बैठे रेती मे सीपियाँ खोज रहे है—अज्ञेय। अपने को सफल मान मैं उन के समीप जा कर रेती मे बैठ गया।

यह समझ कर कि मैं काठचम्पे की छाया का साझा करने आ बैठा हूँ, वह सारी छाया मेरे लिए छोड़ कर दूर जा बैठे और फिर सीपियाँ बटोरने लगे। जैसे किसी दूसरे का सामीप्य उन्हे पसन्द नही था।

मैं थोड़ा अप्रतिभ तो हुआ, पर साहस कर के फिर उन के पास चला गया। ग़लतफ़हमी बढ़े नही, इस ख़्याल से मैंने कहा. अज्ञेय जी, मैं तो

मे भी कुछ निष्ठावान् प्रकाशक हुए हैं और अब भी है। ऐसे भी प्रकाशक हुए हैं, और है, जिन्हे लेखको ने सुहृद् के रूप मे पाया है और जिन की मैत्री भी दोनो के लिए आत्मिक तृप्ति का आधार बनी रही है। अपनी ही कहूँ : मैंने अभी जितनी तरह के प्रकाशको का वर्णन किया है, सभी का निजी अनुभव मुझे है, लेकिन साथ ही ऐसे भी है जिन का मैं बन्धुवत् सम्मान करता हूँ। बल्कि यह कहूँ कि मेरे लिए वे सदैव पहले बन्धु रहे है और पीछे प्रकाशक। कह लीजिए कि बन्धु ही है वे जो कि प्रकाशन का काम भी करते है। अकृतज्ञ मैं नही होना चाहता – कोई भी लेखक अकृतज्ञ नही होता—लेकिन वस्तु-स्थिति से आँखें मूँदना भी ठीक नही है। हिन्दी के अधिकतर प्रकाशक अभी अनपढ और संकीर्ण बुद्धि के है। जो अपवाद हैं, उन्हे बारम्बार नमस्कार !

पीठिकाएँ

सपने मैंने भी देखे हैं

मेरी एक कविता है, 'सपने मैंने भी देखे हैं'। उस में कुछ उन स्वप्नो का चित्र खीचने की भी कोशिश की गयी है। पर अभी निरे रंगीन सपनो की वात क्या करनी ? पाठक के सपने जरूर मेरे सपनो से ज्यादा रंगीन होंगे--मेरे सपनो के रंग धुँधले भी तो पड़ गये है !

कहते हैं कि अच्छी नीद वह होती है जिस मे सपने नही आते। मैं तो अच्छी ही नीद सोता हूँ। कभी सपने आते भी हैं तो याद नही रहते, सवेरे कुछ ध्यान रहता है कि अच्छा-सा सपना देखा था, पर क्या, यह याद नही आता। वस अच्छाई की जो छाप रहती है, उसी को लिये दिन-भर काट देता हूँ।

वचपन के सपने भी कुछ ऐसे ही होते है : जव जागें तो सपने की मिठास वनी रहे, और कुछ याद रहे या न रहे—यही तो चाहिए ! अपनी कहूँ तो आप को एक रहस्य की वात वता दूँ— मुझ मे वह मिठास तो वनी ही हुई है; उसी के कारण मैंने यह सोच लिया है कि असल मे मेरा सव से वढ़िया सपना वह है जो मै अव देखूगा। आज देखूंगा कि कल देखूंगा कि परसो, यह तो कोई सवाल नही है; देखूंगा, वस, यह विश्वास चाहिए और इसी के सहारे मैं जीवन मे वरावर नयी स्फूर्ति और उमग

* 'वचपन के सपने' · इस शीर्षक मे वच्चों के कार्यक्रम में रेडियो से प्रसारित एक वार्ता का किंचित् परिवर्तित (पठ्य) रूप।

ले कर आगे वढा चलता हूँ, यह भी सवाल नही है कि वह सपना सो कर देखूँगा कि जागते-जागते देखूँगा। क्यो कि असल मे सच्ची शक्ति उन्ही सपनो मे होती है जो जागते-जागते देखे जाते है। नीद मे देखे हुए सपने तो छाया-से आ कर चले जाते है; जो सपने हम जागते-जागते देखते है वे हमारे जीवन पर छा जाते है, उसे आगे चलाते है, उसे दिशा और गति देते है। आप ने सुना है, कोई-कोई वच्चे नीद मे उठ कर चलने लगते है, और नीद मे ऐसे-ऐसे काम कर लेते है जो जागते हुए उन मे कभी न वन पडते?—जैसे नसैनी चढ जाना, या किसी खतरनाक मुंडेर पर से हो गुजरना—यह सब कैसे होता है? सपने की ताकत से। उसी तरह जो सपने हम जागते-जागते देखते है, वे हमे ऐसे काम करने की शक्ति दे देते है जो हम से विना उस शक्ति के कभी न हो सकते। ये जागते स्वप्न असल मे आदर्श होते है जिन पर हम चलते है: ऐसे स्वप्न एक आदमी भी देखता है, समाज भी देखता है, समूचे देश और राष्ट्र भी देखते हैं। स्वाधीनता का स्वप्न जब सारे भारतवर्ष पर छा गया था, तभी तो उस मे इतनी शक्ति आयी थी कि विना रक्तपात के वह स्वाधीन हो जाय और एक विशाल लोकतन्त्र स्थापित कर ले—ससार का सब मे वडा लोकतन्त्र!

वरसो हुए, हमारे पडोस मे एक वच्चा रहता था। वच्चो से अकसर लोग पूछा करते है, 'तुम वडे हो कर क्या वनोगे?' वैसे ही इस से भी पूछते थे। और वह हमेशा एक ही जवाव देता था जिस पर सब हँसते थे "मैं वड्डा वणना ए"—मैं वडा वनूंगा। पर सोच कर देखें तो हँसने की वात इस मे कुछ नही है। वात यह है कि यही उस का सपना था। और सपना इस लिए था कि उसे वात-वात पर टोका जाता था कि 'वडे हो कर यह करना', 'वडे हो कर वह लेना', वडे हो कर यह समझोगे', वगैरह। उसने समझ लिया कि वडे हो जाना ही सब समस्याओ का हल है—वडे होते ही सब अडचने दूर हो जायेंगी, सब ताकत मिल जायेगी, सब चीजे सुलभ हो जायेंगी! जो वनने मे कुछ भी बनना सम्भव हो जाये, वही तो वनना चाहिए! वच्चे से कभी पूछे कि तुम यह लोगे कि वह, तो वह सीधा जवाव थोडे ही देता है? कहता है, "दोनो—सब!"

एक और हमारे पडोसी भाई को रट लगी रहती थी कि कोई उन्हे झाड़ू बना दे, वह मेहतर बनेंगे। और ज़िद पर मचलते थे तो घंटों धूल मे बैठे यही दुहराते रहते थे। यह इस लिए कि पहले मेहतर के आने पर उन्हे कमरे में बन्द कर दिया जाता था कि धूल से बचे रहे। और हज़रत कमरे में बैठे झाड़ू का शब्द सुना करते थे और कल्पना किया करते थे कि मेहतर होना ही मुक्त होना है।

और अब अपनी सुनाऊँ? हँसियेगा मत? मेरा सपना यह था कि मैं एक पोटली कन्धे की लाठी मे लटकाये चला जा रहा हूँ—कहाँ? कहाँ का क्या सवाल, बस चला जा रहा हूँ और अनन्त काल तक चलता जाऊँगा! मुझे घुमक्कडी पसन्द थी, शहर हो कि जंगल, नदी-नाले कि पहाड़, समुद्र कि रेगिस्तान कि तीर्थ-स्थल कि पुराने खँडहर। कभी पैदल, कभी घोड़े पर, कभी ताँगे-बैलगाड़ी में, कभी ऊँटगाडी या शिकरम पर—मोटर का कभी ध्यान नही होता था, मोटर मे तब तक बैठा भी नही था। बस वह लाठी साथ और पोटली साथ; पोटली मे एक कम्बल हो जिसे लाठी पर टाँग कर रात के लिए तम्बू बना लिया जाये, एक जोड़ी कपडा बदलने के लिए; एक कापी और पेंसिल लिखने और तस्वीरें बनाने के लिए; एक गिलास, एक चाकू, एक छोटी कुल्हाड़ी, थोड़ी-सी रस्सी, और, हाँ, दो-एक सेब या नारंगियाँ। और अब बताने ही पर आया हूँ तो हँसने की बात भी बता ही दूँ: इस सपने को यथार्थ रूप देने के लिए मैंने एक लाठी और पोटली तैयार कर के छिपा कर रख भी छोडी थी! लाठी तो मैंने खुद काट-छाँट कर बनायी थी; चाकू और छोटी कुल्हाड़ी जन्म-दिनों पर उपहार मिली थी (उपहार भी क्या मिली थी, निहोरे करके भेंट करा ली थीं)—सवाल कम्बल का था: घर से माँगने पर तो पोल खुल जाती! उस का उपाय संयोगवश निकल आया। एक छोटा लड़का हमारे यहाँ नौकर रहा; पिता जी ने उसे एक पुराना कम्बल दिया कि वह कोट बना ले। उस के कोट के लिए आधा ही कम्बल काफी था, इस लिए बाकी आधा मैंने ले लिया—पिता जी तो भला पूछते क्या कि सारा कम्बल लगा कि नहीं, और लडके को कहने की नही सूझी क्यो कि रात को ओढने के लिए तो उस के पास रज़ाई थी ही!

यह पोटली मेरे पास सात-आठ बरस रही। मैट्रिक पास कर के

जब घर से अलग हो कर कालेज गया, तब वह छूट गयी; दो साल बाद लौट कर फिर मैंने उसे खोल-खाल कर इधर-उधर कर दिया।

पोटली तो गयी, पर यह न समझिये कि सपना भी गया। सपना अब भी मेरे साथ है। यो समझ लीजिए कि मन ही मन हमेशा लाठी-पोटली या डोरी-डंडा लिये तैयार रहता हूँ—क्या जाने कब सपना एकाएक सामने आ कर कहे : "चलो तो चलो !" और मै सब छोड-छाड कर चल निकलूँ—किधर, नही मालूम; कब तक, यह भी नही मालूम, लेकिन चलूँ तो सही, यह सारी इतनी बडी दुनिया देखता हुआ !

एक और भी सपना था—किताब लिखने और छपाने का। छपाई कैसे होती है यह तो जानता नही था, हाथ से सुन्दर अक्षर लिखा करता था, और तस्वीरे तो पिता जी की किताबो मे से काट लिया करता था, या उन से फोटो माँग लिया करता था—उन के पास देश-देशान्तर के बहुत फोटो रहते थे। और जिल्दे भी बढिया-सी किसी किताब पर से उखाड कर लगा लिया करता था—पीछे तो सीख लिया कि जिल्दे बनती कैसे है। एक आध दफे तो पिटाई भी हुई किताबे फाडने पर; लेकिन पिता जी मेरी किताबे देख कर खूब हँसते थे और उन का गुस्सा प्राय: उस हँसी मे खो जाता था। मुझे इस हँसी का बहुत बुरा लगता था—क्यो कि मै तो उन की लिखी हुई किताब देखकर कभी नही हँसता था ! फिर मैंने हाथ से लिख कर एक पत्र निकाला : उस का नाम था **आनन्द-बन्धु**। इसे कोई चार साल तक चलाया।

और देखिए—यह सपना भी मेरे साथ ऐसा चिपटा कि अब काम के नाम पर कुछ सोचता हूँ तो किताब लिखने, या पत्रिका निकालने की। और यही सपना देखते-देखते लेखक और सम्पादक बन गया हूँ। (और कभी इस काम से छुट्टी पाता हूँ तो घुमक्कडी के लिए या घुमक्कड़ी के सहारे—यानी एक सपने से उबरता हूँ तो दूसरे मे जा उलझता हूँ !) मैंने कहा न, सपनो मे बडी ताकत होती है? और लिखने मे भी सोचता हूँ कि जो लिखा वह जब लिखा तब तो अच्छा ही समझ कर लिखा, पर सब से अच्छी किताब तो वह होगी जो अब लिखूँगा ! ठीक वैसे ही, जैसे मेरा सब से अच्छा सपना वह है जो मै अभी देखने वाला हूँ—और बचपन से ही बस अभी-अभी देखने की उमग मे चला आया हूँ।

'ऋण-स्वीकारी हूँ'

यो तो किसी भी युग मे कवि का बहुश्रुत होना आवश्यक माना जाता रहा है, पर आधुनिक काल मे कोई विरला ही भाग्यवान् होगा जिस ने जो कुछ पाया है केवल एक ही भाषा के माध्यम से पाया हो, फिर वह भाषा चाहे देव-भाषा ही क्यो न हो। मैं ऐसे भाग्यवानो मे नही हूँ। बल्कि ऐसा अबोध भी हूँ कि नाना भारतीय और अभारतीय भाषाओं से जो कुछ प्रेरणा मैने पायी है उसे सहर्ष स्वीकार भी करता हूँ। मेरा साहित्य का अध्ययन बहुत नियमित नही रहा, किसी पद्धति के अनुसार नही चला, कुल मिला कर इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ, यद्यपि इस से कुछ कवियो से मेरा उतना, या वैसा, या उतना पुराना परिचय नही हो पाया जितना होना चाहिए। हर कवि की रचना मे 'मौलिक' और 'परम्परा-प्राप्त' का मिश्रण—या कह लीजिए समन्वय—रहता ही है; पर परम्परा मे मैंने जो ग्रहण किया वह क्यों कि समकालीन अनेक कवियो से कुछ भिन्न रहा, इस लिए उस का प्रभाव भी कुछ भिन्न पडा। फलतः दूसरो का अवदान भी एक मौलिकता के रूप मे प्रकट हुआ—यह दूसरी बात है कि कुछ लोगो को वह रुची तो कुछ ने भर पेट गालियाँ भी दी।

संस्कृतज्ञ पिता के प्रभाव से मेरी शिक्षा पहले संस्कृत मे आरम्भ हुई. वह भी पुराने ढग से—यानी **अष्टाध्यायी** रट कर। पक्का नही कह सकता, लेकिन मेरा ख्याल है कि यह रटन्त अक्षर-ज्ञान से भी पहले शुरू हो गयी थी। जो हो, सब से पहले और पुराने काव्य-प्रभावो का स्मरण करने लगूँ तो संस्कृत श्लोकों की ध्वनियाँ ही मन मे गूँज जाती है: **शिव महिम्नस्तोत्र** का मन्द्र गम्भीर शिखरिणी छन्द, पिता के भारी और ओजस्वी कठ-स्वर मे गाये हुए **शार्दूलविक्रीडित** के छन्द, जिन मे कुछ

उन्होने मुझे भी कंठस्थ कराये थे और जो अभी तक अविस्मृत हैं, जैसे सरस्वती की वन्दना का श्लोक

या कुन्देन्दु-तुषार-हार-धवला, या श्वेत वस्त्रावृता

तुलसी की शिव-वन्दना का

वामांके च विभाति भूधर-सुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्

और राम-वन्दना का

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण-शान्तिप्रदम्
ब्रह्मा-शम्भु-फणीन्द्र-सेव्यमनिशं वेदान्त-वेद्यं विभुम्

तब नही जानता था कि यह श्लोक कहाँ का या किस का है; **रामायण** को मैं उस के एकश्लोकी रूप मे जानता था। **वाल्मीकि रामायण** का बालकाड और अयोध्याकाड पिता से बाद मे पढा था, पर **तुलसी रामायण** तो बहुत पीछे तब पढा जब अपनी शिक्षा की त्रुटियाँ पूरी करने का व्यवस्थित प्रयत्न करने लगा।

असल मे पिता जी का विश्वास था—उस काल मे बहुत-से लोग ऐसा मानते थे—कि पढना हो तो संस्कृत-फारसी पढ़े; हिन्दी का क्या है, वह तो अपने-आप आ जायेगी। आज मैं यह तो न मानूँगा कि हिन्दी विधिवत् पढे बिना आ जाती है, पर यह मानता हूँ कि उसे ठीक जानने के लिए सस्कृत और फारसी दोनो जानना और उर्दू से परिचित होना आवश्यक है।

मैं **वाल्मीकि** के बाद **कालिदास** और **राजा भोज** की गाथाओं के द्वारा कालिदास के और कुछ अन्य सस्कृत कवियो के नामो से थोड़ा-बहुत परिचित होने ही लगा था कि **सादी** और **हाफ़िज़** के नामो से भी परिचित हो गया, और फारसी के शेर तो नही पर कहावतें मुझे याद हो गयी।

और अँगरेजी की बारी इस के बाद ही आयी। यद्यपि इस के बाद तो

लगातार ही तीन-चार भाषाओं के प्रभाव साथ-साथ चलते रहे—और अभी तक मैं जितना हिन्दी काव्य पढ़ता हूँ कम से कम उतना ही हिन्दी-तर भाषाओं का भी—पर उस समय तो एक-दम ही अँगरेज़ी साहित्य में डूब गया। लांगफ़ेलो और टेनिसन से शुरू किया—उस वय में प्रायः इन्हीं से तो आरम्भ होता है!—पर प्रभाव टेनिसन का ही अधिक और स्थायी हुआ। मेरा पढ़ना एक-साथ ही व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोनों होता था—यानी किस के बाद कौन कवि पढ़ूँ यह तो नहीं सोचता था, पर जिस कवि को पढ़ता था उस की सम्पूर्ण कृतियाँ ले कर एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ जाता था! टेनिसन ऐसे कई बार पढा, उस के प्रभाव में अँग्रेज़ी में लिखना भी शुरू किया। अभी मेरे पास कुछ कापियाँ पडी हैं जिन्हें देख कर अब हँस सकता हूँ. टेनिसन के अतुकान्त छन्दों की, शैली की, और एक सीमा तक उस के मानसिक झुकाव की ऐसी नकल अब यत्न कर के भी नहीं कर सकता! लेकिन धीरे-धीरे परख बढ़ी, तब टेनिसन का बहुत-सा अंग छोड़ा और उसके प्रगीत ही मन में बसे रह गये—इनका सौन्दर्य आज भी स्मरण होते ही अभिभूत कर लेता है।

> **ब्रेक, ब्रेक, ब्रेक**
> **ऑन दाइ कोल्ड ग्रे स्टोन्स, ओ सी,**

अथवा

> **आस्क मी नो मोर**

की कोटि के प्रगीत कम ही मिलते हैं।

अँगरेज़ी में तो इस के बाद ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर से परिचय हुआ (मूल बाङ्ला में ठाकुर पढना बहुत पीछे की बात है) ब्राउनिंग के ओज-भरे आशावाद और ठाकुर के आशा-भरे रहस्यवाद के सम्मिश्रण ने मेरे नये विकसते मन पर क्या प्रभाव डाला, यह सोचा जा सकता है। पर अँगरेज़ी की परम्परा यहाँ सहसा टूटी : हिन्दी में पढा

> **तेरे घर के द्वार बहुत हैं किस से हो कर आऊँ मैं?**

और फिर

नीलाम्वर परिधान हरित पट पर सुन्दर है
सूर्य-चन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।

करते अभिषेक पयोद हैं वलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की !

और सहसा एक नयी आत्मीयता मिली—वह काव्यत्व मे उतनी नही जितनी अपनी भाषा मे—मानो सहसा अपना प्रतिविम्व दीख गया, और साथ ही यह भी दीख गया कि प्रतिविम्व दीखने के लिए आकाश नही चाहिए, पानी की बूँद मे भी वह दीख जाता है·· उस के वाद तो **मैथिलीशरण गुप्त** की जो रचना मिली पढ ही न ली वल्कि कापी मे उतार ली—आरम्भिक काल की **सरस्वती** से कितनी कविताएँ ऐसे नक़ल की होगी ! उस के वाद ही हिन्दी मे कुछ तुकवन्दी करना शुरू किया · अँगरेज़ी मे जहाँ कल्पना या भावना को ले कर चलता था, हिन्दी मे वर्णनात्मक ही पहले लिखा। वह मेरी प्रकृति के अनुकूल नही है, और मेरी ओर से वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक कुछ कभी सामने नही आया है[1]—एक खडकाव्य लिखने की वरसो की साध अभी मन मे ही है, फिर भी इस कारण से मै गुप्त जी को अपना काव्य-गुरु मानता रहा—यह जानते हुए भी कि इस जानकारी से वही सवसे अधिक चौंकते !

मैथिलीशरण गुप्त के **जयद्रथ-वध** और **भारत-भारती** का नाम तो इतना अधिक लिया गया है कि उस का उल्लेख करते भी झिझक होती है। **केशों की कथा** भी लगभग उतनी ही प्रसिद्ध है। इस के उद्धरण नितान्त अनावश्यक होगे। पर इसी काल मे दूसरे जिन कवियो ने मुझे प्रभावित किया उन का उल्लेख अवश्य करूँगा।

१ जव लिखी थी तव यह वात सच थी, अव अपने को निरपराध नही मान सकता। यो अँगरेज़ी मे भी थोडा इतिवृत्तात्मक लिखा ज़रूर था—उस के विना टेनिसन का अनुकरण पूरा कैसे होता ?—हाँ, प्रकाश मे आने से वह वच गया, या कि कहना चाहिए मैं वच गया !

तुलसीदास कभी मुझे वैसे प्रिय नही हो सके जैसे कुछ अन्य भक्त कवि। तुलसी मे मुझे न तो हृदय को विभोर करने वाला वह गुण मिला जो **सूरदास** के पदो मे मिलता है, और न बुद्धि को आप्यायित कर देने वाले वे तत्त्व जो कवीर के पदों मे मिलते हैं। और न वह अटपटी तन्मयता जो मीरावाई के भजनों में है।

तुलसी के भक्त इसे मेरा दुर्भाग्य कह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि मैं **अष्टाध्यायी** से आरम्भ करके यूरोपीय काव्य के रास्ते मैथिलीशरण गुप्त तक न आया होता, सीधे ढग से **वृन्द** और **रहीम** और **तुलसी-रामायण** से आरम्भ करके चला होता, तो मेरी मनोरचना भी भिन्न होती। जो हो, मैं तो उन से ईर्षा करके रह जाता हूँ जो तुलसी पढते-पढ़ते विभोर हो जाते है। मुझे कुछ स्थल अच्छे लगते हैं, पर तुलसी से वैसी आत्मीयता नही होती; और जो अच्छे लगते है उन की भी तुलना जब **वाल्मीकि** के उन्ही प्रसंगो से करता हूँ तो मन आदि-कवि की प्रतिभा से ही अभिभूत होता है। और संस्कृत मे फिर **कालिदास** की ओर मुडता हूँ, जिन का **रघुवंश** मेरा प्रिय ग्रन्थ रहा है। कालिदास ने वड़े साहस से **रामायण** की कथावस्तु को ले कर काव्य रचने की ठानी होगी, लेकिन रघुवंश में वह वाल्मीकि से प्रतिस्पर्द्धा करने मे वच गये है; तुलना का प्रश्न ही नही उठता क्यों कि राम-चरित को उन्होने केवल एक अंश दिया है। रघुवश के **अज-विलाप** अथवा **कुमारसम्भव** के **पार्वती-तपस्या** जैसे प्रसंगो का समकक्ष कुछ मैंने और किस कवि या भाषा मे पाया है? इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता. वैसा कुछ मैंने अन्यत्र नही पढ़ा है···

समकालीन हिन्दी काव्य का भी गहरा प्रभाव मुझ पर पड़ा। **महादेवी वर्मा** की कविताएँ और **प्रसाद** का **आँसू** पढा तो उस मे भी वह आविष्कार का-सा भाव था जो मैथिलीशरण गुप्त के **स्वयमागत** से मिला था, पर वह मानों स्थायी न रहा। प्रसाद के आँसू के कई अंश मुझे याद है, अब भी कभी अपने को उन्हे गुनगुनाते पाता हूँ:

> इस करुणा-कलित हृदय में क्यो विकल रागिनी वजती
> क्यो हाहाकार-स्वरों में वेदना असीम गरजती ?

आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी,
टकराती विलखाती-सी पगली-सी देती फेरी ?

किंजल्क-जाल हैं विखरे उड़ता पराग है रूखा,
क्यों स्नेह-सरोज हमारा विकसा मानस में सूखा !

लेकिन अनन्तर पन्त और निराला ही घनिष्ठ हो गये, और निराला को तो जब-जब पढ़ता हूँ मानो नया आविष्कार करता हूँ। शब्द पर उन का अद्वितीय अधिकार है

वर्ण चमत्कार
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।

निराला से और अनेक उद्धरण देने का मोह होता है : बादल राग का

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर।

राम की शक्तिपूजा का

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम रावण का अपराजेय समर

विच्छुरित-वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव—रावण-वारण—गत युग्म प्रहर···

गीतों की पंक्तियाँ—

सुमन भर न लिये, सखि ! वसन्त गया।

अथवा

अथवा—पर यह द्वार खोल देने पर बाढ रोकना कठिन हो जायेगा, संकेत कर के रुक जाने में ही ख़ैर है ![1]

१. रेडियो से प्रसारार्थ प्रस्तुत

लेखक के चारों ओर[1]

अपने चारो ओर की जिन्दगी से, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, आप अपने को कहाँ तक जुड़ा हुआ या अकेला पाते हैं—साहित्यिक स्तर पर भी और व्यक्तिगत स्तर पर भी। साथ ही, क्या ऐसी कुछ बाते हैं जिन का दवाव आज के लेखन पर पड़ रहा है ?

यह प्रश्न या तो अर्थहीन है, या फिर बहुत लम्बी परिभाषा माँगता है। चारो ओर की जिन्दगी, अच्छी, बुरी, जुडा हुआ, अकेला दवाव, लेखन —ये सभी शब्द ऐसे है कि इन की परिभाषा होनी चाहिए। नहीं तो बिलकुल सम्भव है कि मेरे उत्तर का आप के प्रश्न से कोई सम्बन्ध न हो। बल्कि साहित्यिक स्तर और व्यक्तिगत स्तर की वात आप जव उठाते हे तव समस्या और भी उलझ जाती है।

ऐसा कुछ भी क्यो है जिस का दवाव मुझ पर या मेरे लेखन पर नही पड रहा है—मेरा जाना हुआ कुछ भी ? बल्कि मेरे अनजान मे तो मुझ पर तरह-तरह के दवाव पड सकते है।

मेरे आसपास जो कुछ घटित होता है उस से मै अभिन्न रूप से जुडा हुआ हूं। जुडा हुआ हूँ और पहचानता हूँ कि जुडा हुआ हूँ, यही मुझे अकेला करता है। इसी दोहरे अर्थ मे कृतिकार सामाजिक भी होता है और अकेला भी। जो अपने परिवेश से जुड़े हुए नही है और उस सम्बन्ध को और उस की दुखन को पहचानते नही है, उन्हे अकेला होने की जरूरत भी क्यो होनी चाहिए ?

१. श्री रघुवीरसहाय द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रश्नो का लिखित उत्तर।

नवस्वतन्त्र विकासोन्मुख देशों के बदलते स्वरूप का समकालीन साहित्य-सर्जन (मुख्यतः कथा-साहित्य) पर क्या कोई सीधा असर पड़ रहा है, और क्या इस के फल स्वरूप साहित्य में कुछ विशिष्ट परिवर्तन आ रहे हैं ?

परिभाषा वाली बात यहाँ भी लागू होती है। क्या नवस्वतन्त्र देश ही बदल रहे हैं ? क्या विकासोन्मुख देश ही बदल रहे है ? कौन-सा देश है जो विकासोन्मुख नही है ? सीधा असर कैसा ? असर है तो सीधा क्यों नही ? साहित्य मे परिवर्तन क्या होता है ? क्या कोई भी एक रचना किसी भी दूसरी रचना से भिन्न नही होती और अगर एक रचना दूसरी के बाद हुई तो क्या परिवर्तन नही हुआ ? (यहाँ मैं रचना की बात कर रहा हूँ, निरी अनुकृति की बात नही।) हर कृतिकार नया कुछ लिखता ही नहीं है, परम्परा को नया सन्दर्भ भी देता है।

कथा-साहित्य मे अलग-अलग देशो में कुछ अलग-अलग प्रवृत्तियाँ दिखती हैं और कुछ सब मे समान हैं। हमारे देश मे कथा-साहित्य यानी कहानी-साहित्य को ले कर जो आन्दोलन हो रहे है उन में जो कुछ कहा जा रहा है उस का अस्सी प्रतिशत कहानी से या साहित्य से कोई सम्बन्ध नही रखता; कथाकारो से और साहित्यकारो के आजीविका-पक्ष से ही अधिक सम्बन्ध रखता है।

एक आन्दोलन 'शहर बनाम अंचल' का था। उसका और ब्यौरा दे कर उसे 'महानगर बनाम कस्बा' और 'कस्बा बनाम देहात' का रूप भी दिया जा सकता है और दिया गया। इन मुकद्दमों मे निर्णायक वही हो सकता जो सभी पक्षों को जानता हो। वैसा निर्णायक हिन्दी मे नही है। केवल वकील हैं और वकील का काम ही है पक्षधर होना। मुकद्दमे के बाहर रहते हुए एक दर्शक के नाते कहूँ तो मुझे लगता है कि शहरी पक्ष और उस मे भी अधिक महानगर पक्ष के वकील शोर अधिक मचाते है; पक्ष उन का अभी उतना प्रबल नही है। (शायद हमेशा ही ऐसा होता है कि दुर्बल पक्ष का वकील ज्यादा जोर से बहस करता है।) पूरा महानगर अभी भारत मे है भी नही; कलकत्ता और बम्बई वैसा रूप ग्रहण करते जा रहे हैं लेकिन अभी वहाँ नही पहुँचे है कि न्यूयार्क या लन्दन या पैरिस के सामाजिक जीवन या व्यक्ति-मनोविज्ञान को ज्यो का त्यो इन नगरो पर चस्पाँ कर दिया जाये। और दिल्ली तो अभी महानगरी नहीं

बनी है, बलिक अभी तक नगरी का चरित्र भी उसे प्राप्त नही हुआ है। पुरानी दिल्ली एक शहर था और उस की एक सस्कृति थी; नयी दिल्ली का अभी उतना विकास नही हुआ है। राजधानी है और आधुनिक संसार की बडी और महत्त्वपूर्ण राजधानियो मे से एक है, इस लिए इस का एक विशिष्ट चरित्र बन अवश्य जायेगा; लेकिन अभी नही बना है।

और महानगर का जीवन केवल महानगर के जीवन की विकृतियाँ नही है। अभी तक तो कॉस्मोपॉलिटन होने की दुहाई देने वाले केवल विकृतियाँ देख रहे है, जीवन नही देख रहे है। मानो विकृतियाँ देख कर वे यह आभास देना चाहते है कि वे उस से ऊपर उठ गये हैं। लेकिन सच बात तो यह है कि उन का विकृतियो से भी परिचय नही है; विदेशी साहित्यो मे पाये गये वर्णन के आधार पर वे वैसा लिखते है।

विचार कर के देखे तो यह बात मैं उनकी प्रशसा मे ही कह रहा हूँ कि उन विकृतियो से उन का निजी परिचय नही है। या यो कह लीजिए कि मैं उन्हे भाग्यवान् समझता हूँ कि जो वे लिख रहे हैं वह उन के अनुभव मे अभी नही आया है !

आज के कथा-साहित्य में क्या आप को कोई नया व्यक्ति या चरित्र प्रवेश करता दिखाई पड़ रहा है? यदि हाँ, तो इस का आकार-प्रकार (या 'शेप') क्या है अथवा कैसा होना नजर आ रहा है?

इस का जितना उत्तर मैं यहाँ दे सकता हूँ वह ऊपर के प्रश्न के उत्तर मे ही आ गया है। यो इतना और जोड सकता हूँ कि कविता मे भी और उपन्यास मे भी एक नया चरित्र उभरता तो दीखता है, पर अभी उस का कोई स्पष्ट 'प्रोटोटाइप' या दृष्टान्त-पुरुष एक रचना मे नही मिलेगा जिस का नाम ले कर बात स्पष्ट कर दी जा सके। वह यथार्थवादी है, जमीन पर पैर जमा कर चलता है, कुढ़ता और बौखलाता हुआ जीता है और बौखलाहट उस की दृष्टि को धुँधला नही देती। उसे अनिच्छुक आशावादी कहा जाये, या अनिच्छुक निराशावादी, यह अभी स्पष्ट नही। यह भी हो सकता है कि वह अभी अनिच्छुक यथार्थवादी ही है—क्योकि कोई स्पष्ट धारणात्मक कर्म-प्रेरणा प्रायः उस मे नही पायी जाती। कुछ करने की व्याकुलता-भर से नही, अब वह कुछ करने लगेगा तभी उस की आकृति का 'शेप' स्पष्ट दीखेगी।

व्यक्तित्व, विधाएँ, बाधाएँ[1]

आप साहित्य की कई विधाओ में रचना करते रहे हैं। इन में से कौन-सी विधा आप को सब से अधिक सन्तोष देती है? गद्य में किस प्रकार की अभिव्यक्ति आप को सब से अधिक रुचिकर लगती है ?

समय-समय पर सभी सन्तोष देती है। यो एक जमाना था जब मुख्यतया कवि माने जाने की कामना थी; फिर आख्यान-साहित्य की ओर रुचि रही—उस मे भी उपन्यास की ओर अधिक, कहानी की ओर उतनी नही। अब अपने मनोभाव को सब से अच्छी तरह शायद यह कह कर व्यक्त कर सकता हूँ कि मैने स्वीकार कर लिया है कि शायद कविता ही मेरी सीमा है। इस स्वीकार मे यह ज्ञान भी है कि परिस्थितियो से भी और मन से भी मेरा अधिकाश जीवन अकेले में बीता है। अकेले में कविता फिर भी हो सकती है लेकिन उपन्यास के लिए ऐसा जीवन नाकाफी है। या यो कह लीजिए कि वैसा रहने वाले के लिए एक खास ढंग के उपन्यास लिखना ही सम्भव है— सम्भव यानी सच्चाई के साथ, नही तो अगर लेखन को व्यवसाय ही माना जाये तो कोई भी किसी भी विधा मे कुशलता प्राप्त कर सकता है। मै समझता हूँ कि मुझे आजी-

१. यह प्रश्नावली श्री भारतभूषण अग्रवाल द्वारा सन् १९६७ मे लिखित उत्तरो के लिए दी गयी थी। उन दिनो लेखक **'दिनमान'** का सम्पादक था। युद्ध-सम्बन्धी प्रश्न की पृष्ठिका में तत्कालीन भारत-पाक सघर्ष भी था।

लेखनेतर कार्य के विषय में एक प्रश्न था जो सन्दर्भच्युत मान कर छोड़ दिया गया है।

विका के लिए नाटक लिखना पडे—याकि विज्ञापन एजेसी के लिए साहित्यगन्धी विज्ञापन सामग्री—तो वैसा काम भी मैं अच्छा खासा कर सकता हूँ। करना चाहूँगा नही, और आशा करता हूँ कि परिस्थितियाँ उस के लिए वाध्य नही करेगी—यह दूसरी बात है।

आप से जब सब से पहले भेंट हुई थी, सन् '३७ मे, तब भी आप एक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक थे, आज भी एक साप्ताहिक के सम्पादक हैं। क्या सम्पादन कार्य आप के रचना-कार्य में वाधक नही है ? क्या सहायक भी है ?

तब मैं सम्पादक नही, केवल प्रेत सम्पादक था। काम अब भी भूत की तरह करता हूँ लेकिन उत्तरदायित्व दूसरे ढग का हो गया है। यह काम कहाँ तक रचना-कार्य मे वाधक है, इस का ठीक-ठीक जवाब नही जानता। किसी भी प्रकार का अतिश्रम या थकान रचना-कार्य मे वाधक होता होगा; इस अर्थ मे तो यह काम भी वाधक होगा ही। वाकी सिद्धान्तत. तो मैं यह नही मानता कि कोई भी काम अपने स्वभाव के कारण रचना-कार्य मे वाधक होता है, वल्कि सिद्धान्तत. इस से ठीक उलटा ही मानता हूँ— जो कुछ न कुछ इतर परिश्रम नही करता उस की रचनाशीलता भी धीरे-धीरे क्षीण या विकृत हो जाती होगी। इतर परिश्रम को मैं यथार्थ से वँधे रहने मे सहायक ही मानता हूँ।

फिर यह भी है कि सर्जन का काम अविराम नही होता। उस मे अन्तराल होता है या होना चाहिए। मै तो समझता हूँ कि साल मे तीन-चार महीने साहित्य-रचना मे लग जाये तो वाकी समय न भी लिखे तो कोई वुराई नही है—वल्कि उस से लाभ ही है। उपजाऊ ज़मीन को भी बीच-बीच मे परती छोड देने से उस की उर्वरा-शक्ति वढती ही है।

क्या आप लेखक का जीविका के लिए केवल लेखन पर निर्भर रहना अनुचित समझते है ?

उस निर्भरता को अनुचित कैसे कहूँ जब कि जानता हूँ कि कभी उस की लाचारी भी हो सकती है ? लेकिन आप के सवाल को उलट कर उस का जवाब दे सकता हूँ। लेखक को लेखन जीवी होने की लाचारी

न हो तो इसे उस का सौभाग्य समझना चाहिए। लिखना जब जीने की शर्त बन जाना है तब आदमी की समझौता करने से इनकार करने की शक्ति सीमित हो जाती है। रचना को आज़ाद रखने के लिए अधिक अनुकूल परिस्थिति यही है कि रोज़ी का आधार कुछ दूसरा हो।

युद्ध के सम्बन्ध में साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? आप तो पिछले महायुद्ध में सेना में रह चुके हैं। क्या उस से आप के रचनाशील व्यक्तित्व को कोई सीधी प्रेरणा मिली थी? भारत-पाकिस्तान युद्ध से भी प्रेरणा मिली?

युद्ध बुरी चीज़ है। किसी भी काल में बुरी थी। आधुनिक युग में और भी बुरी है क्यों कि आधुनिक युद्ध में यह जानना कठिनतर हो जाता है कि युद्ध कौन से मूल्यों की रक्षा के लिए किया जा रहा है। मध्यकाल तक मूल्य स्पष्ट होते थे और उस समय तक की शौर्य-परम्परा युद्ध की परम्परा उतना नहीं जितनी मूल्य-रक्षा की परम्परा थी—मर्यादा थी। आज तरह-तरह के यन्त्रों के साथ लड़ने वाला व्यक्ति एक उपकरण मात्र बन जाता है। फिर भी युद्ध को बुरा मानते हुए भी मैं समझता हूँ कि आज भी ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जब कि युद्ध करणीय हो जाये—राष्ट्र के लिए भी, समाज के लिए भी और व्यक्ति के लिए भी। फिर व्यक्ति के लिए प्रश्न यह रह जाता है कि अगर कोई काम आवश्यक होने के नाते उचित है तो उस के प्रति उस व्यक्ति का रवैया क्या हो? क्या उस का ऐसा कहना उचित हो सकता है कि 'काम तो किसी को करना चाहिए; लेकिन गन्दा काम है, इस लिए कोई दूसरा करे—मैं तब तक ज़रा कविता लिख लूँ?' इस प्रश्न का उत्तर पिछले महायुद्ध के समय मुझे सेना में ले गया था। भारत-पाक संघर्ष भी अगर युद्ध का रूप ले ले—मैं अब भी आशा करता हूँ कि वैसा नहीं होगा—तो फिर शरीर से समर्थ हर लेखक को इस प्रश्न का सामना करना पड़ेगा। संकट की स्थिति में नागरिकता का कर्त्तव्य पहले है, कविता का कर्त्तव्य उस के बाद। देश-रक्षा नागरिक कर्त्तव्य है। कवि को बन्दूक चलाने की अपेक्षा कलम चलाना फिर भी करणीय हो सकता है, इस लिए नहीं कि बन्दूक़ से क़लम का दर्जा आत्यन्तिक रूप से ऊँचा है, बल्कि इस लिए कि देश-रक्षा के लिए 'हर नागरिक के द्वारा अपनी शक्ति और

प्रतिभा का सब से सार्थक और कारगर उपयोग' का तर्क यह बता सकता है कि अमुक व्यक्ति को बन्दूक चलानी चाहिए और अमुक दूसरे व्यक्ति को कलम या ज़बान चला कर उस कार्य मे योग देना चाहिए।

रचनाशील व्यक्तित्व को प्रेरणा हर चीज से और हर घटना से मिल सकती है। वैसा शील चाहिए। लेकिन प्रेरणा मिलना-भर काफी नही है। क्या प्रेरणा मिली, किस काम की प्रेरणा मिली, यह सवाल भी तो पूछना चाहिए। 'सीधी प्रेरणा' तो भाग खड़े होने की भी हो सकती है। वास्तव मे 'सीधी प्रेरणा' प्रेरणात्मक होती नही। अनुभव के कई स्तरो से गुज़र कर ही बाहर की घटना उस अर्थ मे प्रेरणा बनती है ,जिस का रचना के लिए कोई मूल्य हो। और इसी लिए प्रेरणा का रूप केवल बाहर की घटना से निर्धारित नही होता, जिस अनुभव-यन्त्र पर उस का प्रभाव पडता है उस पर—उस के इतिहास, संस्कार और सामर्थ्य पर—भी निर्भर करता है।

इस का एक अर्थ यह भी है कि जिस घटना ने जो व्यक्ति जो प्रेरणा पाता है वह स्वयं उस का ठीक-ठीक निरूपण नही कर सकता; दूसरा ही यह काम कर सकता है।

दूसरे महायुद्ध से पूर्व के साहित्यिक वातावरण और मूल मान्यताओ की तुलना मे आज भिन्नता किस बात में है ? क्या आप को लगता है कि वह जमाना अच्छा था ?

जब हम ज़माने को अच्छा-बुरा कहते है तब वास्तव मे अपने समाज की या स्वय अपनी अच्छाई-बुराई ज़माने पर मढ देते है। जमाने सभी अच्छे है—और सभी बीत जाते हैं, और ज़माने सभी बुरे है—और सभी बीत जाते है। दूसरे महायुद्ध से तुरत पहले या समय प्रगतिवाद के शोर-शराबे का समय था। इस समय उग्र राष्ट्रीयतावाद की हवा है। जहाँ तक उग्रता का सवाल है, दोनो की उग्रता सकीर्णता का रूप ले लेती थी और है। एक मनोरजक अन्तर यह है कि उस समय बहुत-से लोग जो दूर के युद्ध को ले कर 'युद्ध-धर्म' और **'एंगेजमेंट** और **'कमिटमेंट'** की दुहाई दे रहे थे, आज अपने सीमान्तो की रक्षा के सन्दर्भ मे कला की असम्पृक्तता की बात करते है! दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो तब साहित्य के शाश्वत पक्ष पर बल दे रहे थे और आज प्रवाह मे

ऐसे वह गये है मानों उन के लिए स्थिरचित्त हो कर सोचना ही असम्भव हो गया है ! मुझे लगता है कि जो बात तब भी सोचने की थी वह अब भी सोचने की है; वह यह कि साहित्यकार या कलाकार के रचयिता रूप को स्वतन्त्र रखने के लिए यह आवश्यक है कि उस का सामाजिक कर्त्तव्य भी सही-सही समझा जाये। साहित्यकार क्यो कि नागरिक है इस लिए साहित्य भी सम्पूर्ण रूप से समाज—राष्ट्र—अथवा शासन-नियन्त्रित हो, यह दलील भी उतनी ही गलत है जितनी यह दलील कि साहित्य क्यो कि स्वतन्त्र है इस लिए साहित्यकार समाज-निरपेक्ष है या युग-बन्धन से मुक्त है।

'बीस साल पहले' से अभिप्राय शायद स्वाधीनता-प्राप्ति का है। मेरी समझ मे जहाँ तक लेखक की मानसिक स्थिति की बात है, स्वाधीनता-प्राप्ति उसे सन् १९३१-३७ मे हो गयी थी। साहित्य मे भी इस बात का प्रतिबिम्ब है। इस समय का (और इस समय से) साहित्य, पहले के साहित्य से भिन्न हो गया है। सन् १९४७ के बाद भी और परिवर्तन आते रहे हैं लेकिन इतनी तेजी से नही और आजादी की घटना के सीधे प्रभाव से भी नही बल्कि आजादी के बाद होने वाले परिवर्तनो के क्रमिक प्रभाव से। यो साहित्यिक वातावरण मे एक परिवर्तन और भी उल्लेख्य हो सकता है—वह है आज की हवा मे मोह-भंग का चिड़चिडापन। उस समय हम मे संघर्ष-शीलता अधिक थी और उस के साथ भविष्यत् उपलब्धि का विश्वास। आज जब वह भविष्य वर्तमान बन गया है लेकिन वे कल्पित उपलब्धियाँ नही हुईं, तब नया साहित्यिक क्षुब्ध है। इस क्षोभ को मैं उचित तो नही मानता हूँ क्यो कि आज का साहित्यिक अवश्य ही अपने सामने नये लक्ष्य भी रख सकता है और उन के लिए नया सघर्ष कर सकता है। आप चाहे तो कह ले कि नये मोह पाल सकता है। फिर भी स्थिति चिडचिड़ेपन की है यद्यपि साहित्यकार की परिस्थिति कुछ अर्थो मे पहले से अच्छी भी है।

अपने संघर्ष को याद करते हुए आप आज की स्थितियों को लेखक के लिए ज्यादा आसान समझते है या ज्यादा मुश्किल ?

कौन-सा सघर्ष ? एक तो पेशेवर लेखक का लेखन-व्यवसाय की परिस्थितियों से सघर्ष है। अगर उस की बात है, तो कहे कि आज की

स्थिति मेरी समझ मे कुछ मामलो मे ज्यादा आसान हो गयी है और कुछ मे ज्यादा मुश्किल। साहित्यकार का मोह-भग हुआ है तो जन-साधारण का भी हुआ है—साहित्यकार के बारे मे। अब वह भी साहित्यकार को समाज मे उच्चतर स्थान नही देता बल्कि लेखन-व्यवसायी मान कर इसी दृष्टि से उस का स्थान निर्धारित करता है कि वह व्यवसाय मे किस हद तक सफल हुआ है। बहुत दूर तक लेखन ने ही चाहा था कि ऐसा हो—क्यो कि उसने चाहा था कि उसे व्यावसायिक और आर्थिक सफलता मिले, कोरी प्रतिष्ठा नही। लेखन के व्यवसाय से रोजी कमा लेना पहले से कुछ कम कठिन है। लेकिन साहित्य-रचना अवश्य ही पहले से अधिक कठिन हो गयी होगी क्यो कि उस के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता बनाये रखना अधिक कठिन हो गया है। यह नही कि असम्भव हो गया है, केवल इतना ही कि अधिक दृढता और सघर्ष माँगता है।

पाश्चात्य साहित्य की उपलब्धियों को देखते हुए आप क्या सोचते हैं, हमारे साहित्य में किस बात की त्रुटि पायी जाती है ?

पहली त्रुटि तो मैं यही देखता हूँ कि हमारे आलोचको में अपने साहित्य की कमियो को पश्चिमी साहित्य की सम्पन्नता के सन्दर्भ मे देखना जरूरी जान पडता है। पश्चिम का साहित्य पश्चिम का है, उस की उपलब्धियाँ है तो त्रुटियाँ और समस्याएँ भी है जिन सब का निरूपण हम पश्चिम के सन्दर्भ मे ही कर सकते है। इसी तरह हमारे साहित्य मे त्रुटियाँ हैं तो उस की उपलब्धियाँ भी है और समस्याएँ भी; और इन का निरूपण और विचार हमारी सस्कृति, परम्परा और इतिहास के सन्दर्भ मे ही हो सकता है। दो समान्तर सस्कृतियो से परिचित होना और दोनो को परस्पर प्रतिकृत होने का मौका देना एक बात है, केवल परायी सस्कृति की कसौटी पर केवल अपनी सस्कृति को कसते रहना और उस के दोष निकालते रहना बिल्कुल दूसरी। इस दृष्टि से तो कभी-कभी मुझे लगता है कि हमारे साहित्यो की सब से बडी कमजोरी यही है। जिस तरह हम अपनी भाषाओ को अंग्रेजी के मान-दड से मापते हुए यह भूल जाते है कि छोटी-बडी हर भाषा मे ऐसा बहुत-कुछ होता है जिस का ठीक-ठीक अनुवाद किसी दूसरी भाषा मे

नही हो सकता क्यो कि किसी भी संस्कृति का पूरा माप किसी भी दूसरी संस्कृति से नही हो सकता; उसी तरह हम यह भी भूल जाते है कि हम पश्चिम के अनुभव से लाभ तो उठा सकते हैं लेकिन अपने अनुभव की मूल्यवत्ता का फ़ैसला उस के आधार पर नही कर सकते। ऐसा पूर्वग्रह अपने-आप ही हमारे पैरों की वेड़ी वन जाता है; उसे हम काट दें तो हमारा साहित्य फौरन सहज भाव से आगे वढ़ने लगता है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि आप की कविता में रोमांटिक तत्त्व वहुत प्रवल है, वल्कि आप का लेखन एक प्रकार से छायावादी भावना का ही परवर्त्ती रूप है। आप क्या इससे सहमत हैं?

मेरे सहमत या असहमत होने से क्या आता-जाता है? आलोचक जो कहते हैं उस का खंडन-मंडन उन्ही को करना है। मेरी समझ मे **रोमांटिक और छायावादी** ये दो शब्द सम्पूर्ण पर्यायवाची नही है यद्यपि छायावाद पर रोमांटिक साहित्य का प्रभाव काफ़ी रहा। मेरी रचनाओ मे रोमाटिक तत्त्व अवश्य होगे, छायावादी प्रभाव भी होगा ही। मुझे न उन्हे वनाये रखने की चिन्ता है न उन से मुक्त होने की। आप चाहे तो कह सकते हैं कि इसी लिए मैं 'नया' या 'आधुनिक' नहीं—अगर आधुनिक होने के लिए कुछ न होने की सजग चेष्टा अनिवार्य ही है। जैसे मैं विल्कुल आवश्यक नही मानता कि मेरी कविता अकविता ही हो या कहानी अकहानी ही—वह कविता या कहानी ही हो जाये तो मैं लज्जित होने का कोई कारण नही देखता।

कहानी या उपन्यास के वारे में आपकी रचना-पद्धति क्या है? पूरा कथानक पहले सोच लेते हैं या कहानी को अपने-आप वहने देते है? चरित्र से प्रारम्भ करते है या घटना से? या किसी भाव से या विचार से?

कोई एक पद्धति तो नही है। छोटी कहानी तो किसी भी तरह से वन सकती है—चरित्र से आरम्भ कर के या घटना से या भाव से या विचार से, या किसी घटना की प्रतिक्रिया में उदित होने वाली किसी

सूझ से। या कि किसी स्थान के इतिहास या वातावरण से। छोटी कहानी को 'अपने-आप बहने देना' तो मेरे ख्याल से सम्भव नही है—मैं समझता हूँ कि उसे कोई भी अपने-आप बहने नही देता होगा—जो लोग ऐसा दावा करते है वे भी नही। वास्तव मे कला मे अपने-आप बहने देना कुछ होता नही है। सिवाय इस के कि कलाकार स्वय अपने को अपने-आप बहने देता है—और वह तब जब कि वह ऐसा करने से पहले अपने-आप को इतना माँज चुका होता है कि वह 'अपने-आप बहना' अनियन्त्रित बहना नही होता।

उपन्यास के बारे मे यह बात अशत. सही हो सकती है। पूरा कथानक पहले सोच लेता हूँ, ऐसा तो नही कह सकता, लेकिन कुछ ऐसे बिन्दु जरूर निर्धारित कर लेता हूँ जिन से यात्रा-पथ की पहली रेखा या तो अकित हो जाती है या मुझे भरोसा रहता है कि होती चलेगी। कुछ अश भी मन ही मन लिख लेता हूँ—बल्कि एक बार नही, कई बार दोहरा कर। लिखने तभी बैठता हूँ जब मन आश्वस्त होता है कि लक्ष्य तक पहुँचने का सम्बल मेरे पास है और मार्ग मे जो बाधाएँ उठेंगी उन का हल निकलता चलेगा। इस का मतलब यह नही है कि पूरा कथानक पहले से सोच लिया गया है। क्योकि कथानक या घटनाक्रम या चरित्र का विकास इत्यादि सब अपने-आप मे कृति नही, कृति के आनुषगिक होते है। रचना-प्रक्रिया मे उस से सम्बद्ध सब सवालो का जवाब मिल जाता है, लेकिन सवालो का जवाब रचना-प्रक्रिया नही है। रचयिता के सामने जो समस्या या चुनौती होती है, उस का जो हल वह पाता है या कि समस्या हल कर लेने के जिस आश्वासन तक वह पहुँचता है वह वास्तव मे कथानक आदि उपकरणो से परे की चीज़ है।

आप क्या घटना या चरित्र को कहानी के लिए अनिवार्य मानते है ? 'नयी कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अ-कहानी' के बारे में आप की क्या राय है ?

पहले प्रश्न का उत्तर 'हाँ' और 'न' दोनो हो सकते है—कौन-सा उत्तर है, यह इस पर निर्भर है कि घटना या चरित्र से आप का अभिप्राय क्या है। घटित स्थूल भी होता है और सूक्ष्म भी। काल के आयाम पर दिक् के आयाम का घटित होना ही घटना है, और काल अथवा

दिक् स्थूल और वाहरी और सामान्य भी हो सकते हैं; सूक्ष्म, भीतरी और वैशिष्ट्य-परक भी। फिर एक काल घटित का होता है, एक घटित के वृत्तान्त का; इन दोनो की परस्परता स्वयं एक घटित है और कथा इस को भी अपना मुख्य प्रयोजन वना सकती है, जैसे कि भाषा मे विषयी (सब्जेक्टिव) स्वर की प्रवलता स्वयं कलाकार का चरित्र सामने ला सकती है। यदि घटना और चरित्र की परिभाषा आप इसी के अनुसार विस्तारित कर लें तो मैं कहूँगा कि कहानी के लिए दोनो अनिवार्य है। दूसरे अर्थ मे यह कहना केवल इतना ही कहना है कि कहानी का कहा जाना अनिवार्य है। एक उपन्यास का उपन्यस्त होना, पाठक का समीप वैठाया जाना, अनिवार्य है।

नयी कहानी, सचेतन कहानी, अ-कहानी, विशिष्ट कहानी या निर्विशेषण विशिष्ट कहानी के वारे में कोई खास राय रखने का कारण मुझे अभी तक उन के अलग-अलग आन्दोलनों मे नही मिला। कहानी की रूप-कल्पना के वारे मे नया जो कुछ है, या कि कहानी की विधा मे जो कुछ विकास हुआ है, उस मे कुछ भी ऐसा नही जान पडता जो इस तरह के विशेषणों की अनिवार्य अपेक्षा रखता हो। विकास अवश्य हुआ है और नयी दिशाओ मे प्रयोग भी हुए हैं अवश्य; लेकिन इस तरह के विल्ले अधिकतर कहानी के प्रकार या रूप-कल्पना के भेद के कारण नहीं है, केवल इस लिए है कि अलग-अलग दल अपना विशिष्ट अस्तित्व वनाये रखना या वना देना चाहते हैं। पर युग से आक्रान्त कहानी-व्यवसाय के लिए ये सव हरकते लोक-सम्पर्क (पब्लिक रिलेशंज़) का अंग है। इस ज़माने मे युवतर कहानी लेखक अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए ऐसा नियोजित लोक-सम्पर्क आवश्यक मानते है। एक हद तक वह आवश्यक हो भी गया है। लेखक प्रायः यह मान कर चलता है कि जव सव व्यवसायो मे यह उपयोगी होता है तो कहानी-प्रकाशन के व्यवसाय मे भी क्यों न उपयोगी होगा। ये व्यवसाय के गुर है। ज़रूरी नही है कि माल के आत्यन्तिक गुण उन का आधार हो।

क्या आप के कथा लेखन पर आप के कवि-व्यक्तित्व का प्रभाव भी रहता है? दूसरे शब्दों में क्या आप अपने कथा-साहित्य में भी अपनी काव्यानुभूति को ही प्रक्षेपित करते है? क्या आप की कुछ कहानियों और कविताओं की मूल भावानुभूति एक ही है?

अनुभूति तो मेरी है और मैं मैं हूँ। मेरा प्रयत्न है कि मैं एक ही रहूँ—द्विभाजित व्यक्तित्व का शिकार न बनूं। इसी लिए अगर ऐसा होता हो कि मेरे काव्य पर कथा-लेखक की छाप दीखती हो या कथा-साहित्य पर कवित्व की, तो उस मे अप्रत्याशित तो कुछ नही होना चाहिए। लेकिन वास्तव मे वैसा होता है या नही, यह वताना तो मेरा काम नही है। यह तो मुझ को ही कोई वता दे तो सुन लूंगा। यो मुझे भी पूछना चाहिए कि काव्यानुभूति और कथानुभूति क्या अनुभूति के अलग-अलग रूप या पहलू या प्रकार या स्तर या मान है ? यदि आप उन की प्रक्रिया अलग मानते है तो उन मे भेद कैसे करते है ?

इलाहावाद में 'प्रतीक' की सहकारी तथा सहजीवन की योजना अव इतने समय के परिप्रेक्ष में कैसी लगती है ? प्रयास, क्या कहा जा सकता है कि असफल रहा ? वैसा प्रयास क्या आज भी उपयोगी होता ?

यह सवाल आप पूछेगे, ऐसा नही समझता था। क्यो कि मेरी समझ मे इस का उत्तर आप जानते है। आप यह भी जानते है कि इस का पूरा उत्तर मैं सार्वजनिक रूप से अभी नही दूंगा क्यो कि मैं खाह-मखाह लोगो का दिल नही दुखाना चाहता। फिर भी आप पूछते है तो उस से वचते हुए जितना कह सकता हूँ कहता हूँ। सहकार मे मेरा वरावर विश्वास रहा है और अव भी है। सहकार के लिए मैं यह विल्कुल आवश्यक नही मानता रहा कि सव सहकारियो की हर मामले मे एक-सी धारणा या रुचि हो। **'मुझ से प्यार तो मेरे कुत्ते से भी प्यार'** वाली प्रवृत्ति को मैं सभ्य नागरिक जीवन का अभिशाप मानता हूँ। हिन्दी मे यह रोग काफी प्रचलित है। और शायद कलाकार नाम का प्राणी सभी जगह इस से विशेप रूप से पीडित होता है—तो उस हद तक वह सभ्य नागरिक कम होता है—चाहे सभ्य कम, चाहे नागरिक कम, चाहे दोनो ही कम !

इस तरह के सभ्य जीवन को मैं सभ्य नागरिक परिपाटी की कसौटी भी मानता हूँ और शिक्षा-भूमि भी। यानी अव भी समझता हूँ कि वैसा प्रयोग कम से कम वीच-वीच मे करते रहना चाहिए—ठीक उसी तरह जिस तरह वर्मी वौद्ध वीच-वीच मे संन्यासी जीवन व्यतीत

करते रहते है ।

इलाहाबाद का **प्रतीक** का प्रयोग सफल भी हुआ और असफल भी हुआ । पूर्वग्रह, दुर्भावना या योजना ले कर आने वालो की बात तो छोड़ दीजिए, असफलता का एक कारण यह भी था कि उस मे कुछ लोग ऐसे भी शामिल थे जिन्हें उस से तुरन्त पहले **सहकारी जीवन** के नाम पर केवल **आज्ञाकारी जीवन** का अनुभव हुआ था । सहज आत्मतन्त्र मे रहना उन्हें नही आता था—वे या तो बताये हुए नियम पर चल या चला सकते थे, या फिर बिल्कुल स्वैराचारी हो कर रह सकते थे । और जिस तरह के सहकारी सहजीवन की योजना हमारी थी उस मे इन दोनो प्रकार के अतिवाद के लिए स्थान नही था । उस मे कभी हो भी नही सकता । वैसा जीवन तभी सभव है जब उस मे भाग लेने वाले सभी लोग इतने स्वस्थ-सतुलित और स्वाधीनता के अभ्यस्त हो कि नियम अथवा सयम का स्वेच्छा से वरण कर सकें । किसी के बताये हुए नियम से नही, प्रातिभ ज्ञान से दूसरे का सम्मान करते हुए ऐसे ढग से रह सकें कि सभी का समान हित और सुख उस से सिद्ध हो ।

ऐसे लोग आज भी मिल जायें तो उन के साथ उस ढंग से रहना मुझे अच्छा लगेगा । वैसे लोग न मिलें तो वैसा प्रयोग मैं नही करूँगा; फिर भी विशिष्ट और स्पष्टतया निर्धारित लक्ष्यो के लिए सीमित ढग का सहकारी प्रयत्न करना चाहूँगा बल्कि कह सकता हूँ कि करता रहता हूँ । मुझ तथाकथित व्यक्तिवादी ने स्वेच्छापूर्ण सहयोग से जितने काम किये है आप जैसे घोषित जनवादियो ने नही किये होगे ।

स्वाधीन भारत में लेखक

देश को स्वाधीन हुए बीस वर्ष हो गये हैं। इंडिपेंडेंस के बाद से लेखक को जो फ़्रीडम मिली है उस का क्या प्रभाव हुआ है ?

सब से पहले तो फ़्रीडम और इंडिपेंडेंस मे भेद करना आवश्यक है : कलाकार और विशेपतया लेखक के लिए इस अन्तर का बहुत महत्त्व है। फ्रीडम का सम्बन्ध उस मानसिक वातावरण से है जो कलाकार अथवा लेखक के लिए आवश्यक है। इडिपेडेस एक भौतिक या वाहरी तथ्य है— परिस्थिति का तथ्य है। इस अन्तर को सामने रखते हुए कहा जा सकता है कि लेखक सन् 'चालीस के दशक के अन्तिम दिनो मे नही, सन्' तीस के आस-पास ही स्वाधीन हो गया—वह उस मानसिक वातावरण मे साँस लेने लगा जिस का मै ने उल्लेख किया है। उस काल के साहित्य की तुलना, उदाहरण के लिए, सन् 'बीस के आस-पास की रचनाओं से करे तो वडा स्पष्ट अन्तर दीखता है। मुख्य परिवर्तन तभी हुआ, इस लिए हम कह सकते है कि साहित्य मे 'स्वाधीनता-युग' 'तीस के उत्तर भाग से ही आरम्भ हो गया था।

स्वाधीनता युग के साहित्य की दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक अन्तरराष्ट्रीय हुई है या कि भारतीय परम्परा की ओर झुकी है ?

* स्वाधीनता दिवस की एक वर्षगाँठ को निमित्त बना कर ऑल इडिया रेडियो ने देश और विदेश मे प्रसार के लिए कुछ प्रश्न पूछे थे। उत्तरो के कुछ अश ही भारतीय कार्यक्रमो में प्रसारित हुए। मूल प्रश्नोत्तर अँगरेज़ी मे था।

कहा जा सकता है कि दोनों प्रवृत्तियाँ उभरी हैं। यह विरोधाभास जान पड़ता है, किन्तु वास्तव मे इसमें कोई विरोध नही है। क्यो कि एक ओर परम्परा की अत्यधिक चिन्ता से एक प्रत्यभिमुखता आयी है, और भाषावाद के परिणाम में भी दृष्टि की एक संकीर्णता भारतीय साहित्यों मे लक्षित होने लगी है, दूसरी ओर अन्तरराष्ट्रीय विचारो का प्रभाव निश्चित रूप से बढ़ा है। आज का भारतीय लेखक विदेशी साहित्यों के प्रति अत्यन्त सजग है—केवल अँगरेज़ी साहित्य के नही, सामान्यतया यूरोपीय साहित्यो के प्रति; और भारतीय लेखक अपनी रचनाओं को केवल अपनी परम्परा के सन्दर्भ मे नही, दूसरी साहित्य-परम्पराओं के सन्दर्भ मे रख कर भी देखना चाहता है। परिणामतः आलोचना के स्वभाव में भी परिवर्तन लक्षित होता है।

उपन्यास के क्षेत्र में तो परम्परा का कोई सवाल नहीं था क्यों कि उपन्यास तो एक नयी और आधुनिक विधा है। उस क्षेत्र में स्वाधीनता युग ने क्या दिया है ?

यह एक अतिसरलीकरण है कि अतीत मे हमारे पास उपन्यास था ही नही। बल्कि दावा किया जा सकता है कि उपन्यास मूलत. भारतीय उपज है—कहानी नही, जो कि मुख्यतया अमेरिकी प्रतिभा की देन है और वह भी उन्नीसवी सदी की। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम से नये सम्पर्क के कारण हुआ। इस अर्थ मे हम उपन्यास को नयी विधा भी कह सकते हैं। फिर भी इस के पीछे पूर्व की और विशेषतया भारत की एक लम्बी परम्परा रही। भारत मे उपन्यास के क्षेत्र मे (और कुछ अन्य क्षेत्रो मे भी, उदाहरणतया नाटक में) नयी बात यही हुई है कि इस तथ्य को पहचाना गया है और कुछ ऐसी प्राचीनतर विधाओ या रूपो मे प्रयोग किये गये हैं जो यहाँ भी उपेक्षित रह गयी थी और जिन्हे पश्चिम ने भी नही अपनाया था। ये प्रयोग आधुनिक सन्दर्भ मे किये गये हैं। एक उदाहरण शृंखलाबद्ध कथा का है। यह विधा पूर्व की विशिष्ट देन है और अन्ततः भारतीय है। कथासरित्सागर उस का प्राचीन, शायद सर्वोत्तम, उदाहरण है। हितोपदेश और पंचतन्त्र भी इसी तरह की कहानी से प्रसूत कहानी के उदाहरण हैं। कह सकते हैं कि इस तरह की कहानी की रचना का

आधार यही है कि पूर्व मे और विशेप रूप से भारत मे काल की परि-कल्पना दूसरी रही है। यह भी कह सकते है कि आधुनिक संसार मे काल के उस वोध का निर्वाह नही हो सकता। लेकिन यह विधा और शैली एक विशिष्ट भारतीय कथा-शैली रही और आधुनिक वस्तु को ले कर इस शैली मे प्रयोग हो सकते है और हुए है। भारतीय काल-प्रत्यय के अनुरूप ही भारतीय समाज का गठन भी है और उस के सर्वांग चित्रण के लिए यह पद्धति विशेष उपयोगी हो सकती है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में कविता का क्या स्थान है ? स्वाधीनता के युग में उस में क्या प्रयोग हुए हैं ?

अलग-अलग भारतीय साहित्यो के वारे मे और समूचे भारतीय साहित्य के वारे मे अलग-अलग वाते कही जा सकती है क्यो कि विभिन्न साहित्यो मे परिस्थितियाँ अलग-अलग है। साधारणतया यह कहना सही होगा कि भारतीय साहित्यो मे यह विधा सव से विकसित रही है। स्वाधीनता के युग मे भी ऐसा होना स्वाभाविक है क्यो कि सदा से यही स्थिति रही है।

सन् 'तीस के दशक से प्रयोग भी विशेष रूप से हुए। इन मे से कुछ का आधार अवश्य ही पश्चिम के साहित्य का—केवल अँगरेज़ी नही, यूरोपीय काव्य-साहित्य का—हमारा वढता हुआ ज्ञान था। स्वरों के सगीत की ओर भी इस काल मे विशेष ध्यान गया। इस से पहले के सौ वर्षो मे काव्य का यह पक्ष विशेष उल्लेखनीय नही था। इधर जान पडता है कि एक प्रवृत्ति क्लासिकल की ओर लौटने की भी है—एक प्रकार का नवक्लासिकवाद।

औद्योगिक विकास और नये माध्यमो की दृष्टि से बहुत-सी नयी सम्भावनाएं लेखक के सामने आयी हैं। उन का परिणाम शुभ हुआ है क्या अशुभ? या भारतीय लेखक व्यवसायी होता जा रहा है ?

जो स्थिति है उसे आप अपनी प्रवृत्ति के अनुसार शुभ या अशुभ कोई भी मान सकते है। इतना है कि विकास अभी उस दर्जे तक नही पहुँचा जहाँ भारतीय साहित्य व्यावसायिक हो जाये।

नये माध्यम—सिनेमा, रेडियो, टेलीविज़न—सिद्धान्त रूप में वहुत से नये अवसर प्रस्तुत करते हैं। वास्तव मे उन का प्रभाव उतना नही हुआ है जितना हो सकता। सिनेमा वहुत थोड़े-से लेखकों को अवसर देता है और नये माध्यमो मे सव से अधिक व्यवसायी माध्यम भी वही है। इस व्यावसायिकता के प्रभाव से कई लेखक इस से विमुख भी होते हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं कि अच्छे लेखक पहले सिनेमा की ओर आकृष्ट हुए और फिर अपनी कहानी की जो गति हुई उसे देख कर उदासीन हो गये।

रेडियो और टेलीविज़न का प्रभाव वहुत सीमित इस लिए है कि इन पर सरकार का एकाधिकार है और इस लिए भी कि उन से पारिश्रमिक वहुत ही कम मिलता है। वह इतना नही है कि लेखक को आकृष्ट कर सके। प्रसारण के लिए शर्तनामे मे जो शर्तें होती हैं वे भी ऐसी नही हैं कि लेखक की रुचि उधर हो। इस लिए अभी तक मुख्य प्रभाव पत्र-पत्रिकाओ का ही है और लेखक को सामने आने के जो अवसर मिलते हैं वे भी उन्ही के द्वारा। इस क्षेत्र में आज़ादी के युग में विकास हुआ है। अव पहले की अपेक्षा अधिक लेखकों के लिए यह सम्भव है कि पत्र-पत्रिकाओ से होने वाली आमदनी से गुज़ारा कर लें जो कि पच्चीस वर्ष पहले सम्भव नही था।

तो क्या आप की राय में लेखक को पब्लिक सेक्टर से कम प्रोत्साहन मिला है और प्राइवेट सेक्टर से अधिक ?

प्रोत्साहन की वात छोड़िये। उस मे देने वाले की नीयत या संकल्प का भी प्रश्न उठता है। अगर प्रश्न इतना ही है कि लेखक को कहाँ से कुछ मिलने की सम्भावना अधिक रही है और कहाँ से वह अधिक प्राप्त करता रह सका है, तो मैं समझता हूँ कि यह कहना सही होगा कि यह सम्भावना प्राइवेट सेक्टर से ही अधिक रही है। प्रोत्साहन का मामला यों भी ज़रा नाज़ुक है। मेरी समझ मे तो लेखक के लिए सव से अधिक प्रोत्साहन इसी मे है कि उसे अपने पर छोड़ दिया जाये। सरकार के मामले मे तो यह वात खास तौर से सही है। प्रोत्साहन वड़ी आसानी से हस्तक्षेप वन जा सकता है, खास कर एक कल्पनाविहीन नौकरशाही मे—और नौकरशाही कल्पनाशील होती ही कव है ?

स्वाधीनता युग का मुख्य स्वर आशा और उत्साह का रहा या कि मोहभंग और कटुता का ?

जैसा मैंने कहा, स्वाधीनता का वातावरण सन् 'तीस के दशक मे उपलब्ध हो गया था। उस का एक नतीजा—या यो कह लीजिए कि यह भी एक कारण था कि नतीजा यह हुआ कि स्वाधीनता का युग होश मे आने का युग हुआ। इस होश मे आने को मैं मोहभंग तो नही कहूँगा, लेकिन इतना अवश्य है कि स्वाधीनता की कल्पना मे बहुत-से रोमानी तत्त्व थे जिन से छुटकारा पाना और सँभालना अनिवार्य था। इस के अलावा भी जो वास्तविकता और जो तथ्य हमारे सामने आते रहे है वे ऐसे है कि लेखक को चिन्ता हो। सरकार से लेखक या कलाकार का सम्बन्ध कैसा हो इस का कोई स्पष्ट या अन्तिम उत्तर लेखको ने अभी नही पाया है।

यह भी सच है कि राजनीतिक लोगो मे—उन लोगो मे जिन्हें अखबारो मे साधारणतया 'नेता' कहा जाता है—साहित्य या सास्कृतिक चेतना के गुण का निरन्तर ह्रास हुआ है। आज का राजनीतिक पहले की अपेक्षा कही कम सास्कृतिक व्यक्ति है, वह आज एक पेशेवर राजनीतिक व्यक्ति ही है, और पेशे से बाहर उसे किसी चीज के लिए अवकाश नही है। मैं आशा तो करता हूँ कि भविष्य मे इस स्थिति मे सुधार होगा। लेकिन आज लेखक की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि समाज के जीवन मे जैसा योग वह देना चाहता या चाह सकता उसके मार्ग मे बाधाएँ बहुत है। उस के विशेष स्थान और धर्म का बोध बहुत कम लोगो को है और उस बोध की कमी लेखक वर्ग मे जितनी खलती है उस से कही अधिक पाठक वर्ग मे है। यह कहने का तात्पर्य किसी को दोष देना या जिम्मेदारी का बँटवारा करना नहीं है; दोनो ही दोषी है क्यो कि वे अन्तरावलम्बी है।

असल समस्या यह है कि हमारे पास वैसा जागृत, सतर्क और क्रियाशील बौद्धिक वर्ग नही है जैसे की हम आशा करते। जो है सो घटिया है और लेखक उसका अग है। इस लिए लेखक भी दोषी है; उस ने अपना कर्त्तव्य पूरा नही किया है। यह ज़रूर है कि उस का काम और भी कठिन इस लिए हो गया है कि समाज की स्थिति ऐसी रही है।

अंश-दान'

प्रिय…,

तुम्हारे तीव्र विरोध ने मुझे कुछ उद्विग्न भी किया है और कुछ उत्तेजित भी। पत्र का उत्तर मैं तत्काल ही देना चाहता था, किन्तु अपनी पहली प्रतिक्रिया को मैंने दवा लिया—और यह बुद्धिमानी ही की, क्यो कि यद्यपि उस समय के भावनात्मक विस्फोट से मुझे शान्ति ही मिलती, पर तुम्हारे लिए वह उचित न होता।

तुम ने विरोध की सूचना मुझे दी, इस के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। और यह भी स्वीकार करने मे मुझे संकोच नही है कि एक दृष्टि से तुम्हारी वात ठीक भी है—वलिक इमी वात को मैं प्रशसापूर्वक कहूँगा कि मेरे विचारो के पीछे एक आन्तरिक वेदना भाँप कर तुम ने उस सहज-वोध का फिर परिचय दिया है जो पहले भी मुझे चकित करता रहा है…किन्तु फिर भी तुम्हारा दृष्टिकोण सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।

१ ये दो पत्र क्रमश. मार्च १९४३ और अक्टूवर १९४५ में दो अलग-अलग व्यक्तियो को लिखे गये थे। पहले पत्र का उत्तर पाने के वाद लेखक को यह कौतूहल हुआ था कि क्या युद्ध के वाद भी उस के तत्सम्वन्धी विचार वैसे ही रहेगे, अत उस ने पत्र भी वापस मँगा कर रख लिया था। दूसरे पत्र की प्रतिलिपि उस ने रखी थी।

आज युद्ध के, अथवा उस से मम्वद्ध हिंमा के, अथवा चरित्र पर सैनिक जीवन के प्रभाव के, विपय में लेखक और भी कुछ सोचता है। किन्तु युद्धारम्भ और युद्धान्त के समय के ये पत्र तत्कालीन मनोदशा के अधिक सच्चे चित्र है, और आज के तार्किक अनुधावन की तुलना में अधिक रोचक अथवा उपयोगी हो सक्ते हैं। जो निश्चय जिस ममय किया गया, उस समय उस के पीछे की विचार-परम्परा या प्रेरणा क्या थी, आलोचक यही जानना चाहेगा। यही इन पत्रो को प्रकाशित करने की सगति है। पहले पत्र के कुछ नितान्त निजी अश छोड़ दिये गये हैं।

इस विरोधाभास पर अधीर मत होना। तुम ने जो परामर्श मुझे दिया है, उस का मैंने बुरा नही माना—मैंने अनुभव किया कि मेरे और मेरे भविष्य के प्रति शुभेच्छा ने ही तुम्हे लिखने को प्रेरित किया होगा और इसी लिए मैं अपना या अपने एक अश का स्पष्टीकरण करने का यह प्रयत्न कर रहा हूँ...

हम लोगो ने अभी तक कभी राजनीति पर बहस नहीं की—और मुझे इस बात की खुशी है कि नही की। अब राजनीति से मेरा कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नही है; केवल मेरे मतामत हैं जिन्हे कभी-कभी व्यक्त भी कर लेता हूँ—जब वैसा करने से असकीर्ण विवेचन और बौद्धिक उत्तेजना की आशा हो। ऐसे अवसर अब पहले से भी कम आते है, क्योकि भारत की परिस्थितियाँ ज्यो-ज्यो विकसित होती जाती है त्यो-त्यो हमारी राजनीति अधिक तीव्र रूप से ध्रुवाभिमुख (पोलराइज) होती जा रही है। साधारणतया उस के दो ध्रुव स्पष्ट होते है—एक ओर वे लोग हैं जो इस विश्व-युद्ध मे भाग लेना और उसे निष्पत्ति तक पहुँचाना (जहाँ तक कि यह उन के सामर्थ्य के भीतर है) अपना कर्तव्य समझते है, और दूसरी ओर वे लोग है जो इस मे भाग लेना कर्तव्य नही समझते—बल्कि यह कहना चाहिए कि भाग न लेना ही कर्तव्य समझते है, ताकि उन के मत का आग्रह स्पष्ट हो जाये। नि.सन्देह दोनो दलो के भीतर अनेक उपदल हैं जिन के अलग-अलग दृष्टिकोण और स्वार्थ है, किन्तु इन दो मुख्य दलों के विरोध की इतनी चर्चा होती रही है कि आज-कल के राजनीतिक वाद-विवादो मे एक भीषण एकरसता (अथवा द्विरसता अथवा निरी विरसता) स्पष्ट लक्षित होती है। मैं यह कह कर अपने उच्चतर विवेक की डीग हाँकना नही चाहता, अपने उस तीखे और कटु अनुभव की बात कहता हूँ जो रेलगाडियो और बसो की अनुदिन यात्राओ मे, यात्रियो मे होने वाले विवादो को सुन कर मुझे मिला है। (विवाद मे अपने मत के लिए लड़ जाने की कला मुझे नही आती, इस लिए प्राय: श्रोता मुझे बनना पड़ता है, मेरे श्रवण-धैर्य के लिए मुझे अनेक प्रमाण-पत्र मिल चुके है, जिन की दीवार की आड़ मे मेरी नैसर्गिक भीरुता आसानी से छिप जाती है!)

और मैं उन मे हूँ, जिन का विश्वास है कि यह युद्ध 'योद्धव्य' है—कि उस मे भागी होना हमारा कर्तव्य है। मेरा विश्वास है कि इस युद्ध के परिणाम पर समूचे ससार के सर्वदेशीय हितो का निर्णय आधारित है। इस लिए यह भी मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीय—एकदेशीय—हित इस युद्ध मे

गौण है। यह नही कि उन का महत्त्व नही है, केवल यह कि उन का महत्त्व आत्यन्तिक नही, आपेक्षिक है, उपपन्न है। फलतः मैं भारत की स्वाधीनता को एक स्वायत्त, आत्यन्तिक तत्त्व के रूप मे नहीं देखता। फासिस्ट पक्ष की विजय से भारत स्वतन्त्रता पा सकेगा, यह तर्क तो इतना अनर्गल और वेहूदा है कि इस का उत्तर देना अनावश्यक है; जो तटस्थता अथवा 'निष्पक्षता' को ठीक मार्ग समझते हैं, उन से मैं सहमत नही हो सकता कि निरी अकर्मण्यता फलप्रद हो सकती है—कम से कम कोई वांछनीय मूल्यवान् फल वह कदापि नही दे सकती।

और यह अनुभव कर के, कि युद्ध मे भारत का कुछ कर्त्तव्य है, यह कैसे उचित हो सकता है कि वह कर्त्तव्य मैं दूसरो द्वारा किये जाने के लिए छोड़ दूं, और स्वय हाथ पर हाथ धरे वैठा रहूँ? युद्ध वर्वरता है, और जो युद्ध करते हैं वे या तो पहले ही न्यूनाधिक वर्वर और असस्कृत होते हैं, या युद्ध-कर्म की योग्यता और दक्षता प्राप्त करने के लिए अस्थायी रूप से अपने को उस निम्नतर तल पर लाते है—यह सव सच है, मुझे स्वीकार है। किन्तु अगर यह अप्रीतिकर घोर कर्म करणीय है, और मैं अनिवार्य समझता हूँ कि वह किया जाये, चाहता हूँ कि वह किया जाये, तो तटस्थता अथवा उपेक्षा कैसे उचित है, यह कैसे क्षम्य है कि उसे मैं दूसरो पर छोड़ दूं? इस से तुम चाहो तो यह परिणाम निकाल लो कि मैं इतना संस्कृत-सभ्य नही हुआ हूँ कि निरुद्वेग रह सकूँ; चाहे यह समझ लो कि चरित्र के छिछलेपन के कारण मैं पराधिकार-चार्चिक हो गया हूँ, वडे-वड़े दायित्व अपने ऊपर ले कर व्यर्थ अहंकार का पोपण करना चाहता हूँ, चाहे—कई-एक और भी सम्भावनाएँ है, पर यह स्पष्ट है कि उन के तथ्यातथ्य का निर्णय मैं नही कर सकता।

मुझ से अच्छे लड़ैत हैं। तोडने-फोड़ने, नष्ट-भ्रष्ट करने, मारने-काटने के काम की मुझ से कही अधिक योग्यता रखने वाले अनेक लोग है। निःसन्देह मुझ मे प्रागैतिहासिक पशु-मानव या मानव-पशु की सहज वृत्तियाँ है, और उन वृत्तियों पर आश्रित एक जीवन मेरा भी है, किन्तु साथ ही मुझ मे अपनी जाति, अपने वर्ग, अपनी परिवृति के संस्कार भी है, और फलत· अनेक वर्जनाएँ, संकोच, ऊहापोह और नैतिक भावनाएँ जो कि नर-मुण्ड-संग्रह करने की मेरी योग्यता को परिमित करती हैं। उस प्रकार की विशेष महत्वाकांक्षा भी मुझ मे नहीं है, अपने भीतर फासिस्टों के प्रति हिंस्र घृणा जगाना मैं उतना ही असम्भव पाता हूँ जितना कि किसी पागल

अथवा उन्मादग्रस्त रोगी के प्रति। किन्तु यह सब होते हुए भी मैं अनुभव करता हूँ कि अपनी परिमित योग्यता के अनुरूप मुझे युद्ध मे कुछ न कुछ भाग अवश्य लेना चाहिए। अतएव···

शायद तुम मुझे मूर्ख समझो। यदि ऐसा समझो तो मैं खीझूँगा नही, न तुम्हारी धारणा का खंडन आवश्यक समझूँगा। क्योकि बिलकुल सम्भव है, वह धारणा ठीक हो—स्वयं मुझे कभी-कभी वैसा सन्देह होता है! या शायद तुम मुझे पथ-भ्रान्त समझो और उदारतापूर्वक दया का पात्र ठहराओ। दया का पात्र समझा जाना मुझे चुभेगा, परन्तु उस उदारता का सम्मान कर के मैं अपने क्षोभ को अपने तक ही रखूँगा। या तीसरी सम्भावना—पर मैं आशा करता हूँ कि यह सम्भावना नही है, और तुम मुझे अर्थलोभी नही ठहराओगी। क्योकि इस निर्णय के बाद अनदेखी या क्षमा न तुम्हारी ओर से हो सकती है, न मेरी ओर से। (···)

क्या काम मैं करना चाहता हूँ—सेना के किस अंग मे भागी होना चाहता हूँ, यह तो मैंने अभी तुम्हे बताया नही, क्योकि सब कुछ अभी हवा मे है, कुछ निश्चय नही हुआ है, मैं केवल आशा कर रहा हूँ—इच्छा कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि काम रुचिकर होगा बल्कि ऐसा कि उस मे अपने को निमग्न किया जा सके—और मेरा विश्वास है कि मैं उस के योग्य भी हूँ। (···) तुम्हारी यह धारणा शायद ठीक ही होगी कि मुझे ऐसे लोगो मे रहना पडेगा जिन मे बुद्धि बहुत कम है और जितनी है वह भी कवायद की बेडियो मे जकडी हुई—अधिक से अधिक इने-गिने अपवाद मिल जायेगे। किन्तु फिर भी मुझे बहुत घूमने का और अनेक श्रेणियो और स्तरो के असैनिक लोगो के सम्पर्क मे आने का अवसर मिलेगा, इस लिए शायद मेरी मृत्यु उतनी जल्दी नही होगी जितना तुम डर रही हो—बौद्धिक मृत्यु···

प्रतिभा? हाँ, कुछ थोडी-सी मुझ मे शायद हो भी सकती है। और मैं उस अभागी श्रेणी का 'कलाकार' हूँ जो अपने कर्म को बडा उत्तरदायित्व समझता है—जो मानव-जाति मे और उस की सेवा मे आस्था रखता है—जो इस लिए अन्त मे एक बौद्धिक गूँगेपन की अवस्था को पहुँच जाता है—उस की आत्मा की घिग्घी बँध जाती है·· किन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए निस्तार कही है तो इसी मे कि सब कुछ को—विशेषकर इसी अपनी सन्दिग्ध प्रतिभा को!—खतरे मे डाल दे, और इस मूर्ख

दुःसाहसिक आशा से चिपटा रहे कि कभी न कभी किसी न किसी तरह सब ठीक ही हो जायेगा। क्योंकि अगर वह सब-कुछ को इस प्रकार खतरे मे नही डालता, तो वैसे ही गँवा देता है—निरे आत्म-तिरस्कार और ग्लानि के कारण।

यह सब बुद्धि-संगत जान पड़ता है न ? इतना बुद्धि-संगत कि खीझ पैदा हो—मुझे स्वयं इस युक्तिवाद पर खीझ आती है। क्योंकि मैं बुद्धि-वादी हूँ तो केवल संकल्प-शक्ति के कारण। मैं अस्पष्ट अनुभव करता हूँ कि इस से बड़ा एक जीवन है—जिस के प्रति मैं अपने को सम्पूर्णतया उत्सर्ग नही करता—पागलपन की सीमा पर खडा रहता हूँ, पर सम्पूर्ण पागल होते-होते रह या रुक जाता हूँ···किन्तु वह विशालतर इतना निजी है—आस्था की तरह निजी, जो व्यक्ति के पास रहती है, किन्तु फिर भी जैसे जीवन से अलग, वह जीवन मे हस्तक्षेप नही करती···मैं नहीं कह सकता कि मेरी बात तुम समझ रही हो या नही—कि मैं समझा जाने का पात्र भी हूँ या नही। और इस मामले मे फिर तुम्हारा खयाल ठीक है, और ठीक हो कर भी ग़लत है। क्योंकि नि.सन्देह इस मे एक प्रकार का आत्म-हनन मैं कर रहा हूँ—किन्तु अपने बाहर की किसी वस्तु या घटना के लिए या उस के कारण नही। और अपने जीवन के उस अल्पकालिक अंग के लिए तो कदापि नही जिस की ओर तुम्हारा सकेत है। उस अंग का अपने-आप में कोई महत्त्व नही है—यद्यपि यह ठीक है कि जीवन का प्रत्येक अंग प्रत्येक दूसरे अग पर प्रभाव डालता है। मैं आत्म-हनन कर रहा हूँ अपने लिए, अपने अस्तित्व के एक 'प्रमाण' के लिए जो मुझे उस अस्तित्व से कहीं बड़ा मालूम होता है, किन्तु जिसकी परिभाषा मैं नही कर सकता। यह आशा मुझे नहीं है कि जिन लोगो के, या जीवन की जिस प्रवृत्ति के आगे मैं अपने को प्रमाणित करना चाहता हूँ वह जानेगा भी, कल्पना भी करेगा, कि यह उद्योग भी मैंने किया, इस लिए स्पष्ट है कि उद्योग करना मूर्खता है, तथापि स्थिति यही है···यह सती होने की तरह ही है—एक आत्म-बलिदान जो कि परम निष्फल है किन्तु फिर भी इतना महत्त्वपूर्ण कि कई स्त्रियो ने अपने को शोक—या प्रेम के भी—रहते बिना भी आग मे झोंक दिया होगा।

प्रतिभा और बुद्धि की तो यो पत्ती काट दी ! तुम अनुमान कर सकती हो कि मेरी बुद्धि कितनी उलझी और भ्रान्त हो गयी है—मानो किसी ने अपने-आप मे गाँठ बाँध ली हो और फिर सिरे खीच कर खोलना चाह रहा

हो—हाथों से पैर पकड कर खीच रहा हो। प्रतिभा है भी क्या बला ? मैंने कई एक प्रकार के कामो मे हाथ लगाया है, सभी मे न्यूनाधिक दक्षता दिखायी है—रेखाकन, चित्रकारी, मूर्ति-शिल्प, कविता और गद्य-लेखन, बढईगिरी, चर्म-शिल्प, सिलाई बागवानी, पत्रकारिता, भौतिक विज्ञान, रसायन, धर्म-तत्त्व-विवेचन, कोश-निर्माण, घुडसवारी, पर्वता-रोहण, फोटोग्राफी, गृह-सज्जा, बुनाई—और रेलवे स्टेशन पर बैठ कर लम्बे और उबाने वाले पत्रो का लेखन! सभी काम मैंने किये हैं—और कुछ नही किया। अभिव्यजना कौन-सा माध्यम चुनती है, इस का महत्त्व कम है। अगर मैं गन्दी गालियाँ बकने का भी अभ्यास करने लगता, तो शायद 'हमारी भाषा के सर्वश्रेष्ठ दस या बीस गालीकारो मे से अन्यतम' होने का श्रेय किसी न किसी से पा ही लेता—जैसा कि लेखक होने के नाते पा सका हूँ—किन्तु इस से सिद्ध क्या होता? किसी के लिए इस का कोई आत्यन्तिक महत्त्व न होता—मेरे लिए भी नही। एक दिन ऐसा अवश्य आता जब मैं अपने-आप से कह उठता, 'कमीने, दम्भी, तू केवल सफलता से व्यभिचार करता रहा है, जीवन का सामना तू ने नही किया, अगर तुझ मे प्रतिभा है तो उसे आच दे कर परख होने दे!' और वह दिन कयामत का दिन होता—क्योकि अगर इस चुनौती के बाद मैं परीक्षा न देता तो अपनी आँखों मे गिर जाता; और देता तो शायद पाता कि मेरी प्रतिभा परीक्षा मे उत्तीर्ण होने लायक नही थी। किन्तु जैसा कि शायद ऊपर कह भी आया हूँ, (मुझे आगे लिखने की उतावली है, पीछे देखने का समय कहाँ ?)—मैं उन में से हूँ जो समझते है कि अगर प्रतिभा चोट खा कर बच सकने वाली नही है तो शायद उसका मर जाना ही श्रेयस्कर है—ससार को कोई हानि नहीं पहुंचेगी। भैंस के पख निकल आयें तो वह उन का गर्व कर सकती है—किन्तु तभी तक जब तक कि वह उडने का उद्योग नही करती। उस के पख कट जावें तो पक्षियो की गिनती मे कमी नही हो जायेगी! मैं जानता हूँ कि यदि मुझ मे बहुत बड़ी प्रतिभा होती—वास्तविक महान् प्रतिभा, मनीषा, जीनियस—तो मुझे अपनी परख करने की इतनी चिन्ता भी न होती। ईसा के जीवन का एक श्रेष्ठ क्षण वह था जब उस ने कहा था—'**अपने स्रष्टा ईश्वर की तू परख नहीं करेगा।**' यह अडिग आस्था महान् प्रतिभा की आस्था है—मुझ मे वह अडिग आस्था नही है, क्योकि वह महान् प्रतिभा नही है।

मुझे क्षमा करो, यह पत्र लगभग स्वगत भाषण हुआ जा रहा है

क्षमा तुम्हें करना होगा—क्योंकि बहुत दिनो पीछे मैंने ऐसी बेसिर-पैर की ईमानदार बातें की है। दोष मेरा है तो यही कि मैं और भी बहुत कुछ कह सकता था—पर तुम जानती हो कि जो कहा जा सकता है वह सब लिखा नही जा सकता—विशेषकर रेल के प्लेटफॉर्म पर, जहाँ बैठ कर मैंने यह सब लिखा है। आज-कल यह गाडी प्रायः लेट हुआ करती है—आज चार घटे लेट थी और अभी उस के आने मे बीस मिनट बाकी हैं।

बाद मे।

मैं अपने कमरे मे वापस पहुँच गया हूँ—काश कि मैं 'घर' कह सकता; पर घर नही है, केवल एक कमरा है, यद्यपि परिचित के कारण वह मुझे केवल झेल लेने की बजाय रूखा-सा स्वागत करता जान पडता है। मैं अतिश्रम से और बहुत देर तक लगातार बहुत तीखा, बहुत गहरा, बहुत-सा चिन्तन करने से बिलकुल क्लान्त हूँ; किन्तु मैंने पहुँचते ही तुम्हारा पत्र खोज निकाला है, यह देखने के लिए कि मैंने उस का उत्तर दिया है या भूसी में तीर मारता रहा हूँ। और मै देखता हूँ कि मैं विषय से बहुत भटका नही, यद्यपि अब देखता हूँ कि तुम्हारा एक प्रश्न है—'क्या कुछ भी ऐसा हो सकता है जिस के लिए आत्महत्या श्रेय हो ?' इस प्रश्न के दो अर्थ हो सकते है। यदि तुम्हारा प्रश्न यह है कि 'क्या किसी भी चीज़ के लिए आत्मोत्सर्ग करना उचित है ?' तो मेरा उत्तर स्पष्ट है—'हाँ, ऐसी अनेक चीजे है—और बड़ी छोटी-छोटी चीजें भी।' एक बार मैं एक तैराक के हाथो की गति देख कर इतना मुग्ध हुआ था कि बिना तैरना जाने झील मे कूद पडा था। मुझे बेहोश बाहर निकाला गया और होश मे लाने के बाद मेरा मजाक बनाया गया, किन्तु मैं अपनी करनी पर कभी लज्जित नही हुआ—उस निरायास लय-युक्त गति की अनुभूति निश्चय ही उन वस्तुओ मे से थी जिन के लिए प्राण निछावर किये जा सकते है। और अनेक अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ भी है। बल्कि मुझे तो लगता है कि जीवन जीने लायक ही तब तक नही होता जब तक कि वह मरने लायक बहुत-सी चीजे प्राप्त न कर ले। किन्तु अगर तुम्हारे प्रश्न का यह अभिप्राय नही था, दूसरा ही अभिप्राय था—कि क्या आत्म-हनन क्षम्य है, तो उसका उत्तर मैं ऊपर दे आया हूँ...

मैने शायद वहुत अनर्गल प्रलाप किया है, किन्तु इसे दोवारा पढ कर देखूंगा नही—क्योकि जो दोवारा पढा जाता है वह फिर भेजा नही जाता—प्रलाप करने की भी एक अवधि होती है।

मेरे मानस-पट पर कविता के उडते हुए वादल आ रहे है—न जाने क्यो। नि.सन्देह जिसे लारेंस और टेनीसन एक साथ याद आवे उस का दिमाग खराव समझना चाहिए।

"मेरे चरणों के नीचे की श्यामल घास
मानो मेरे भीतर झूमती है—
जैसे झरने में काही,
और कितना अच्छा है अपना-आप न हो कर
ये इतर वस्तुएँ होना—
क्योकि मै अपने-आप से ऊवा हुआ हूँ..."

"सन्ध्या वेला और घंटा-ध्वनि
और उस के वाद अन्धकार।
उस समय विदाओं का विषाद न हो
जब मै अपनी नौका खोलूँ।..."

(दो दिन वाद)

यह सोच कर कि यह पत्र न भेजना ही ठीक है—मैंने इसे दोवारा पढ डाला है—और अव उस मे कुछ और वातें जोड़ना आवश्यक जान पडता है—नही तो तुम्हारे पत्र का उत्तर पूरा नही होता।

पिछले साल जब मैंने पूछा था कि मैं सेना मे लिया जाऊँगा कि नही, तव मुझे किसी ऐसे सकटपूर्ण काम की जरूरत थी जिस से मै अपने-आप से वाहर निकल सकूं। संकटपूर्ण काम और भी हो सकते है, नि.सन्देह, किन्तु यह एक था जिस मे राजनीतिक ईमानदारी भी मिलती थी—क्योकि मैं फासिस्ट-विरोधी युद्ध का समर्थक था। किन्तु उस समय काम नही बना। केवल अभी जनवरी मे यह सम्भावना मेरे सामने आयी जिस की अभी वात हो रही है। यह काम युद्ध-मुख का नही है, इस लिए सकटपूर्ण भी नही है—इस हद तक तो मुझे निराशा हुई है। किन्तु भीतरी माँग के अनुकूल न हो कर भी शायद यह वाह्य परिस्थितियो की—मेरी

योग्यता की—दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। किन्तु कम से कम यह मेरी परिचित परिवृति मे तो अलग है—एक नयी परिवृति और वह भी निरन्तर परिवर्तनशील। जब खुजली खुजलाने से नही मिटती तो हम उस स्थल को थप्पड मारते हैं, थप्पड की पीडा खुजली को दवा देती है। यह वात तर्क-संगत नही तो मनोविज्ञान-सगत अवश्य है।

दूसरे तुम पूछती हो, 'तुम भी वही क्यो करो जो कि सैंकडो मूर्खों ने किया है?' किन्तु क्या सचमुच उन्होने यह किया है? मुझे तो जान पडता है कि हमारे देश के दुःखो का एक कारण यह है कि हमारे पास मूर्खों की कमी है, और समझदार हिसावी वुद्धि के लोगो का वाहुल्य, जो कि पद का वेतन देखते हैं, काम नही। अगर तुम सहमत नही हो, तो क्या एक भी भारतीय लेखक-मूर्ख का नाम वता सकती हो जिस ने युद्ध-सम्वन्धी या दूसरा ऐसा सकटपूर्ण काम लिया हो जो उसे परिचित क्षेत्रो से वाहर ले जाये? यह तर्क मैं नही सुनूंगा कि उन की उदार सूक्ष्मानुभूति उन्हे युद्ध की वर्वरता की अनुमति नही देती—क्योकि मैं ऐसे भी लेखक जानता हूँ, जिन की वर्वरता ही उन्हे किसी आदर्श के लिए मरने की उदार सूक्ष्म भावना के योग्य नही छोड़ती। (यद्यपि तुम्हारा इस पर आग्रह हो तो यही सही कि आदर्श भ्रान्त है।) भारतीय लेखक और विशेष कर हिन्दी लेखक से मुझे सख्त शिकायत है। भ्रमण से उसे घृणा है; भारत से वाहर तो कोई गया ही नही (साधन भी नही है, माना) और भारत को भी अच्छी तरह जानना वह आवश्यक नही समझता। अपने अनुभूति-सामर्थ्य को उत्तेजित करने के दूसरे भी साधन है—मसलन् (सकटपूर्ण परिस्थितियो मे से गुज़रना—किन्तु ये उस की उदार, भावुक, सौन्दर्योपासक सूक्ष्मवोधी आत्मा को अग्राह्य है···मुझे अवमान्य लगता है वह—यद्यपि अपने भाई की अवमानना करना महा-पातक है···

ये सव चिडचिड़ी वातें मेरा जीवन-दर्शन नही हो सकती—सव की सव दर्शन हैं भी नही। किन्तु उस के लिए वट्टा काट कर भी तुम्हे मानना पड़ेगा कि हमारे साहित्य का एक खतरा यह है कि उसे कोई खतरा नही है—वह अत्यन्त सुरक्षित है—वन्द कमरे मे कृत्रिम रूप से पनपाये गये पौवे की तरह। न महाकाय देवदास, न सहनशील धीर सेहुड ही—और न कोई मनचले हठीले वनफूल···केवल लजवन्ती से भरा कादो का प्रसार—नम, लचकीली घनी हरियावल जो निरन्तर मुरझाती रहती है,

मुरझाती जाती है अपनी ही विभिन्न शाखाओ के स्पर्श से !

यह नही कि मै दलदल पार कर आया हूँ। किन्तु मैं यह याद रखना चाहता हूँ कि अभी पार करना बाकी है, और इसे याद रख कर वह उद्योग करना चाहता हूँ। और उस के लिए इस छुई-मुई साहित्यकारत्व को खतरे मे डालने को बिलकुल तैयार हूँ—एक छुई-मुई के घटने-बढने से कोई बडा अन्तर नही पड़ता, यह देखने की ईमानदारी मुझ मे है। (···)

[२]

प्रिय···,

आप का पत्र मिला। उसे पढ कर पहले प्रतिक्रिया हुई थी कि तत्काल उत्तर दे दूँ, किन्तु लिखने बैठा तो सोचने लगा कि उत्तर नया क्या हो सकता है ? मुझे याद है कि सेना मे भरती होने के बाद जब-तब आप से जो बहस हुई, उस मे आप की बातो का उत्तर कई बार दिया गया। तब आप का कहना था कि व्यर्थ सकट मे क्यो पडते हो, अब आप की दलील है कि युद्ध तो अब समाप्त हो गया, अब सेना मे रहने मे क्या बुराई है ? अच्छा वेतन मिलता है, शान है, सब सुविधाएँ है, और क्या चाहिए ? लिखना-पढना चाहो तो भी कोई बाधा नही है।

दलीले दोनो ठीक है। प्रश्न यह है, कि क्या मैं सेना की उपजीविका मान सकता हूँ, या मानूँ ? और इस के उत्तर मे मुझे कभी सन्देह नही हुआ। वह स्पष्ट है . कि नही, कदापि नही। एक 'प्रोफेशन' ही के रूप मे उसे लेता, तो अवश्य सोचता कि यह प्रोफेशन जोखिम का है या आराम का, उस मे स्थायित्व कितना है, तरक्की कितनी, आदि। युद्ध को मैं बुरा मानता हूँ, तो युद्धोपजीवी होना बुरा हुआ ही, सेना मे भरती होने का कारण एकमात्र यही हो सकता है कि अगर मैं उचित और अनिवार्य समझता हूँ कि एक काम हो—और मैं चाहता था कि फासिस्ट-सकट से भारत का बचाव हो—तो उस काम को करने के लिए इस लिए तैयार न होता कि वह घटिया काम है, एक धोखा है और बड़ा पाप है। युद्धकाल मे भारत की रक्षा के लिए सारे उद्योग करना अनिवार्य था, युद्ध समाप्त होने पर वर्दी पहने रहना अनिवार्य नही है। 'शान्ति-कालीन सैनिक' कहलाना मैं कलंक मानता हूँ।

यह एक पक्ष है। इतना मैं भरती होने से पहले भी सोच सकता था। सेना के अनुभव से इस से आगे भी कुछ सीखा है। आप को मालूम है कि मैं आतंकवादियो के साथ रहा हूँ, इस लिए स्पष्ट है कि मेरे विचार 'अहिंसावादी' तो नही रहे होंगे—यहाँ मैं अहिंसा का प्रचलित अर्थ ले रहा हूं, क्योकि मैं अपने को कट्टर अहिंसावादी मानता रहा हूँ। कोरी सैद्धान्तिक बहस मे नही पडना चाहता। पर सेना के अनुभव ने युद्ध के बारे में मेरा दृष्टिकोण बदल दिया है। कह नही सकता कि यह केवल अस्थायी मानसिक प्रभाव है या कि अनुभव-जात बौद्धिक निष्कर्ष, किन्तु आज तो मानता हूँ कि युद्ध प्रत्येक देश, काल और परिस्थिति मे त्याज्य है। मानता हूं कि आगामी युद्ध मे—प्रत्येक युद्धान्त आगामी युद्ध के बीज बो देता है, उसे शान्ति समझना प्रवंचना है!—मै शान्तिवादी हूँगा। फिर चाहे किसी देश का प्रश्न क्यो न हो, और चाहे भारत मे गृह-युद्ध ही क्यो न होता हो। मेरा यह मत गान्धीजी की अहिंसा से भिन्न है, यह अवश्य कहूँगा। अब भी मैं लड सकता हूँ, और मार सकता हूँ। मैं समझता हूँ कि एक सामाजिक धर्म की साधना मे व्यक्तिगत रूप से किया गया वध शायद सम्य हो सकता है। किन्तु युद्ध एक तो सामाजिक धर्म नही होता, दूसरे उसे वैसा मान भी लिया जाये तो उस का आनुषंगिक वध-काण्ड व्यक्तिगत नही होता—उस के साथ एक व्यक्ति का घोर अकेलापन और उस अकेलेपन मे घोर मानसिक यन्त्रणा के उपरान्त किया हुआ अप्रीतिकर अनासक्त निर्णय गुंथा हुआ नही होता—वह अकेली यन्त्रणा जो एक अलगाव देती है जिस मे व्यक्ति मनःपूत होता है·· युद्ध सामूहिक वध है—समूहो द्वारा समूहो की हत्या।

और वह और कुछ हो भी नही सकता। युद्ध मे हम अपने अस्त्र नही चुनते—किन अस्त्रों, साधनो, परिपाटियो का उपयोग होगा, इस का निर्णय शत्रु के द्वारा होता है, क्योकि उस के अस्त्रो, साधनो, परिपाटियो का सामना करना होता है और उन की काट करनी होती है। और इस प्रकार युद्ध का स्वभाव निरन्तर बदलता गया है, प्राचीन शास्त्र-सम्मत एक-युद्ध का स्थान आज के अन्धाधुन्ध जीव-संहार ने ले लिया है। आज किन्ही दो प्रतिपक्षी दलो के बीच कोई ऐसी मान्यताएँ नही बची जिन का वे निष्ठा-पूर्वक निर्वाह करें। जो दो-एक अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाएँ बची है वे भी कानूनी है, नैतिक नही, और उन का आधार तात्कालिक परिस्थितियाँ है, मानव-कल्याण नही। आज युद्ध पतित करता है, सर्वतोमुखी युद्ध (टोटल

वार) सर्वतोमुखी पतन करता है।

युद्ध के समर्थकों ने सदा डारविन के 'समर्थ के अतिजीवन' **सर्वाइवल ऑफ़ द फिटेस्ट**) के सिद्धान्त को अपना सश्रय बनाया है। वह सिद्धान्त मिथ्या नही है। किन्तु उस का प्रभाव और उस की प्रासंगिकता विवेच्य है। सम्भव है कि समष्टि की दृष्टि से युद्ध समर्थों के अतिजीवन का ही साधन बनता हो, और जो राष्ट्र या जाति बचे वही सब से समर्थ और विकास की दृष्टि से स्थायी हो। किन्तु व्यक्ति ? क्या व्यक्तियों के बारे में यह प्रमाण है ? क्या यह प्रसम्भावनीय भी है ? युद्ध के द्वारा व्यक्ति के गुण भी और दोष भी उभर आते है, उस की अच्छाई और बुराई दोनों बलवती हो उठती है, युद्ध जीवन के तनाव को बढा कर उस मे गति लाता है। इतनी ही बात होती. तो युद्ध से शिकायत न होती, क्योंकि जो हमारे जीवन मे गति लावे उस का महत्त्व है। किन्तु उस से आगे भी विचार होना चाहिए। अच्छाई उभर कर आत्मत्याग की प्रेरणा देती है, जिस का पुरस्कार है मृत्यु, बुराई उभर कर आत्म-रक्षा की वृत्ति को भड़काती है जो कायरता और स्वार्थपरता की मां है। फलत. युद्ध-क्षेत्र को जाने वालों की अपेक्षा युद्ध से लौटने वाले व्यक्ति कुल मिला कर श्रेष्ठतर नही होते; यद्यपि कटु यथार्थताओं का नंगा दर्शन कुछ को चारित्रिक गहराई अवश्य प्रदान करता होगा। निष्कर्ष यह निकला कि युद्धोत्तर बच रहने वाले लोग व्यक्तिगत रूप मे अधिक योग्य या समर्थ नहीं होते। यहाँ यह दलील दी जा सकती है कि सामष्टिक या सामाजिक रूप से वे अधिक समर्थ होते है और व्यक्ति-इकाइयों का महत्त्व नही है, कि खडों का पूर्ण योग सर्वदा सम्पूर्ण के बराबर नहीं होता, सम्पूर्ण उस से कहीं अधिक भी हो सकता है। मैं कहूँ कि समष्टि या समाज मे ऐसी रहस्यवादी आस्था मेरी नही है। वैसी रहस्यवादी आस्था होती हो तो व्यक्ति मे ही होनी उचित जान पडती; मेरी बुद्धि कहती है कि सम्पूर्ण के शिव होने के लिए खडों को शिव होना ही चाहिए और उस के बिना सम्पूर्ण कल्याणकर हो ही नही सकता।

युद्ध की बुराई अन्तत सेना की बुराई है, क्योंकि एक दूसरे का आलम्ब है। किन्तु इतना ही कह कर रुक जाना अन्याय होगा। मुझे दैनिक जीवन से जो अनुभव मिला, उस का अपना ही महत्त्व है, किन्तु और भी अप्रत्यक्ष और अप्रत्याशित अनेक लाभ हुए है। मानसिक सन्तुलन बढा है, अत्यधिक अन्तर्मुखता से मुक्त हो कर मैं लोगों मे रहना सीख

सका हूँ, अपनी मर्यादाओ के अधिक स्पष्ट ज्ञान के साथ अपनी शक्तियों पर विश्वास वढा है और मैं अधिक आत्मावलम्बी हुआ हूं, आचारिक संकीर्णताओ से ऊपर उठ सका हूँ; अन्य देशो के लोगो के गुणो को खुले मन से पहचान सका हूँ, विशेषकर अँगरेज के अनेक गुणों को जिन्हे न देखना राष्ट्र-प्रेम का अग माना जाता रहा है; कार्य मे व्यवस्था और समय-निर्वाह का महत्त्व समझा हूँ। और—शायद इन सब से बढ कर यही लाभ मुझे हुआ है!—जान सका हूँ कि मानव दुर्वल है, पर घृण्य नही; और उस के प्रति दृष्टिकोण की उदारता ही साहित्यकार की मनीषिता की कसौटी है, उदार दृष्टि ही द्रष्टा की दृष्टि है।

न जाने ये सब बातें आप को अपने पत्र का उत्तर जान पड़ेगी या नही। मैंने तो निश्चय कर लिया कि युद्ध समाप्त होने के वाद मेरा स्थान सेना मे नही है, और जैसे भी हो, उसे छोड़ूंगा ही। सचय और व्यय, यह अनुक्रम ठीक है, चाहे पैसे का प्रसंग हो, चाहे अनुभव का। और मैं सोचता हूँ कि इन तीन वर्षो में जितना 'कच्चा माल' आया है, उस से सम्पूर्ण सस्कृत, 'फ़िनिश्ड' कुछ निर्मित करने का समय आ गया है, नही तो एक ओर माल विगड़ने लगेगा और दूसरी ओर मशीनें मोर्चा खा जावेगी। इस लिए—लेखन की जय! अनिश्चित उपजीविका की जय! वेभरोस जीवन की जय!

आप से विनय इतनी है कि इसे मेरी धृष्टता न माने—यह मेरे जीवन का तर्क है—जिस ढाँचे मे ढला हूँ उस का न्याय है। और मैं से मतलब निरा मैं नही, मानव है। वह अब भी अनिश्चित को वर सकता है, यह उस के भविष्य के प्रति आस्था का कारण है।

'अज्ञेय' : अपनी निगाह में

कृतिकार की निगाह नही होती, यह तो नही कहूँगा। पर यह असन्दिग्ध है कि वह निगाह एक नही होती। एक निगाह से देखना कलाकार की निगाह से देखना नही है। स्थिर, परिवर्तनहीन दृष्टि सिद्धान्तवादी की हो सकती है, सुधारक-प्रचारक की हो सकती है और—भारतीय विश्व-विद्यालयो के सन्दर्भ मे—अध्यापक की भी हो मकती है, पर वैसी दृष्टि रचनाशील प्रतिभा की दृष्टि नही है।

अज्ञेय : अपनी निगाह में—इस शीर्षक के नीचे यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है उसे इस लिए ज्यो का त्यो स्वीकार नही किया जा सकता। वह स्थिर उत्तर नही है। यह भी हो सकता है कि इस के छपते-छपते उस से भिन्न कुछ कहना उचित और सही जान पडने लगे। चालू मुहावरे मे कहा जाय कि यह केवल आज का, इस समय का कोटेशन है। कल को अगर भाव वदल जाय तो यह न समझना होगा कि अपनी वात का खडन किया जा रहा है, केवल यही समझना होगा कि वह कल का कोटेशन है जो कि आज से भिन्न है।

फिर यह भी है कि कलाकार की निगाह अपने पर टिकती भी नही। क्यो टिके ? दुनिया मे इतना कुछ देखने को पड़ा है : 'क्षण-क्षण **परिवर्त्तित प्रकृतिवेश'** जिसे उसने **'आँख भर देखा।'** इसे देखने से उस को इतना अवकाश कहाँ कि वह निगाह अपनी ओर मोडे। वह तो जितना कुछ देखता है उस से भी आगे वढने की विवशता मे देता है **'मन को दिलासा, पुनः आऊँगा—भले ही वरस दिन। अनगिन युगों के बाद!'**

कलाकार की निगाह, अगर वह निगाह है और कलाकार की है तो, सर्वदा सव-कुछ की ओर लगी रहती है। अपने पर टिकने का अवकाश उसे नही रहता। नि सन्देह ऐसे वहुत-से कलाकार पडे है, जिन्होने अपने

को देखा है, अपने वारे मे लिखा है। अपने वारे में लिखना तो आज-कल का एक रोग है। वल्कि यह रोग इतना व्यापक है कि जिसे यह नही है वही मानों वेचैन हो उठता है कि कही मैं अस्वस्थ तो नही हूँ ? लेखको मे कई ऐसे भी हैं जिन्होने केवल अपने वारे मे लिखा है—जिन्होने अपने सिवा कुछ देखा ही नही है। लेकिन सरसरी तौर पर अपने वारे मे लिखा हुआ सव-कुछ एक ही मानदंड से नही नापा जा सकता, उस मे कई कोटियाँ है। क्योकि देखने वाली निगाह भी कई कोटियो की है। आत्म-चर्चा करने वाले कुछ लोग तो ऐसे है कि जिन की निगाह कलाकार की नहीं, व्यवसायी की निगाह है। यो आज-कल सभी कलाकार न्यूनाधिक मात्रा मे व्यवसायी है, आत्म-चर्चा आत्म-पोपण का साधन है इस लिए आत्म-रक्षा का एक रूप है। कुछ ऐसे भी होंगे जो कलाकार तो है लेकिन वास्तव मे आत्म-मुग्ध हैं—**नार्सिसस**-गोत्रीय कलाकार ! लेकिन अपने वारे में लिखने वालो मे एक वर्ग ऐसो का भी है जो कि वास्तव मे अपने वारे मे नहीं लिखते हैं—अपने को माध्यम वना कर ससार के वारे मे लिखते हैं। इस कोटि के कलाकार की जागरूकता का ही एक पक्ष यह है कि वह निरन्तर अपने देखने को ही देखता चलता है, अनवरत अपने सवेदन के खरेपन की कसौटी करता चलता है। जिस भाव-यन्त्र के सहारे वह दुनिया पर और दुनिया उस पर घटित होती रहती है उस यन्त्र की ग्रहणशीलता का वह वरावर परीक्षण करता रहता है। भाव-यन्त्र का ऐसा परीक्षण एक सीमा तक किसी भी युग मे आवश्यक रहा होगा, लेकिन आज के युग मे वह एक अनिवार्य कर्तव्य हो गया है।

तो अपनी निगाह मे अज्ञेय। यानी आज का अज्ञेय ही। लिखने के समय की निगाह मे वह लिखता हुआ अज्ञेय। वस इतना ही और उतने समय का ही।

अज्ञेय वड़ा सकोची और समाजभीरु है। इस के दो पक्ष है। समाज-भीरु तो इतना है कि कभी-कभी दुकान मे कुछ चीज़े खरीदने के लिए घुस कर भी उलटे-पाँव लौट आता है क्योकि खरीदारी के लिए दुकान-दार से वाते करनी पड़ेगी। लेकिन एक दूसरा पक्ष भी है जिस के मूल मे निजीपन की तीव्र भावना है, वह जिसे अँगरेज़ी मे **सेंस ऑफ़ प्राइवेसी** कहते है। किन चीजो को अपने तक, या अपनो तक ही सीमित रखना चाहिए, इस के वारे मे अज्ञेय की वड़ी स्पष्ट और दृढ़ धारणाएँ है।

और इन मे से वहुत-सी लोगो की साधारण मान्यताओ से भिन्न है । यह भेद एक हद तक तो अँगरेजी साहित्य के परिचय की राह से समझा जा सकता है उस साहित्य मे इसे चारित्रिक गुण माना गया है । मनोवेगो को अधिक मुखर न होने दिया जाये, निजी अनुभूतियो के निजीपन को अक्षुण्ण रखा जाये · **'प्राइवेट फ़ेसेज़ इन पब्लिक प्लेसेज़'** । लेकिन इस निरोध अथवा सयमन के अलावा भी कुछ वाते है। एक सीमा है जिस के आगे अज्ञेय अस्पृश्य रहना ही पसन्द करता है । जैसे कि एक सीमा से आगे वह दूसरो के जीवन मे प्रवेश या हस्तक्षेप नही करता है। इस तरह का अधिकार वह वहुत थोडे लोगो से चाहता है और वहुत थोडे लोगो को देता है । जिन्हे देता है उन्हे अवाध रूप से देता है, जिन से चाहता है उन से उतने ही निर्वाध भाव से चाहता है। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, ऐसे लोगो की परिधि वहुत कडी है ।

इस से गलतफहमी जरूर होती है। वहुत-से लोग वहुत नाराज़ भी हो जाते है । कुछ को इस मे मनहूसियत की झलक मिलती है, कुछ अहमन्यता पाते है, कुछ आभिजात्य का दर्प, कुछ और कुछ । कुछ की समझ मे यह निरा आडम्वर है और भीतर के शून्य को छिपाता है जैसे प्याज का छिलका पर छिलका । मैं साक्षी हूँ कि अज्ञेय को इन सव प्रतिक्रियाओ से अत्यन्त क्लेश होता है । लेकिन एक तो वह क्लेश भी निजी है । दूसरे इस के लिए वह अपना स्वभाव वदलने का यत्न नही करता, न करना चाहता है । सभी को कुछ-कुछ और कुछ को सव-कुछ —वह मानता है कि उस के लिए आत्म-दान की परिपाटी यही हो सकती है । सिद्धान्तत वह स्वीकार करेगा कि 'सभी को सव-कुछ' का आदर्श इस ग अधिक ऊँचा है । पर वह आदर्श सन्यासी का ही हो सकता है । या कम-से-कम निजी जीवन मे कलाकार का तो नही हो सकता । वहुत-से कलाकार उस से भी छोटा दायरा बना लेते है जितना कि अज्ञेय का है और कोई-कोई तो 'कुछ को कुछ, वाकी अपने को सव-कुछ' के ही आदर्श पर चलते है। ऐसा कोई न वचे जिसे उस ने अपना कुछ नही दिया हो, इस के लिए अज्ञेय बरावर यत्नशील है । लेकिन सभी के लिए वह सब-कुछ दे रहा है, ऐसा दावा वह नही करता और इस दम्भ से अपने को वचाये रखना चाहता है ।

अज्ञेय का जन्म खँडहरो मे शिविर मे हुआ था । उसका वचपन भी वनो और पर्वतो मे विखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वावशेषो के मध्य मे

बीता। इन्ही के बीच उस ने प्रारम्भिक शिक्षा पायी। वह भी पहले संस्कृत मे, फिर फ़ारसी और फिर अँगरेज़ी मे। और इस अवधि मे वह सर्वदा अपने पुरातत्त्वज्ञ पिता के साथ, और बीच-बीच मे बाकी परिवार से—माता और भाइयों से—अलग, रहता रहा। खुदाई मे लगे हुए पुरातत्त्वान्वेषी पिता के साथ रहने का मतलब था अधिकतर अकेला ही रहना। और अज्ञेय बहुत बचपन से एकान्त का अभ्यासी है। और बहुत कम चीज़ों से उस को इतनी अकुलाहट होती है जितनी लगातार लम्बी अवधि तक इस मे व्याघात पड़ने से। जेल मे अपने सहकर्मियो के दिन-रात के अनिवार्य साहचर्य से त्रस्त हो कर उसने स्वय काल-कोठरी की माँग की थी और महीनो उस मे रहता रहा। एकान्तजीवी होने के कारण देश और काल के आयाम का उस का बोध कुछ अलग ढग का है। उस के लिए सचमुच 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'। वह घंटों निश्चल बैठा रहता है, इतना निश्चल की चिडियाँ उस के कन्धो पर बैठ जायें या कि गिलहरियाँ उस की टाँगो पर से फाँदती हुई चली जायें। पशु-पक्षी और बच्चे उस मे बडी जल्दी हिल जाते है। बड़ो को अज्ञेय के निकट आना भले ही कठिन जान पडे, बच्चो का विश्वास और सौहार्द उसे तुरत मिलता है। पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेन्दुए के बच्चे तक पाले हैं, पक्षी बुलबुल से मोर-चकोर तक, बन्दी इन मे से दो-चार दिन से अधिक किसी को नही रखा। उस की निश्चलता ही उन्हें आश्वस्त कर देती है। लेकिन गति का उस के लिए दुर्दान्त आकर्षण है। निरी अन्ध गति का नहीं, जैसे तेज़ मोटर या हवाई जहाज़ की, यद्यपि मोटर वह काफी तेज़ रफ्तार से चला लेता है। (पहले शौक था, अब केवल आवश्यकता पडने पर चला लेने की कुशलता है, शौक नही है।) आकर्षण है एक तरह की ऐसी लय-युक्त गति का—जैसे घुडदौड़ के घोड़े की गति, हिरन की फलाँग, या अच्छे तैराक का अंग-सचालन, या शिकारी पक्षी के झपट्टे की या सागर की लहरो की गति। उस के लेखन मे, विशेष रूप से कविता मे, यह आकर्षण मुखर है। पर जीवन मे भी उतना ही प्रभावशाली है। एक बार बचपन मे अपने भाइयो को तैरते हुए देख कर वह उन के अंग-सचालन से इतना मुग्ध हो उठा कि तैरना न जानते हुए भी पानी में कूद पड़ा और डूबते-डूबते बचा—यानी मूर्च्छितावस्था मे निकाला गया। लय-युक्त गति के साथ-साथ, उगने या बढ़ने वाली हर चीज़ में, उस के विकास की बारीक-से-बारीक क्रिया

मे, अज्ञेय को वेहद दिलचस्पी है : वे चीजें छोटी हो या वडी, च्यूंटी और पक्षी हो या वृक्ष और हाथी; मानव-शिशु हो या नगर और कस्बे का समाज। वनस्पतियो और पशु-पक्षियो का विकास तो केवल देखा ही जा सकता है, शहरी मानव और उस के समाज की गतिविधियो से पहले कभी-कभी वडी तीव्र प्रतिकिया होती थी—क्षोभ और क्रोध होता था; अव धीरे-धीरे समझ मे आने लगा है कि ऐसी राजस प्रतिक्रियाएँ देखने मे थोडी वाधा जरूर होती हैं। अव आक्रोश को वश कर के उन गतिविधियो को ठीक-ठीक समझने और उन को निर्माणशील लीको पर डालने का उपाय खोजने का मन होता है। पहले विद्रोह था जो विपयिगत था—'सब्जेक्टिव' था। अव प्रवृत्ति है जो किसी हद तक असम्पृक्त बुद्धि से प्रेरित है। एक हद तक जरूर प्रवृत्ति के साथ एक प्रकार की अन्तर्मुखीनता आयी है। समाज को वदलने चलने से पहले अज्ञेय वार-वार अपने को जांचता है कि कहाँ तक उस के विश्वास और उस के कर्म मे सामजस्य है—या कि कहाँ नही है। यह भी जोड दिया जा सकता है कि वह इस वारे मे भी सतर्क रहता है कि उस के निजी विश्वासो मे और सार्वजनिक रूप से घोपित (पब्लिक) आदर्श मे भेद तो नही है? धारणा और कर्म मे सौ प्रतिशत सामजस्य तो सिद्धो को मिलता है। उतना भाग्यवान् न हो कर भी अज्ञेय अन्तर्विरोध की भट्ठी पर नही बैठा है और इस कारण अपने भीतर एक शान्ति और आत्मवल का अनुभव करता है। शान्ति और आत्म-वल आज के युग मे शायद विलास की वस्तुएँ हैं। इस लिए इस कारण से अज्ञेय हिन्दी भाइयो और विशेप रूप से हिन्दीवाले भाइयो से कुछ और अलग पड़ जाता है और कुछ और अकेला हो जाता है।

यहाँ यह भी स्वीकार कर लिया जाये कि यहाँ शायद सच्चाई को अधिक सरल कर के सामने रखा गया है, उतनी सरल वास्तविकता नही है। एक साथ ही चरम निश्चलता का और चरम गतिमयता का आकर्पण अज्ञेय की चेतना के अन्तर्विरोध का सूचक है। पहाड उसे अधिक प्रिय है या सागर, इस का उत्तर वह नही दे पाया है, स्वयं अपने को भी। वह सर्वदा हिमालय के हिम शिखरो की ओर उन्मुख कुटीर मे रहने की कल्पना किया करता है और जव-तव उधर कदम भी वढा लेता है, पर दूसरी ओर वह भागता है वरावर सागर की ओर, उस के उद्वेलन से एकतानता का अनुभव करता है। शान्त सागर-तल उसे विशेष

नही मोहता—चट्टानो पर लहरों का घात-प्रतिघात ही उसे मुग्ध करता है। सागर में वह दो बार डूब चुका है; चट्टानों की ओट से सागर-लहर को देखने के लोभ मे वह कई बार फिसल कर गिरा है और दैवात् ही बच गया है। पर मन.स्थिति ज्यों की त्यों है : वह हिमालय के पास रहना चाहता है पर सागर के गर्जन से दूर भी नही रहना चाहता ! कभी हँस कर कह देता है : "मेरी कठिनाई यही है कि भारत का सागर तट सपाट दक्षिण मे है—कही पहाडी तट होता तो—!"

क्यों कि इस अन्तर्विरोध का हल नही हुआ है, इस लिए वह अभी स्वयं निश्चयपूर्वक नही जानता है कि वह अन्त मे कहाँ जा टिकेगा। दिल्ली या कोई भी शहर तो वह विश्रामस्थल नही होगा, यह वह ध्रुव मानता है। पर वह कूर्माचल हिमालय में होगा, कि कुमारी अन्तरीप के पास (जहाँ चट्टानें तो है !), या किसी समझौते के रूप मे विन्ध्य के अंचल की कोई वनखंडी जहाँ नदी-नाले का मर्मर ही हर समय सुनने को मिलता रहे—इस का उत्तर उसे नही मिला। उत्तर की कमी कई बार एक अशान्ति के रूप मे प्रकट हो जाती है । वह 'कही जाने के लिए' बेचैन हो उठता है। (मुक्तिबोध का **'माइग्रेशन इन्स्टिंक्ट'** ?) कभी इसकी सूरत निकल आती है; कभी नहीं निकलती तो वह घर ही का सब सामान उलट-पलट कर उसे नया रूप दे देता है : बैठक को शयन कक्ष, शयन को पाठागार, पाठागार को बैठक, इत्यादि। उस से कुछ दिन लगता है कि मानों नये स्थान मे आ गये—फिर वह पुराना होने लगता है तो फिर सब बदल दिया जाता है ! इसी लिए घर का फर्नीचर भी अज्ञेय अपने डिजाइन का बनवाता है। ये जो तीन चौकियाँ है न, इन्हे यों जोड़ दिया जाये तो पलंग बन जायगा; ये जो दो डेस्क-सी दीखती हैं, एक को घुमा कर दूसरे से पीठ जोड़ दीजिए, भोजन की मेज़ बन जायेगी यदि आप फ़र्श पर नही बैठ सकते। वह जो पलग दीखता है, उस का पल्ला उठा दीजिए—नीचे वह सन्दूक है। या उसे एक सिरे पर खड़ा कर दीजिए तो वह आलमारी का काम दे जायगा ! दीवार पर शरद् ऋतु के चित्र है न ? सब को उलट दीजिए : अब सब चित्र वसन्त के अनुकूल हो गये—अब बिछावन भी उठा कर शीतल-पाटियाँ डाल दीजिए और सभी चीज़ो का ताल-मेल हो गया···

पुरातत्त्ववेत्ता की छाया मे अकेले रहने का एक लाभ अज्ञेय को और भी हुआ है। चाहे विरोधी के रूप मे चाहे पालक के रूप मे, वह बराबर

परम्परा के सम्पर्क मे रहा है। रूढि और परम्परा अलग-अलग चीज़े है, यह उसने समझ लिया है। रूढि वह तोडता है और तोडने के लिए हमेशा तैयार है। लेकिन परम्परा तोडी नही जाती, वदली जाती है या आगे वढायी जाती है, ऐसा वह मानता है, और इसी के लिए यत्नशील है। कहना सही होगा कि वह **मर्यादावान् विद्रोही** है। फिर इस वात को चाहे आप प्रशसा से कह लीजिए चाहे व्यग्य और विद्रूप से।

एक ओर एकान्त, और दूसरी ओर एकान्त का निरन्तर वदलता हुआ परिवेश—कभी कश्मीर की उपत्यकाएँ, कभी विहार के देहात, कभी कोटागिरि-नीलगिरि के आदिम जातियो के गाँव, कभी मेरठ के खादर और कभी असम और पूर्वी सीमान्त के वन-प्रदेश—इस अनवरत वदलते हुए परिवेश ने अकेले अज्ञेय को आत्म-निर्भरता का पाठ वरावर दुहरवाया है। इस कारण वह जितना जैसा जिया है अधिक सघनता और तीव्रता से जिया है। 'रूप-रस-गन्ध-गान'—सभी की प्रतिक्रियाएँ उस मे अधिक गहरी हुई है। सिद्धान्तत. भी वह मानता है कि कवि या कलाकार ऐन्द्रिय चेतना की उपेक्षा नही कर सकता। और परिस्थितियो ने उसे इस की शिक्षा भी दी है कि ऐन्द्रिय सवेदन को कुन्द न होने दिया जाय। यह यो ही नही है कि आँख, कान, नाक आदि को **'ज्ञानेन्द्रियाँ'** कहा जाता है। ये वास्तव मे खिडकियाँ है जिन मे से व्यक्ति जगत को देखता और पहचानता है। इन के सवेदन को अस्वीकार करना सन्यास या वैराग्य का अग नही है। वह पन्थ आसक्ति को छोडता है यानी इन सवेदनो से वँध नही जाता, यह नही है कि इन का उपयोग ही वह छोड़ देता है। जव अज्ञेय को ऐसे लोग मिलते है जो गर्व से कहते है कि 'हमे तो खाने मे स्वाद का पता ही नही रहता—हम तो यह भी लक्ष्य नही करते कि दाल मे नमक कम है या ज्यादा', तो अज्ञेय को हँसी आती है। क्यो कि यह वह अस्वाद नही जिसे आदर्श माना गया, यह केवल एक विशेष प्रकार की पगुता है। इस मे और इस वात पर गर्व करने मे कि 'मुझे तो यह भी नही दीखता कि दिन है या रात', कोई अन्तर नही है। अगर अन्धापन या वहरापन श्लाघ्य नही है तो जीभ का या त्वचा का अपस्मार ही क्यो श्लाघ्य है? ज्ञानेन्द्रियो की सजगता अज्ञेय की कृतियो मे प्रतिलक्षित होती है और वह मानता है होनी भी चाहिए। कम या ज्यादा नमक होने पर भी दाल खा लेना एक वात है, और इस को नही

पहचानना बिल्कुल दूसरी बात है।

अज्ञेय मानता है कि बुद्धि से जो काम किया जाता है उस की नींव हाथों से किये गये काम पर है। जो लोग अपने हाथों का सही उपयोग नहीं करते उन की मानसिक सृष्टि में भी कुछ विकृति या एकांगिता आ जाती है। यह बात काव्य-रचना पर विशेष रूप से लागू है क्यों कि अन्य सब कलाओं के साथ कोई-न-कोई शिल्प बँधा है, यानी अन्य सभी कलाएँ हाथों का भी कुछ कौशल माँगती हैं। एक काव्य-कला ही ऐसी है कि शुद्ध मानसिक कला है। प्राचीन काल में शायद इसी लिए कवि-कर्म को कला नहीं गिना जाता था। अज्ञेय प्रायः ही हाथ से कुछ न कुछ बनाता रहता है और बीच-बीच में कभी तो मानसिक रचना को बिल्कुल स्थगित कर के केवल शिल्प-वस्तुओं के निर्माण में लग जाता है। बढ़ई-गीरी और बागवानी का उसे खास शौक है। लेकिन और भी बहुत-सी दस्तकारियों में थोड़ी-बहुत कुशलता उसने प्राप्त की है और इन का भी उपयोग जब तब करता रहता है। अपने काम के देशी काट के कपड़े भी वह सी लेता है और चमड़े का काम भी कर लेता है। थोड़े-बहुत चित्र-कारी और मूर्तिकारी वह करता है। फ़ोटोग्राफी का शौक भी उसे बराबर रहा है और बीच-बीच में प्रबल हो उठता है।

हाथों से चीज़ें बनाने के कौशल का प्रभाव जरूरी तौर पर साहित्य-रचना पर भी पड़ता है। अज्ञेय प्रायः मित्रों से कहा करता है कि अपने हाथ से लिखने और शीघ्रलेखक को लिखाने में एक अन्तर यह है कि अपने हाथ से लिखने में जो बात बीस शब्दों में कही जाती लिखाते समय उस में पचास शब्द या सौ शब्द भी सर्फ़ कर दिये जाते हैं। मितव्यय कला का एक स्वाभाविक धर्म है। रंगों का, रेखा का, मिट्टी या शब्द का अपव्यय भारी दोष है। अपने हाथ से लिखने में परिश्रम किफ़ायत की ओर सहज ही जाता है। लिखाने में इसमें चूक भी हो सकती है। विविध प्रकार के शिल्प के अभ्यास से मितव्यय का—किसी भी इष्ट की प्राप्ति में कम-से-कम श्रम का—सिद्धान्त सहज-स्वाभाविक बन जाता है। भाषा के क्षेत्र में इस से नपी-तुली, सुलझी हुई बात कहने की क्षमता बढ़ती है, तर्क-पद्धति व्यवस्थित, सुचिन्तित और क्रमसंगत होती है। अज्ञेय इन सब को साहित्य के बड़े गुण मानता है और बराबर यत्नशील रहता है कि उस का लेखन इस आदर्श से स्खलित न हो।

दूसरे की बात वह ध्यान से और धैर्य से सुनता है। दूसरे के

दृष्टिकोण का, दूसरे की सुविधा का, दूसरे के प्रिय-अप्रिय का वह वहुत ध्यान रखता है—कभी-कभी ज़रूरत से ज्यादा। नेता के गुणो मे एक यह भी होता है कि अपने दृष्टिकोण को अपने पर इतना हावी हो जाने दे कि दूसरे के दृष्टिकोण की अनदेखी भी कर सके। निरन्तर दूसरे के दृष्टिकोण को देखते रहना नेतृत्व कर्म मे वाधक भी हो सकता है। इस लिए नेतृत्व करना अज्ञेय के वश का नही है। वह सही मार्ग पहचान कर और उस का इगित दे कर भी फिर एक तरफ हट जायेगा, क्योकि "दूसरो का दृष्टिकोण दूसरा है" और वह उम दृष्टिकोण को भी समझ सकता है।

'मार-मार कर हकीम' न वनाने की इस प्रवृत्ति के कारण अज्ञेय को विश्वास वहुत लोगो का मिला है। मित्र उस के कम रहे हैं, पर अपनी समस्याएँ ले कर वहुत लोग उम के पास आते है, ऐसे लोगो को खुल कर वात करने मे कभी कठिनाई नही होती। सभी की सहायता की जा सके ऐसे साधन किस के पास है : पर धीरज और सहानुभूति से सुनना भी एक सहायता है जो हर कोई दे सकता है (पर देता नही)।

लेकिन इस धीरज के साथ-साथ अव्यवस्थित चिन्तन के प्रति उस मे एक तीव्र असहिष्णुता भी है। चिन्तन के क्षेत्र मे किसी तरह का भी लवडधोधोपन उसे सख़्त नापसन्द है और इस नापसन्दगी को प्रकट करने मे वह सकोच नही करता। इसी लिए उस के मित्र वहुत कम है। हिन्दी-वालो मे और भी कम, क्यो कि हिन्दी साहित्यकार का चिन्तन भारतीय साहित्यकारो मे अपेक्षया अधिक ढुलमुल होता है। साहित्यकार ही क्यो, हिन्दी के आलोचको और अध्यापकों का सोचने का ढग भी एक नमूना है।

अज्ञेय हिन्दी के हाथी का दिखाने का दाँत है। कभी-कभी उस को इस पर आश्चर्य भी होता है और खीझ भी। क्यो कि वह अनुभव करता है कि हिन्दी के प्रति उस की आस्था अनेक प्रतिष्ठित हिन्दी-वालो से अधिक है और साथ ही यह भी कि वह वडी गहराई मे और वडी निष्ठा के साथ भारतीय है। यानी वह खाने के दाँतो की अपेक्षा हिन्दी के हाथी का अधिक अपना है। यो तो खैर, दाँत ही हाथी का हो सकता है, कोई ज़रूरी नही है कि हाथी भी दाँत का हो। लेकिन शायद ऐसा सोचना भी अज्ञेय की दुर्वलता है—यह भी 'दूसरे के दृष्टि-

कोण को देखना है। वह अपने को हिन्दी का मान कर चलता है जब कि आर्थोडाक्स हिन्दीवाला हिन्दी को अपनी मानता ही नही वैसा दावा भी करता है; अज्ञेय अपने को भारत का मानता है जबकि आर्थोडाक्स भारतीय देश को अपना मानता है। हिन्दी के एक बुजुर्ग ने कहा था, "विदेशों मे हिन्दी पढाने के लिए तो अज्ञेय बहुत ही उपयुक्त है, बल्कि इस से योग्यतर व्यक्ति नही मिलेगा; लेकिन भारतीय विश्व-विद्यालयो मे—" और यहाँ उन का स्वर एकाएक बिल्कुल बदल गया था—"और हिन्दी क्षेत्र मे—देखिये, हिन्दी क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य पढाने के लिए तो दूसरे प्रकार की योग्यता चाहिए।" इस कथन के पीछे जो प्रतिज्ञाएँ है उन से अज्ञेय को अपार क्लेश होता है। लेकिन—और इसे उस का अतिरिक्त दुर्भाग्य समझिए—इस दृष्टिकोण को वह समझ भी सकता है। पिछले दस-बारह वर्षो के उस के कार्य की जड में यही उभयनिष्ठ भाव लक्षित होता है। यह दिखाने का दाँत चालानी माल (एक्सपोर्ट कमाडिटी) के रूप मे बराबर बाहर रहा है लेकिन हर बार इस लिए लौट आया है कि अन्ततोगत्वा वह भारतीय है, भारत का है और भारत मे ही रहेगा।

यह समस्या अभी उस के साथ है और शायद अभी कुछ वर्षों तक रहेगी। बचपन मे उस के भविष्य के विषय मे जिज्ञासा करने पर उस के माता-पिता को एक ज्योतिषी ने बताया था कि "इस जातक के शत्रु अनेक होंगे लेकिन हानि इसे केवल बन्धुजन ही पहुँचा सकेंगे।" अज्ञेय नियतिवादी नही है लेकिन स्वीकार करता है कि चरित्र की कुछ विशेष-ताएँ जरूर ऐसी होती है जो व्यक्ति के भविष्य का निर्माण करती है। इस लिए शायद 'यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है' कि अनेक शत्रुओ के रहते हुए भी अज्ञेय बध्य है तो केवल अपने बन्धुओ द्वारा। ऐसा ही अच्छा है। उसी ज्योतिषी ने यह भी बताया था कि "इस जातक के पास कभी कुछ जमा-जत्था नही होगा, लेकिन साथ ही जरूरी खर्चे की कभी तगी भी नही होगी—यह या तो फकीर होगा या राजा।" और फिर कुछ रुक कर, शायद फ़कीरी की आशंका के बारे में माता-पिता को आश्वस्त करने के लिए, और 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' को ध्यान मे रख कर, उसने एक वाक्य और जोड़ दिया था जिसकी व्यजनाएँ अनेक है। "यह असल मे तबीयत का बादशाह होगा।"

जी हाँ, तबीयत के अलावा और कोई बादशाहत अज्ञेय को नही मिली है। लेकिन वह बनी रहे तो दूसरी किसी की आकांक्षा भी उसे नही है।

उपन्यासों के बारे में

कहानी या उपन्यास लिखने की प्रेरणा आप को प्रायः जीवन और जगत् से सीधे मिलती है या उन के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण या मान्यता से ?

जीवन और जगत् से मिलने वाली प्रेरणा और उन के प्रति अपने दृष्टिकोण मे इस तरह की कोई विरोधिता मैं नही देखता। क्यो कि मैं मानता हूँ कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी अपने जीवनानुभव से ही बनता है। नि सन्देह शिक्षा सस्कार आदि से बनी हुई धारणाएँ भी हो सकती है जिनके कारण व्यक्ति जीवन और जगत् के प्रति एक पूर्वग्रह से आरम्भ करे, और तब उस के अनुभव उस पूर्वग्रह से मर्यादित होगे ही। अर्थात् जीवन के प्रति दृष्टिकोण जीवन के अनुभव को ग्रहण करने की परिपाटी को प्रभावित करता है और जीवनानुभव दृष्टिकोण को निरूपित अथवा प्रभावित करता है। यह परस्परता तो जीवन का साधारण नियम है। कृतिकार के लिए इस का महत्त्व और भी अधिक होता है क्यो कि कृति मे आरोपित दृष्टिकोण बाधक ही हो सकता है। दृष्टिकोण कृति मे वही तक सगत है जहाँ तक कि वह भी उसी जीवनानुभव से उत्पन्न हुआ हो जो कि कृति को प्रेरित करता है।

मैं नही कह सकता कि कहाँ तक इस आदर्श परम्पराश्रय का निर्वाह मेरी रचनाओ मे हुआ है, क्यो कि आज के मतवाद-ग्रस्त युग मे यह और भी अधिक सम्भव है कि कलाकार थोडा-बहुत पूर्वग्रह ओढ कर चले। ऐसे भी साहित्य सिद्धान्त आज-कल प्रचलित है जिन के अनुसार बिना ऐसा पूर्वग्रह या मताग्रह ओढे अच्छा साहित्य लिखा ही नही जा सकता। मैं यही कह सकता हूँ कि सिद्धान्ततः मैं ऐसा नही मानता और

इस लिए यत्नशील रहता हूँ कि जाने या अनजाने मतवाद-प्रेरित साहित्य की साधना न करूँ।

कहने की आवश्यकता नही होनी चाहिए कि इस का यह अभिप्राय नही होता कि मेरे सिद्धान्त या विचार नही हैं या कि जीवन के प्रति मेरा कोई दृष्टिकोण अभी तक नही बना है।

साहित्यिक कृति के माध्यम से आप जीवन और जगत् के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण की पुष्टि करने या उस की जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ पहले प्रश्न के उत्तर मे ही निहित है। जीना ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करना है—जब तक कि व्यक्ति जीवन के अनुभव के प्रति अपने को बिल्कुल ही बन्द नही कर ले। उतना बन्द मैंने अपने-आप को नही किया है—उतना बन्द होना सम्भव भी नही है अगर कोई बन्द होना चाहे भी तो !

जीवन के प्रति दृष्टिकोण जब एक ओर जीवनानुभव की पद्धतियों को प्रभावित भी करता है और दूसरी ओर स्वयं उस अनुभव का परिणाम भी है, तब स्वाभाविक है कि अनुभव प्राप्त करते हुए या उस की ओर खुले रहते हुए दृष्टिकोण के निरन्तर परिशोधन का प्रयत्न किया जाता रहे—पुष्टि और हड़ताल दोनों इस परिशोधन के अंग हैं। पूर्वधारणा का जो अंग अनुभव पर खरा उतरे उसे और दृढता से ग्रहण करना और जो कच्चा या मिथ्या सिद्ध हो उसे छोड़ देना, और जहाँ परिवर्तन की आवश्यकता हो वहाँ परिवर्तन करना—यही शुद्ध दृष्टि है।

साहित्यिक कृति सर्वदा तो नही किन्तु बहुधा आत्मान्वेषण अथवा आत्माविष्कार का साधन भी होती है। रचना-प्रक्रिया मे ही रचयिता स्वय अपने को नये अथवा सही रूप में पहचानता है। इस प्रकार कृति जितनी कृतिकार द्वारा रची जाती है उतनी ही स्वयं कृतिकार को रचती भी है। कोई भी रचयिता रचना करने से पूर्व और पश्चात् वही का वही नही रहता, मेरा विश्वास है सभी कृतिकार इस बात की पुष्टि करेंगे।

किसी कृति को लिखते समय या पूरा कर के क्या आपने कभी यह

पाया है कि जिस मान्यता को ले कर वह चली थी, उसमें पर्याप्त हेर-फेर की गुंजाइश हे ?

इस का लगभग सम्पूर्ण उत्तर ऊपर दे दिया गया है। विस्तार मे यही कहूँ कि किसी भी शोध अथवा आविष्कार मे दो वाते अनिवार्य होती है : एक तो यह कि आप कुछ मान कर चले, क्यो कि इस के विना कोई दिशा ही नही मिलती, और दूसरी यह कि जो भी मान कर चले, उस मे सशोधन या परिवर्तन करने को तैयार हो, क्यो कि इस के विना किसी नये लक्ष्य तक पहुँचा ही नही जा सकता। इतना ही नही, कृति के लिखे जाने के बाद तक उस मे परिवर्तन होते रह सकते है। इन्ही के कारण नये सस्करणो मे परिवर्तन होता है और कभी-कभी समूची रचना रद्दी कर दी जाती है। मैंने कई बार ऐसे कारणो से रचना को रद्दी मे डाल दिया है लिखते-लिखते जो कुछ सीखा है 'उस के कारण लिखना समाप्त होते-न-होते एक नयी कसौटी पा गया हूँ जिस पर वह खरी नही उतरती। कुछ रचनाएँ मैंने इस आशा के साथ रख छोड़ी है कि उन्हे फिर नये रूप मे लिख सकूँगा, कुछ तत्काल नष्ट कर दी है। और कुछ इस लिए भी रख छोडी है कि देख सकूँ, मैं कहाँ से कहाँ चला आया !

'शेखर : एक जीवनी' के दूसरे भाग के अन्तिम चरण में चुम्बन का आह्वान स्वीकार करने मे शेखर शशि के सुख का निमित्त हो रहा था या उस से कुछ अधिक भी ? यही वात 'नदी के द्वीप' के भुवन के बारे मे भी पूछी जा सकती है—रेखा के 'फुलफ़िलमेंट' के सन्दर्भ में।

आप कहते है तो जरूर पूछी जा सकती होगी। लेकिन मुझ से नही। क्यो कि उपन्यास के चरित्रो की कर्म-प्रेरणाओ के वारे मे उपन्यासकार से कुछ पूछना सिद्धान्ततः गलत है। अगर उसे इन प्रेरणाओ का ब्यौरा देना होगा तो उपन्यास मे दे ही देता। उपन्यास मे अगर वह नही दिया गया है तो उस का कारण यही हो सकता है कि चरित्र को जीवन्त वनाने के लिए वह अनावश्यक है। किसी भी चरित्र के वारे मे सव-कुछ जाना जा सकता है यह नही कहा जा सकता। और जिस के वारे मे सव-कुछ जान लिया गया है या जता दिया गया

है वह जीवित चरित्र नही है, मिट्टी का पुतला है। और पाठक को क्या कुछ सोचने का अधिकार नही है ? लेखक चाहे जो उत्तर दे दे, उस के वाद भी क्या पाठक अपने निर्णय पर पहुँचने को स्वतन्त्र नही है ?

शशि अथवा रेखा के समर्पण की नींव पर शेखर अथवा भुवन जव अपने भविष्य का भव्य प्रासाद वनाने की सोचते हैं तो क्या शशि और रेखा उन के लिए साधन या अधिक से अधिक प्रेरणा मात्र नहीं रह जातीं ?

इस 'मात्र' का अभिप्राय मेरे सामने स्पष्ट नही है। और मेरी समझ मे शेखर और भुवन के चरित्र अथवा नारी के सम्वन्ध में उन की धारणाओ मे अन्तर भी है शेखर यह मानता है कि नारी अपने प्रिय को आगे वढाने का निमित्त वनती है, यह भी अनुभव करता है कि उस के जीवन में भी नारी का इस प्रकार का योग रहा है और उस के मन पर इस वात का वोझ भी है। उस को वनाने मे कोई टूट जाये, इस मे जहाँ वह दानी के प्रति कृतज्ञ है वहाँ इस लिए कुण्ठित भी है कि क्यो वह जितना दे सकता है उस से अधिक उसे मिल चुका हो, अर्थात् वह चिर ऋणी रह जाये। भुवन मे अपराध का भाव दूसरे ढंग का है, दूसरे कारण से है। उस का अहं भी शेखर जैसा प्रवल नही है।

यो अगर आप उपन्यासो से या उपन्यास के चरित्रो से अलग मुझ से यह प्रश्न करना चाहते है कि क्या मेरी राय मे नारी पुरुष की उन्नति का निमित्त मात्र है और उस से अधिक कुछ नही, तो मैं यह उत्तर दूंगा कि ऐसा भी हो सकता है और इस से ठीक उलटा भी हो सकता है और वीच की कई परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं। अथवा दोनों परस्पर प्रेरक भी हो सकते हैं। लेकिन दोनों समान रूप से एक-दूसरे को प्रेरणा देने वाले हो, समान रूप से एक-दूसरे को मुक्त रख सकें, यह आदर्श स्थिति ही है। वास्तविक जीवन मे उस का निर्वाह कभी-कदाचित् ही होता है—'होना चाहिए' और 'होता है' मे प्राय भेद रहता है। इस दृष्टि से **शेखर : एक जीवनी** अथवा **नदी के द्वीप** मे कोई भी पात्र 'आदर्श' प्रेमी नही है। आदर्श की पहचान कुछ की है, और उस की ओर वढने की प्रवृत्ति भी, वस। कुछ ऐसे भी हैं जो इस आदर्श के घोर विरोधी है या कि उसे समझने के ही अयोग्य है।

शशि अथवा रेखा के समर्पण को स्वीकार कर के भी क्या शेखर अथवा भुवन अपनी भीतरी अपराध-भावना से पूरी तरह मुक्त हो सके ?

समर्पण स्वीकार ही तो अपराध-भावना का कारण हो सकता है। क्योकि अपराध-भावना इसी लिए तो है कि यह व्यापार एक-पक्षीय रहे। यो अपराध-भावना से पूरी तरह मुक्त होने या न होने का विशेष महत्त्व उपन्यास मे नही है। उपन्यास उपन्यास है, न तो केस-हिस्टरी है, न इलाज का ब्योरा है। यत्किंचित् अपराध की भावना जिस तरह आगे चल के कर्म-प्रेरणा बनती है या चरित्र को ढालती है उतना ही उपन्यासकार का क्षेत्र है।

'शेखर : एक जीवनी' के तीसरे भाग के लिए आप अपने पाठकों को कब तक तरसाते रहेंगे ?

उन को क्या तरसाऊँगा—उन से अधिक तो मैं तरसता हूँ ! लेकिन तरसने से कुछ आता-जाता नही है। तीसरा भाग एक बार लिखा गया था, तभी छप गया होता तो छप गया होता। अब वह सशोधन मांगता जान पडता है और मैं भरसक कोई चीज़ ऐसी अवस्था मे छपने नही भेजता हूँ जब कि वह मुझे अधूरी जान पड रही हो। छप जाने के बाद उस के सम्बन्ध मे मेरी धारणा बदले या सशोधन आवश्यक जान पडे तो दूसरी बात है, वह दूसरे सस्करण मे हो सकता है—यह ऐसा भी हो सकता है कि दूसरा सस्करण होने ही न दिया जाये !

'नदी के द्वीप' को निकले प्रायः नौ वर्ष हो गये। इतना लम्बा मौन किस स्फोट का उपक्रम समझा जाए ?

उन वर्षों मे कुछ न लिखा हो, ऐसा तो नही है। चार-पाँच पुस्तकें निकली ही। यो एक छोटा उपन्यास भी लिखा जो अब छप रहा है—शीघ्र निकल जायेगा। उस का नाम है 'अपने-अपने अजनबी' और पात्र विदेशी है। कथावस्तु क्या है यह बताना तो कठिन है और शायद बेठीक भी है। पर वस्तु है (कथावस्तु और वस्तु का भेद, आशा है,

खंडित इकाइयाँ

(१) आप के साहित्य का मुख्य उद्देश्य अथवा सन्देश क्या है ? रचनाओं के माध्यम से समाज को आप क्या देना चाहते हैं—विशेषकर उपन्यासो द्वारा ?

(२) " 'अज्ञेय' का चिन्तन मौलिक नहीं अपितु पाश्चात्य विचारकों से ही प्रभावित है"—इस उक्ति से सहमत हैं ?

(१) अगर साहित्यिक कृति स्वय अपना सन्देश नही है, तो और उस का कुछ सन्देश नही हो सकता। साहित्यकार रूपस्रष्टा है, उपदेशक नही। उस के सिरजे हुए रूप से अगर समाज की सवेदना का सस्कार होता है—उस मे गहराई आती है या उस का विस्तार होता है, या उस का कोई नया आयाम खुलता है—तो वही उस की उपलब्धि होती है, 'उद्देश्य' के नाम पर ज़रूरी कुछ है तो यही समझ लीजिए कि मैं चाहता हूँ कि मेरी हर कृति से मेरे पाठक की सवेदना को नया सस्कार मिले। नया सस्कार पाने का मतलब है बदल जाना : इसी अर्थ मे साहित्य समाज को 'कुछ' देता है—समाज को बदल देता है, सामाजिक इकाई—व्यक्ति के जीवन को सम्पन्नतर बनाता है।

अच्छा उपन्यास अपने पाठक की सवेदना को गहरा या प्रखरतर करता हुआ उसे उस का समाज एक नये रूप मे दिखा देता है। पाठक एक तरफ चौकता है कि 'अरे, यह मैंने अभी तक देखा नही था !' तो दूसरी तरफ पहचानता है कि 'सच तो है; मैंने पहले ध्यान दिया होता तो मुझे स्वय दीख जाता।' देख लेने के बाद वह फिर अनदेखा नही कर सकता : इस अर्थ मे पाठक को उपन्यास ने 'जगा दिया है'।

मै चाहता हूँ कि मेरे उपन्यास भी इतने अच्छे हो कि यह काम

करते रहें ।

(२) पहली बात तो यह कि ऐसा बिलकुल जरूरी नही है कि कृतिकार 'चिन्तक' हो ही । उस की कृतियो मे विचार हों, या विचार-प्रेरकता हो, इस मे कोई बुराई नही है; पर कृति विचारों के लिए नही है और न उस के मूल्य का निर्धारण अन्तत: विचारो पर है ।

दूसरी बात यह कि प्राय: सभी चिन्तक दूसरो के विचारों से प्रभावित होते है । 'मौलिक' चिन्तक सौ-दो सौ बरस मे एक हो जाये तो बड़ी बात होती है । आज देश मे कोई ऐसा एकान्त अप्रभावित मौलिक चिन्तक नही है ।

तीसरी यह कि मैं केवल पाश्चात्य विचारकों से ही प्रभावित नहीं हूँ; कई वैचारिक परम्पराओ से प्रभावित हूँ, देशी भी और विदेशी भी, पूर्वी भी और पश्चिमी भी, आधुनिक भी और अनाधुनिक भी । मुझे इस मे लज्जित होने की कोई बात नही दीखती : उस दशा में और भी नहीं जब ये अनेक प्रभाव मुझे अपना व्यक्तित्व पहचानने मे सहायक होते हैं ।

इतना सन्देह मुझे जरूर कभी-कभी होता है कि जो आलोचक इतनी आसानी से इस तरह के फ़तवे दे जाते है, प्राय. उन्ही के बारे मे यह बात अधिक सच होनी है कि वे कुछ-एक पश्चिमी विचारको के विचारों से परिचित होते हैं; उस से आगे विचारो के इतिहास का कुछ भी ज्ञान उन्हे नही होता ।

(१) 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास का शीर्षक 'योके', 'सेल्मा' या 'योके और सेल्मा' अथवा कुछ और क्यो नहीं रखा ?
(२) उपर्युक्त उपन्यास (अपने-अपने अजनबी) मे आप ने विदेशी पात्र और विदेशी घटना-स्थल ही क्यों चुने ? क्या भारतीय सन्दर्भ में इतना उच्च उपन्यास नहीं लिखा जा सकता था ?

(१) "कुछ और क्यों नही रखा"—यह प्रश्न तो ऐसा ही है कि आप पूछें, "इस के बदले कुछ दूसरा क्यो नहीं लिखा ?" इस का उत्तर मैं क्या दूंगा ? लेकिन केवल 'योके' या 'सेल्मा' या 'योके और सेल्मा' कहना भी पर्याप्त न होता, क्यों कि उपन्यास इस या उस या इन चरित्रों के बारे मे नही है । इन और इन के साथ दूसरे पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया से जो सम्बन्ध सामने आता है—काल के साथ व्यक्ति का

सम्बन्ध—वही उपन्यास का विषय है : कह लीजिए कि काल ही मुख्य पात्र है। सभी के अपने-अपने अजनवी है; अजनवियो के साथ दो प्रकार के सम्बन्ध है—या तो सम्पूर्ण नकार का, अनास्था का, जैसे योके का मृत्यु के अस्तित्व को ही नकारना चाहना, या फिर स्वीकार का, आस्था या श्रद्धा का, अकारण विश्वास का, जैसे योके का जगन्नाथन् को 'अच्छा आदमी' मान लेना बिना किसी प्रमाण या आधार के। 'अकारण विश्वास' ही तो श्रद्धा है। मृत्यु को नकारने वाली योके अन्त मे (श्रद्धा के सहारे ?) एक दूसरे अपरिचित (ईश्वर ?) के सामने आ जाती है; यही उसे स्वतन्त्रता मिलती है (वरण की स्वतन्त्रता, या वरण से भी स्वतन्त्रता ?)। मरण को नकानती हुई, इस लिए क्षणजीवी, नश्वर, आत्मघातिनी योके एक प्रकार के अमरत्व का भी स्पर्श पा जाती है : 'अच्छे आदमी के सामने मरना' क्या प्रकारान्तर से उस अच्छे आदमी के साक्ष्य के प्रमाण से जीते रहना ही नही है ? पर इस अमरत्व को भी पाठक भाँपता है, योके ने उसे नही पहचाना; यह भी उस का एक अजनबी है। यो प्रतीको के फिर अन्त.प्रतीक, गूजो की फिर प्रतिगूंज की गुजाइश **'अपने-अपने अजनबी'** शीर्षक मे जितनी है, उतनी किसी दूसरे मे न होती।

(२) पात्र और घटनाएँ ठीक स्वदेशी तो नही है, पर उन्हे विदेशी कहना भी सर्वथा उचित न होगा। वास्तव मे देश का निर्देश स्वल्पतम इसी लिए रखा गया है कि सारी बात को एक देश-निरपेक्ष सन्दर्भ मे रखा जा सके : मानवीय सत्ता (या अस्तित्व) मात्र की अवस्थिति सामने रहे।

यो स्थिति के चरम सन्दर्भ सामने लाने के लिए घटना को जिस सम्पूर्णता के साथ और सब से काट कर रखना आवश्यक था, उस के लिए और भी सामान्य परिस्थितियो की खोज मैने की थी। भूकम्प की भी बात सोची थी, फिर खान-दुर्घटना की भी और उस के वास्तविक चित्रण के लिए बिहार मे कुछ कोयला-खाने देखने भी गया था। पर बर्फ मे दब जाने की घटना ही अधिक अनुकूल जान पड़ी। वैसी घटना हिमालय मे भी हो सकती—होती है—पर वहा जैसे लोगो के कैद हो जाने की सम्भावना होती वे सभी उस दृष्टि वाले होते जिसे मैंने 'पूर्वी' दृष्टि कहा है। 'चरम परिस्थिति' मे चरम मतवादो की टकराहट प्रस्तुत करने के लिए थोडा दूर जाना पड़ा—ऐसी जगह जहाँ सयोगवश दोनो

दृष्टियों के लोग साथ उपस्थित हो सकते हैं। पर जैसा कि मैंने पहले ही कहा, देश-काल से बँधी परिस्थिति प्रस्तुत करने में 'देश' के संकेत न्यूनतम रखे गये; 'काल' के सकेत भी उस के उसी पक्ष पर वल देने वाले रखे गये जिसे चरम कोटि की आसन्नकालिकता कहा जा सकता है, या चाहे तो प्रत्युत्पन्न या समुत्पन्न काल भी कह लीजिए। ज़ोर देने की वात यह है कि कथा 'काल' से सम्वन्ध की है; 'देश' से सम्वन्ध उतना ही है जितना पात्रो को हाड़-मास युक्त दिखाने के लिए अनिवार्य है।

(१) आज-कल के मिनी-अज्ञेयों के वारे में आपके विचार ?
(२) अपनी किस रचना से आप सर्वाधिक असन्तुष्ट हैं और क्यो ?

(१) मैं नही जानता कि आप किन की ओर सकेत करना चाहते है और उन के वारे में मेरे क्या विचार हो सकते है या होने चाहिए—या कुछ होते तो किसी को उन से क्या मतलव हाता। यो 'आज-कल का' मैं भी हूँ, और अपने निकट 'अज्ञेय' को वड़ा तो मैंने कभी नही पाया। 'मिनी-अज्ञेय' जैसे संकर समास मेरी भाषा का भी अंग नही हैं, यह अलग वात है।

(२) 'सन्तुष्ट' तो किसी रचना से नही हूँ: लिखने के तुरत वाद का अल्पकालिक सन्तोष छोड दे तो। पर जिन से अधिक असन्तुष्ट हुआ, उन का आप को पता भी कैसे लग सकता है जब वे प्रकाशित ही नही की गयी? हर लेखक अपनी अनेक रचनाओ से असन्तुष्ट होता है; मैं जिन से असन्तुष्ट होता हूँ उन्हे छपने नही देता और इस लिए उन की चर्चा भी कोई अर्थ नही रखती।

क्या आप ने मृत्यु-विषयक कोई कविता लिखी है? यदि हाँ, तो उस समय आप की क्या मनःस्थिति थी?

ठीक 'मृत्यु-विषयक' कविता किसे कहे, इस पर वहस हो सकती है। यो कई-एक होगी। ऐसी कविता मे कवि की जो मन.स्थिति प्रतिविम्वित होती है, या पाठक द्वारा अनुमेय है, उतनी ही काम की है। उतनी ही कवि द्वारा सम्प्रेष्य थी—यानी उतनी ही स्वय उसकी पकड़ मे उस समय आयी थी, और जो उस समय उस की पकड़ मे—या उस

की नज़र के सामने—नही थी, उस के बारे मे वह आज कुछ कहे तो उस का भरोसा क्या ? एक तो अप्रासगिक बात हो,. दूसरे भरोसे के लायक न हो, तो उस के फेर मे क्यो पडें ? कविताओ मे जो मिले, उसी पर ध्यान दीजिए न ! आप के लिए भी वही फलप्रद होगा; कवि का हित भी उसी मे है, कविता के साथ न्याय भी उसी मे ।

(१) आप ने एक लेख में विचार व्यक्त किया था कि छन्द काव्य का अभिन्न अंग है और संगीतात्मकता के ह्रास से कविता की लोकप्रियता घटी है। इस स्थिति में क्या आप स्वयं को कविता की लोकप्रियता घटाने वालों में मानते हैं ?

(२) फिर आप ने 'पहले मैं एक सन्नाटा बुनता हूँ'—जैसी कविता क्यो लिखी ?

(१) मै आज भी मानता हूँ कि छन्द कविता का अभिन्न अग है। जहाँ भी सयमन है, वहाँ छन्द है। और जहाँ सयमन नही है, वहाँ रूप-सृष्टि नही है, कविता नही है।

मैं अपने को न केवल 'कविता की लोकप्रियता घटाने वालो' मे नही मानता बल्कि मानता हूँ कि कविता के प्रति पाठक की ग्राहकता और सवेदनशीलता बढा कर मैंने कविता की लोकप्रियता और भी कम होने से बचायी है। कविता के शत्रु आज की यन्त्र-सभ्यता मे बहुत है और बहुत बलशाली है. वे और अधिक सफल हुए होते अगर मैंने जितना प्रयत्न किया वह न किया होता। मेरा प्रयत्न जारी है।

(२) आपके पिछले प्रश्न के उत्तर के बाद यह प्रश्न उठता ही नही, पर वह प्रश्नोत्तर न भी हुआ होता तो आप का प्रश्न अर्थहीन होता, बल्कि अर्थहीन से भी कुछ नीचे, क्यो कि वह कविता के सम्बन्ध मे एक प्रबल पूर्वग्रह से बँधा हुआ जान पडता है। कविता सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए नही लिखी जाती; न वह पद्यबद्ध वकालत होती है। आप मुझे भुला कर कविता ही पढें तो दोनो के साथ अधिक न्याय कर पायेंगे—दोनो ही क्यो, तीनों के, क्यो कि अपने साथ भी तो आप तभी न्याय कर सकेंगे !

उल्लिखित कविता का 'सन्नाटा' सही ढग से समझने के लिए कुछ अन्य कविताएँ पढना लाभकर होता; और यदि काव्य-सम्बन्धी मेरी

धारणाओ पर ही विचार करना है तो कविता मे 'मौन' के स्थान और उपयोग पर मैंने जो कुछ लिखा है—उदाहरण के तौर पर आलवाल मे अथवा भवन्ती में—उसे पहले पढ़ लेना उचित होता।

(१) भारतीय साहित्य-जगत् की स्थिति के सम्बन्ध में आप के क्या विचार हैं ?

(२) लेखन की प्रेरणा आप को कब और कैसे मिली ? आप की नजर में आपकी कौन-सी कृति सर्वश्रेष्ठ है और क्यो ?

(१) अच्छे नही है। स्थिति दु:खद है। अच्छे साहित्यिक पत्रों की कमी उसे और दु:खद बनाती है। देशव्यापी और सरकारी अँगरेज़ी-परस्ती आग मे घी का नही, राख पर पानी का काम कर रही है: एक भभक उठती है, बस या फिर देर तक (और दूर-दूर तक) राख सिर पर बरसती रहती है।

(२) आप का मतलब शायद पहले-पहल से है: नही तो प्रेरणा निरन्तर मिलती रहती है और किसी भी घटना, दृश्य, अनुभूति, विचार बात-चीत, शब्द तक से मिल सकती है। पिछली बार जिस बात से प्रेरित हो कर रचना की थी वह शब्द-शक्ति की एक नयी पहचान थी—या कि यों कहूँ कि शब्द की एक शक्ति की पहचान थी। वह शक्ति है शब्द की अनेक अर्थ दे सकने की क्षमता। कुछ विस्तार से इस घटना का वर्णन मैंने अपनी पुस्तक आत्मनेपद के पहले लेख मे किया है—'मेरी पहली कविता' शीर्षक से।

कृति की श्रेष्ठता का निर्णय आलोचक का काम है, स्वय कृतिकार का नही। वह अधिक से अधिक अपने लगाव की बात कह सकता है—कि कौन-सी कृति उसे 'प्रिय' है। पर वह भी बदलता रहता है—कभी कोई कृति अच्छी लगती है, कभी कोई। इस तरह के प्रश्नो के उत्तरों का कुछ मूल्य नही होता है साधारणतया। कभी-कभी उन से कुछ प्राप्त हो सकता है—जब वे उत्तर रचना के बारे में नही, उस के बनने की प्रक्रिया के बारे में कुछ बताते हो। यानी जब वे न श्रेष्ठता की बात करें, न प्रियता की, बल्कि यह बताएँ कि लेखक के विकास में किसी रचना का क्या महत्त्व या योग रहा : कैसी चुनौती उस ने प्रस्तुत की, और कैसे लेखक ने उस चुनौती का सामना किया और उस पर विजय

पायी। इस तरह के इतिहास मेरी कई रचनाओ के साथ जुडे है, जैसे कहानियो मे 'कडियाँ' नाम की कहानी, कविताओ मे 'चक्रान्त शिला', या 'हिरोशिमा' (या और भी अनेक); उपन्यासों मे अपने-अपने अजनबी आदि। अपने-अपने अजनबी मे निहित चुनौती और उस के साथ लेखक के जुडाव के विकास को समझने के लिए एक बूंद सहसा उछली के दो-एक वृत्तान्तो से आरम्भ किया जा सकता है। यों मृत्यु से साक्षात्कार 'चरम क्षण' की बात जेल के दिनों से (१९३१-३३) सामने थी; उन दिनो मे उसी को ले कर कुछ लिखना आरम्भ किया था—वह अधूरा छोड दिया था। पर बर्फ़ गिरने से दुनिया से कट जाने की स्थिति उस में भी थी: अन्तर यही था कि उस मे तीन व्यक्ति यों कट गये थे, जब कि अपने-अपने अजनबी मे केवल दो व्यक्ति है। समझ लीजिए कि बीस वर्ष की अवधि मे वह 'चरम स्थिति' और भी सघन होकर प्रस्तुत हुई।

कृपया स्पष्ट करें कि परम्परा-जनित सुललित एवं लयात्मक काव्य-परम्परा से हट कर आप को 'नयी कविता' जैसे फूहड़ प्रयोगवाद का आरम्भ करने की क्या आवश्यकता थी? या तो आप लयात्मक काव्य-कला से अनभिज्ञ हैं या फिर इसके सर्जन में असमर्थ हैं।

परम्परा की सुबद्ध कविता से हटना क्यो आवश्यक हो गया, इसे समझाने के लिए पूरा प्रबन्ध चाहिए। और वह हटना 'अज्ञेय' ने आरम्भ नही किया। वह कही पहले आरम्भ हो चुका था। श्रीधर पाठक मे, 'प्रसाद' मे, 'निराला' मे हटने की यह प्रक्रिया स्पष्ट है। वहाँ उस सीढी का आरम्भ है जिस पर और लोग भी बढे।

प्रश्न को आपने जिस ढग से रखा है, उस मे जो प्रबल पूर्वग्रह स्पष्ट झलकता है, उस की ओर सकेत कर के ही छोड देता हूँ। उस से ऊपर आप स्वय उठना चाहेगे तभी उठेंगे। लेकिन नयी कविता के आरम्भ या कि पारम्परिक छन्दो के क्रमिक परित्याग को सही परिप्रेक्ष्य मे रखने के लिए इतना कह दूँ कि काव्य-रूप का परिवर्तन काव्य के आस्वादन की परिस्थिति के परिवर्तन का अनिवार्य परिणाम है। जिसे आप 'परम्परा-जनित सुललित लयात्यक परम्परा' कहते है, वह काव्य की वाचिक परम्परा थी यानी उस मे कविता पढी नही, सुनायी जाती

थी, और अकेले मे नही, समूह मे ही उसका ग्रहण होता था। वह मुद्रण-युग के पहले की स्थिति थी। मुद्रण-युग मे कविता पढी जाने लगती है; सुनी नही जाती, चुप-चाप पढी जाती है और अकेले मे पढी जाती है। ऐसे मे वहुत-सी चीज़ें जो वाचिक परम्परा मे आवश्यक थी, अनावश्यक हो जाती है, और कुछ नयी आवश्यकताएँ प्रकट हो जाती है जो वाचिक स्थिति मे नहीं थी। छपी हुई कविता पूरी-की-पूरी आँख के सामने होती है, उस का गठन हम देख सकते है। रचना-प्रक्रिया भी दृश्य हो जाती है एक सीमा तक। स्मरण का जो आधार वाचिक परम्परा मे आवश्यक होता है, यहाँ फ़ालतू हो जाता है—वल्कि वाधक भी हो सकता है। इस लिए तुक की कोई आवश्यकता नही रहती। छन्द की परिभापा भी वदल जाती है: हम एक-एक वन्द को न सुन कर पूरी कविता को देखते हैं—यानी छन्द सम्पूर्ण कविता का होता है। जिन्हे और विस्तार से इस पक्ष की जानकारी मे रुचि हो, वे आलवाल मे मेरा निवन्ध 'कविता : श्रव्य से पठ्य तक' देख सकते है।[1]

१. 'कादम्बिनी' (नयी दिल्ली) के विभिन्न पाटको द्वारा प्रस्तुत प्रश्नो मे मे कुछ चुने हुए प्रश्नो के उत्तर। प्रश्नकर्त्ता थे क्रमश. दीनानाथ शरण, पटना; सुभाप चन्द्र जैन, वाराणसी ; ओम् प्रकाश, हिसार; शव्वीर अहमद दाऊद, पुणे; लक्ष्मीनारायण शर्मा, वरौनी, शिवनारायण शिवहरे, सोहागपुर।

पुरस्कार के पार

आपको 'आँगन के पार द्वार' संग्रह पर साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला। पुरस्कार की खबर मिलने पर उस के प्रति आप की पहली मानसिक प्रतिक्रिया क्या हुई ?

असमजस की। पुरस्कारो के निर्णय तक पहुँचने की अकादेमी की पद्धति का मै बरसो से आलोचक रहा हूँ। जब मैं अकादेमी की 'हिन्दी सलाहकार समिति' का सदस्य था तब से ही समिति मे भी उस पद्धति की आलोचना करता रहा हूँ। तब भी और उस के बाद भी पत्र-पत्रिकाओं मे भी इस के विषय मे लिखता रहा हूँ। अकादेमी का पुरस्कार मुझे मिले, ऐसी आकाक्षा कभी नही रही; और उस के मिल सकने की सम्भावना पर भी कोई विचार मैंने नही किया। उस के प्रति विशेष सम्भावना का भाव मेरे मन मे नही था, न अब है। कारण कई बार दोहरा चुका हूँ। सब से पहला यह कि मेरी समझ मे एक राष्ट्रीय सस्था का पुरस्कार साहित्य पुरस्कार होना चाहिए—अर्थात् उस का निर्णय भाषा-वार चिन्तन से ऊपर उठ कर किया जाना चाहिए। दूसरे, मैं ऐसी कोई कसौटी नही जानता जिस पर शास्त्रीय अथवा शोध-साहित्य और कृति-साहित्य दोनो को समान रूप से कसा जा सके। दोनो कोटियो के लिए या तो अलग-अलग पुरस्कार होने चाहिए, या एक ही पुरस्कार आँतरे वर्ष एक-एक प्रकार के साहित्य के लिए दिया जाना चाहिए। तीसरे, यह बताया जाना चाहिए कि पुरस्कार का निर्णय किस के मत का प्रतिपादन करता है। एक तरीका यह है कि आप लोक-मत का सग्रह कर लीजिए। तब पुरस्कार मिलने से केवल इतना पता लगेगा कि अमुक रचना के प्रेमी अधिक है, वह 'लोकप्रिय' है। या फिर निर्णायक

समिति चुनिए और निर्णय उन के नाम से प्रकाशित कीजिए; तब निर्णायको की मर्यादा, प्रतिष्ठा और विवेकवत्ता के आधार पर यह निश्चय किया जा सकेगा कि पुरस्कार का वास्तविक महत्त्व क्या है। यदि निर्णायको मे हमारी निष्ठा है तो हम उस के निर्णय से सहमत न होने पर भी उस का मान करेगे; अगर निष्ठा नही है तो निर्णय का कोई मूल्य नही होगा। चौथे, निर्णय का आधार भी घोषित किया जाना चाहिए—अर्थात् पुरस्कृत ग्रन्थ के सम्बन्ध मे निर्णायको की सम्मतियाँ-संस्तुतियाँ प्रकाशित होनी चाहिए। एक अज्ञात-नामा समिति के एक अप्रकाश्य निर्णय के आधार पर पुरस्कृत होने मे इस से अधिक क्या सन्तोष हो सकता है कि पुरस्कार के रूप मे एक रकम मिल गयी ? मान रकम पर नही, निर्णायक द्वारा की गयी सस्तुति पर ही आधारित हो सकता है।

साहित्यकार के लिए सब से बड़ा पुरस्कार आप किसे मानते हैं—रचना-प्रक्रिया में होने वाला आत्म-साक्षात्कार, रचना की समाप्ति पर मिलने वाली राहत या संतुष्टि, पाठकों या आलोचको से प्राप्त प्रशंसा, अथवा किसी सरकारी या गैर-सरकारी संस्था से रॉयल्टी या पुरस्कार के रूप मे मिलने वाला धन ?

यह तो पुरस्कार की आप की परिभाषा पर निर्भर है। साहित्यकार के लिए सब से पहली और सब से बड़ी—और समझ लीजिए अनिवार्य आवश्यकता है वह चीज़ जिसे आप शायद 'राहत' या 'सन्तुष्टि' कह रहे है और जो वास्तव मे एक प्रकार की मुक्ति है। **हर कृतिकार कृति के द्वारा मुक्त होता है**। अगर उस मुक्ति का लाभ और बोध उस को नही होता, तो फिर उसने जो लिखा है वह रचना नही है। अगर होता है तो जहाँ तक रचना का प्रश्न है वह निष्पत्ति पा चुकी है। इस लिए अगर उस निष्पत्ति को ही आप पुरस्कार कहते है तब तो असल बात वही समाप्त हो गयी और बाकी लाभ आनुषगिक है। लेकिन अगर पुरस्कार का अर्थ यह है कि अच्छा कृतिकार प्रमाणित हो जाने पर कृतिकार को किसी के द्वारा कुछ दिया जाये—कुछ उस के सामने किया जाये ('पुरस्कार')—तो बात बिलकुल दूसरी हो जाती है। तब पुरस्कार का प्रश्न उसे पाने वाले के सामने उतना नही रहता जितना कि देने वाले के। 'ऐसे कृतिकार को

हम —यानी हम सामाजिक—क्या दें ?' यश, सम्मान, रॉयल्टी, इनाम? इस का शायद सामाजिक की ओर से भी कोई एक जवाब नही हो सकता, और कृतिकार की ओर से भी शायद एक जवाब नही होगा। दान या उपहार या भेंट मे हमेशा देने और पाने वाले व्यक्तियो के चरित्र, उन की प्रवृत्तियाँ, उन के गुण और उन की आवश्यकताएँ—तात्कालिक या स्थायी—अपना महत्त्व रखती हैं। 'जैसी जिस की पात्रता हो', 'जैसी जिस की श्रद्धा हो', इस तरह के सभी उत्तर अपने स्थान पर सही है क्यो कि वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि पुरस्कार के निर्णय का आधार पुरस्कार देने और पाने वाले के सम्बन्ध की परस्पर मंगलमयता पर होना चाहिए।

आप के विचार से, किसी राष्ट्र या भाषा के साहित्य के उत्थान मे इस प्रकार के पुरस्कारो का क्या योग-दान हो सकता है? इस से पुरस्कृत साहित्यकार को अधिक प्रेरणा मिलती है या उस की प्रत्याशा में अन्य साहित्यकारो को ?

इस का उत्तर बहुत दूर तक ऊपर के दो प्रश्नों के उत्तर मे हो गया है। प्रोत्साहन के लिए भी पुरस्कार दिये जा सकते है, लेकिन उन का स्वभाव बिलकुल अलग है। और ऐसे पुरस्कारो की योजना मे यह प्रतिज्ञा निहित होती है कि पुरस्कार देने वाला किसी न किसी रूप मे उसे पाने वाले से ऊँचाई पर है। अगर ऐसा दावा नही है तो किस आधार पर कोई निर्णय कर सकता है कि किस चीज को प्रोत्साहन देना चाहिए और किसे नही ? और अगर ऐसा दावा है तो यही पूछना रह जाता है कि दावा सही है या गलत। हम बच्चो को भी पुरस्कार देते हैं, विद्यार्थियो को भी पुरस्कार देते है। अगर कोई भाषा या साहित्य भी अपरिपक्व हो, तो उन के विकास मे सहायता देने के लिए भी पुरस्कार दिये जा सकते है। लेकिन स्पष्ट है कि ऐसा वही कर सकता है जो स्वयं परिपक्व हो—या कम-से-कम अपेक्षया अधिक परिपक्व हो। या पुरस्कार देने वाला कोई धनिक हो या कोई सम्पन्न संस्था हो तो वह ऐसे सलाहकारो की राय से पुरस्कार दे जो इस योग्य हो।

साहित्य-अकादेमी ने 'आँगन के पार द्वार' को पुरस्कृत किया

है। क्या आप भी इसे ही अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं ? यदि इसे नहीं तो और किसे ?

यह प्रश्न मुझ से क्यों पूछा जाना चाहिए ? और इस का मेरा उत्तर क्यो विश्वसनीय हो ? यों मैंने सुना है कि निर्णायकों मे भी कम-से-कम एक मत यह था कि **आँगन के पार द्वार** लेखक की सर्वश्रेष्ठ रचना नही है। और मैंने यह भी सुना है कि दो वर्ष पहले भी निर्णायको के सामने इस पुस्तक का नाम आया था और उन्होने इसे पुरस्कार के अयोग्य ठहराया था : उस वर्ष पुरस्कार दिया ही नही गया क्यो कि कोई भी पुस्तक इस के योग्य नही पायी गयी। नि.सन्देह यह हिन्दी के साथ दोहरा अन्याय हुआ, ऐसा मैं अपनी पुस्तक को अलग रख कर भी मानता हूँ; अन्य कुछ भाषाओं मे जो पुस्तकें पुरस्कृत हुई उन से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी में उपेक्षित हो गये। भाषा-वार चिन्तन के दोषो मे यह भी एक है। पर यह सब आप के प्रश्न का उत्तर तो नही है ! और ये सब निर्णय और विचार तो यो भी 'गुप्त' माने जाते है ; इस लिए यह भी मानना होगा कि मैं नही जानता कि इस वर्ष, या पिछले वर्ष निर्णायक कौन थे, कौन-सी पुस्तकें विचारार्थ उन के सामने आयी थी और किस की क्या राय थी।

जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, मैं अभी तक तो यही मानता हूँ कि मेरी सर्वोत्तम रचना अब से अगली रचना होगी। ऐसा न मानूं तो आगे लिखना थोड़ा और कठिन हो जाये। और फिर यह भी तो है कि जो लिख दिया जाता है वह लिखे जाने में ही पराया हो जाता है। "मैं सच लिखता हूँ, लिख-लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ।"

आँखों देखी और कागद लेखी

आत्मकथ्य के रूप मे मैंने कभी कुछ प्रस्तुत न किया हो, ऐसा नही है पर **मेरी दृष्टि मेरी सृष्टि** के सामान्य शीर्षक के अधीन कुछ कहने मे मुझे सकोच होता है। पहले भी होता; अब वहुत अधिक होता है क्यो कि वढता हुआ अनुभव 'मै' की सरचना के वारे मे ही इतना कुछ मिखा रहा है कि दृष्टि सृष्टि को 'मेरी' कहने की अहन्ता की नीव हिल जाती है। फिर रचना का आग्रह निवाहते हुए भी अपनी करनी को 'सृष्टि' कहना कुछ कम अहम्मन्य नही लगता। दृष्टि मेरी नही है यह तो नही कहता, पर 'सृष्टि' के वरावर उसे रखने पर उस का जो अर्थोत्कर्प होता है वह भी झिझक पैदा करता है। सोचता था कि 'मेरी स्थिति मेरी कृति' कहने से शायद इस सकट से वच सकूं और साथ ही विपय पूरी माला से जुडा हुआ-सा जान पडे (और तुक का भी निर्वाह हो जाये !)—पर स्थिति की वात भी कैसे कहूँ जव निरन्तर यात्रा करता आया हूँ ? अत इस भूमिका के साथ अपनी सारी वात को एक तदर्थ पद दे कर ही आरम्भ करता हूँ।

मैं वार-वार कहता आया हूँ, और आज भी दोहराता हूँ, वही से आरम्भ करता हूँ, कि अगर कोई वास्तव मे कृतिकार है तो उस की दृष्टि जो कुछ है उस की कृति मे ही दीखनी चाहिए और उसी से उस को पहचानना और ग्रहण करना चाहिए। उस के बारे में जो-कुछ वह कहता है, उस से यह तो सम्भव है कि नया कुछ जानने को मिले, लेकिन जो उस ने कहा है उसे ज्यो का त्यो स्वीकार नही कर लेना चाहिए। उस पर आँख मूंद कर विश्वास नही करना चाहिए। मै स्वय भी किसी दूसरे के कहे पर नही करता। और आप को शुरू मे यह चेतावनी देना चाहता हूँ कि मै अभी आप के सामने जो कुछ निवेदन करूँगा उस से या अपनी 'दृष्टि' के वारे मे मैने जव भी जो कुछ कहा है उस से, आप को नया

या उपयोगी कुछ मिलता हो तो ठीक है, लेकिन ज्यों का त्यों उस पर विश्वास न कीजिए। यह इस लिए नहीं कि उस मे कोई छल है। दृष्टि के बारे में तो कहीं भी, और खास तौर से जब यह प्रश्न रचनाकार के सामने आता है तो उस के पास, कोई बने-बनाये उत्तर नहीं होते। रचनाकार जब-तब जो उत्तर देता भी है वे सब तात्कालिक या आरजी उत्तर होते हैं; वास्तव में वे सोचने की प्रक्रिया का एक अंग होते हैं। किसी बात पर पहुँच कर वह उसे बता रहा हो ऐसा नहीं होता—पहुँचने के प्रयत्न में ही वह कुछ कह देता है। इतने से ही उस पर कोई ऐसी लाचारी नहीं आती कि वह उस से बँध जाये। दो दिन बाद अगर आप उस से पूछें कि 'दो दिन पहले तुम ने यह कहा था, आज इस के बारे मे तुम्हें क्या कहना है?' तो वह यह उत्तर भी दे सकता है कि 'मुझे याद नहीं कि मैंने परसों वह कहा था', यह भी कह सकता है कि 'परसों मैंने वैसा कहा था पर आज नहीं कह रहा हूँ।' यहाँ तक कि वह यह भी कह सकता है कि 'परसों मैंने जो कहा था क्या जरूरी है कि आज मैं जानता होऊँ ही कि उस का मतलब क्या था?' कवियों ने ऐसे उत्तर दिये भी हैं। एक कवि के बारे मे तो प्रसिद्ध ही है कि उस से उस की एक कविता का अर्थ पूछा गया तो उस ने कहा : 'जब मैंने लिखी थी तब दो जन उस का अर्थ जानते थे—एक भगवान् और एक मैं; अब तो सिर्फ भगवान् ही जानता है।' यह बात सच भी है। लेकिन आप, जैसा मैंने कहा, इस को ज्यों का त्यों मानेंगे तो यह पायेंगे कि यह विश्वसनीय नहीं है, एक अंश में झूठ है। कवि जानता है कि उस का अर्थ क्या है, लेकिन बता नहीं सकता। अगर दूसरे शब्दों मे बता सकता तो उन शब्दों मे लिखता क्यों जिन में पहले लिखा था!

फिर भी एक हद तक मैं इस तरह की जिज्ञासा को संगत भी मानता हूँ कि आज के युग मे कवि से भी यह प्रश्न पूछा जाये कि उस की दृष्टि क्या रही है और उस समय क्या है। उस की कही हुई बातो के सन्दर्भ मे उस की कृतियो की नये सिरे से पहचान करने में भी सहायता मिल सकती है। और नहीं तो इसी लिए कि हम लोग आज एक पूर्वग्रहों-दुराग्रहों से दूषित वातावरण मे रहते हैं जहाँ किसी रचना को समझने वाले, मनन करने वाले, लोग कम हैं। अध्यापक लोग भी समझाने का प्रयत्न नहीं करते, समझ को विकृत करने का प्रयत्न अधिक करते हैं। सब अध्यापक जान-बूझ कर ऐसा करते हो ऐसा नहीं है, लेकिन वे यह मान कर चलते

है कि पहले उन को इस पर कोई अन्तिम निर्णय दे देना है कि कृति अच्छी है या बुरी है या कि सच्ची है या नकली है; और समझाने की बात बाद मे शुरू होती है। यह प्रचलित विश्वविद्यालयी शिक्षा का एक पहलू है कि हर अध्यापक समझता है कि किसी चीज़ को समझना-समझाना आवश्यक नही है, उस के मूल्य पर पहले निर्णय ले लेना आवश्यक है। मैने कहा कि सब अध्यापक ऐसे नही है; और कुछ जो यह करते है वे जान-बूझ कर ऐसा नही करते; लेकिन बहुत दूर तक यह होता है।

यह एक दु खद परिस्थिति है कि कवि अपने वकील भी हो बैठते है। ऐसा नही होना चाहिए। पर आधुनिक युग की लाचारियो मे से—कवि और काव्य दोनो का अहित करने वाली लाचारियो मे से—एक है कि आज-कल अधिकाश कवि अपने वकील है। इस समय कम से कम मै अपने वकील के रूप मे पेश नही हूँ, अभियुक्त के रूप मे ही खडा हूँ। लेकिन अभियुक्त के रूप मे भी अपनी सफाई तो दे ही रहा हूँ!

अपनी दृष्टि की बात करते हुए भी जब सोचने बैठता हूँ कि किन-किन विषयो की चर्चा हो सकती है और कैसे उन को अलग-अलग किया जा सकता है या किसी क्रम मे रखा जा सकता है, तो पाता हूँ कि बहुत से ऐसे विषय है जिन मे मेरी रुचि रही है और जिन के बारे मे मेरी जिज्ञासा ने और मेरे विचारो ने मेरी रचना को प्रभावित किया है। अगर ऐसा है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या उन सब की चर्चा होनी चाहिए या उन मे से कुछ छोड दिये जाने चाहिए? अगर कुछ छोडता हूँ तो क्या इस को भी एक प्रकार का सकेत नही माना जायेगा कि अमुक-अमुक विषयो को मैंने महत्त्व दिया और अमुक-अमुक को छोड दिया? क्या इसी को एक दृष्टि नही माना जायेगा? अवश्य माना जायेगा! लेकिन ये प्राय सभी प्रश्न एक-दूसरे से जुडे हुए है। कैसे इन को अलग किया जा सकता है, मै नही समझ पाता हूँ। उदाहरण के लिए मै ने सोचा कि *'यथार्थ'* के बारे मे मेरी दृष्टि क्या रही उस की चर्चा करूँ, तुरन्त मै ने पाया कि भाषा की समस्या की चर्चा किये बिना मै यथार्थ की चर्चा नही कर सकता। दूसरी तरफ मै ने पाया कि समाज की चर्चा किये बिना भी नही कर सकता, समाज की चर्चा करता हूँ तो फिर समाज की समस्याओ पर चर्चा अनिवार्य हो जाती है, संस्कृति की चर्चा भी अनिवार्य हो जाती है। संस्कृति की चर्चा की ओर बढता हूँ तो धर्म

और परम्परा की चर्चा आवश्यक हो जाती है; फिर दर्शन की समस्याएँ उभर आती है, मनुष्य की क्या अवधारणा है उस की चर्चा आवश्यक हो जाती है। मनुष्य की चर्चा करता हूँ तो स्वाधीनता की चर्चा अनिवार्य हो जाती है; स्वाधीनता की चर्चा करता हूँ तो राजनीति की और समकालीन समाज की, सामाजिक यथार्थ की, चर्चा आवश्यक हो जाती है। इस लिए कही से भी आरम्भ करता हूँ तो वहुत से एक-दूसरे से जुड़े हुए प्रश्न सामने आ जाते हैं; कही किसी को काट कर अलग रख देना सम्भव नही है। लेकिन ऐसी चर्चा की, समय की, मेरी वाणी और लेखनी की शक्ति की—और आप लोगो के धैर्य की भी !—एक सीमा है। इस से इस चर्चा के आयाम अपने-आप सीमित हो जाते है।

यह जानते हुए कि चर्चा मे जो विपय छूट जायेगा या पीछे रह जायेगा उस के वारे मे यह समझा जायेगा कि मैने उस को कम महत्त्व का समझा, मैं समझता हूँ कि मैं आरम्भ करूँगा तो मानव की चर्चा से ही आरम्भ करूँगा और स्वाधीनता की चर्चा से आरम्भ करूँगा। अन्यत्र एकाधिक वार कही गयी वातें दोहराना नही चाहता, लेकिन एक वात कहना चाहता हूँ। मनुष्य की स्वाधीनता की चर्चा आरम्भ मे इस लिए आवश्यक हो जाती हैं कि जव मैं कहता हूँ 'मेरी दृष्टि', तो सव से पहले इस पहले शब्द पर ही अटक जाता हूँ। 'मेरी' का क्या मतलव है ? अगर मेरी कोई दृष्टि है तो उस दृष्टि के लिए—या किसी भी चीज के लिए—मैं उत्तर-दायी तो तभी हो सकता हूँ जव मैं स्वाधीन कर्मी होऊँ। अगर मेरा कर्म स्वाधीन नही है तो मै उस के लिए उत्तरदायी नही हूँ ! सिर्फ स्वाधीन कर्मी होने के दावे के साथ ही मैं यह कह सकता हूँ कि यह 'मेरा' कर्म है। अगर मैं स्वाधीन नही हूँ तो जो कुछ है वह मैं ने नही किया है, चाहे वह मेरे ही निमित्त से हुआ; और जव मैं ने नही किया तो उस के लिए मैं उत्तरदायी नही हूँ। तो उत्तरदायी होने के लिए पहली शर्त स्वाधीन होना है। क्या मैं स्वाधीन हूँ ? मै मानता हूँ कि हूँ।

जिसे हम मानव कहते है उस के लिए जापानी भापा मे जो शब्द है उस मे दो धातु हैं और उन को जोड़ कर उस का अर्थ वनता है। एक का अर्थ 'मानव' नही है, 'मानवीय' है, मैन नही ह्यूमन, दूसरे का अर्थ है 'मध्यवर्ती'। तो 'मनुष्य' वहाँ नही होता, वहाँ 'मानवीय मध्यवर्ती' होता है। जव हम मानव की जापानी सज्ञा निङ्जेन सुनते है और उस का अर्थ वताया जाता है 'मानवीय मध्यवर्ती', तव स्वाभाविक है कि यह प्रश्न उठे

कि यह मध्यवर्ती किस के और किस के मध्य है ? अगर कोई भारतीय और कोई हिन्दू यह अर्थ सुनता है तो अपने संस्कार के अनुरूप वह यह अनुमान करता है कि इस का अर्थ या तो यह होगा कि देवता और पार्थिव के बीच उस की स्थिति है, ईश्वर के और मिट्टी के; याकि देव और दानव के, ईश्वर और पशु के—इन दोनो के बीच मध्यवर्ती। या वह यह समझेगा कि आकाश और धरती के बीच उस की स्थिति है—वहाँ वह मानवीय मध्यवर्ती है। लेकिन इस तरह के सभी अनुमान गलत होगे। किसी जापानी से पूछिए, वह इस का उत्तर यह देगा कि यह तो कोई चिन्ता का विषय नही है। मानवीय मध्यवर्ती वह है जो अन्य मध्यवर्तियो और मध्यवर्तियो के बीच मध्यवर्ती है—**ह्यूमन बिट्वीन बिट्वीन अदर ह्यूमन बिट्वीन्स एड ह्यूमन बिट्वीन्स**। अब आप इस पर थोडा विचार करिए तो इस का मतलब यह होता है कि मनुष्य को सत्ता के रूप मे स्वीकार न कर के पूरी तरह से सापेक्ष कर दिया गया है। मनुष्य है क्या, यह तो पता नही। वह दूसरे मध्यवर्तियो के बीच एक मध्यवर्ती है। मध्यवर्ती किस के और किस के बीच—इस का कोई जवाब नही है। मध्यवर्तियो की एक अनन्त परम्परा है, कोई उस का छोर नही है।

अगर मनुष्य की ऐसी अवधारणा किसी समाज या किसी सस्कृति मे है तो अनिवार्यतया उस के बहुत से परिणाम भी उस समाज मे लक्षित होगे। उस का सामाजिक आचरण एक विशेष प्रकार का होगा; और यह जो मध्यवर्ती होने की परिस्थिति है, उस मे हमेशा एक निर्णायक तर्क यह होगा कि 'दूसरे मध्यवर्ती इस कर्म के बारे मे क्या सोचेगे ?' इस समाज का होने पर मै उस अर्थ मे 'स्वाधीन कर्मी' कुछ कम हो जाऊँगा जिस की मैं चर्चा कर रहा हूँ अगर एक मध्यवर्ती का कर्म दूसरे मध्यवर्तियो द्वारा नियन्त्रित और अनुशासित होगा। इस को पश्चिम के नृतत्त्ववेत्ता इस रूप मे कहते है कि 'जापान की सस्कृति एक **शेम कल्चर** है', वहाँ पर इस बात का असर बहुत ज्यादा होता है कि अमुक कर्म के लिए दूसरे क्या सोचेगे—क्यो कि हर कोई दूसरो और दूसरो के बीच मे एक और दूसरा है। ऐसे कोई सनातन मूल्य हो जिन के आधार पर वह कह सके कि मेरा यह कर्म सही है या गलत है, यह बात कुछ नीचे हो जाती है, यही बात प्रधान हो जाती है कि इस मध्यवर्ती जैसे दूसरे मध्यवर्तियो के बीच इस का मध्यवर्तितव कैसा, क्या होगा।

दूसरी तरफ अगर मै देखता हूँ कि पश्चिम की सस्कृति मे मानव क्या

है और सोचता हूँ कि उस की 'ईश्वर के बेटे' या ईश्वर के बेटे की प्रजा के रूप में परिकल्पना की गयी है, तो स्वाधीनता की एक दूसरी अवधारणा सामने आती है। कर्म कहाँ तक 'स्वाधीन' है और उत्तरदायित्व का क्या रूप होता है, इस की अवधारणा और परिभाषा बिलकुल बदल जाती है। अब बिना इस प्रश्न को उठाये कि इन दोनो मे से कौन-सा सच है, या कौन-सा नहीं है, इतना कहना यहाँ पर पर्याप्त है कि मैं जानता हूँ कि यह एक परिभाषा भी आज एक सभ्य, समृद्ध, सम्मान्य देश और समाज मे प्रचलित है और वह दूसरी परिभाषा भी बहुत देशो के समूह में, ऐसे सभ्य, संस्कृत, सम्पन्न देशो के समूह में जिन की ओर हम आँख उठा कर देखने के आदी हैं, प्रचलित है। लेकिन यहाँ की, भारत की परम्परा मे पला हुआ मैं, जब यह सोचता हूँ कि 'मैं कौन हूँ', या 'मनुष्य क्या है', याकि स्वाधीनता का क्या अर्थ है, तब इन दोनो दृष्टियो को ध्यान मे रखते हुए भी मेरे सामने एक तीसरे वर्ग की चिन्ता आती है। क्यो कि मैं कर्ता हूँ, अतः जो मैं करता हूँ वह मैं ही करता हूँ; पर कहाँ पर या कहाँ तक मेरा कर्तृत्व निर्दिष्ट है ? और ऐसी कोई मर्यादा है तो उसे ध्यान में रखते हुए कहाँ तक उस कर्म के लिए उत्तरदायी हूँ ? यो एक तीसरे उत्तर तक मैं पहुँच जाता हूँ।

यहाँ से आगे बढ़ने से पहले मैं कुछ संकोच के साथ और क्षमा-याचन-पूर्वक कुछ अधिक व्यक्तिगत चर्चा करना चाहता हूँ। मैंने कहा कि व्यक्तिगत चर्चा प्रासंगिक नही होती और जहाँ तक उस से बचा जाये अच्छा ही होता है, तब यहाँ इस के बावजूद क्यों यह चर्चा कर रहा हूँ यह भी स्पष्ट करूँगा।

मेरा जन्म उत्तर प्रदेश के— उसे एक कस्बा भी नही कह सकता, गाँव भी नही कह सकता—खंडहर के पास एक खेत मे हुआ। मेरे पिता प्राचीन इतिहास और सस्कृत के पंडित थे; पुरातत्त्व मे उन की रुचि भी थी और उन का काम भी पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज का था। कुशीनगर की खुदाई वह करवा रहे थे कि वहीं शिविर के निकट मेरा जन्म हुआ। वहाँ खँडहरो के सिवा कुछ नही था। उस के बाद थोडा समय हिन्दी-भाषी प्रदेश मे बिताने के बाद, मेरा अधिकांश जीवन हिन्दी प्रदेश से बाहर बीता, हिन्दी समाज से बाहर बीता। बल्कि यह कहना चाहिए कि **किसी भी समाज से बाहर** बीता। क्यो कि पिता का काम पुरातत्त्व का था, वह लगातार एक खँडहर से जा कर दूसरे खँडहर मे खोजते रहते थे। इतना अकेला रहना उन्हे अच्छा नही लगता था इस लिए परिवार के जितने भी सदस्य हो उन

के साथ जगलो मे, खँडहरो मे घूमते थे। कही थोडे दिन के लिए समाज मिलता भी था तो उसे समाज कहना एक विशिष्ट अर्थ मे ही सगत था : पिता के कुछ 'समान शील व्यसनी' उस मे होते भी तो हमारे लिए आत्मीयता की सम्भावना नही बन पाती थी—उदाहरण के लिए कुछ समय नालन्दा की खुदाई करवाने के साथ-साथ पिताजी पटना संग्रहालय के निदेशक भी रहे, पटना मे भी रहने का सुयोग हुआ। यो शहर मे रहना तो हुआ, लेकिन आप सोच सकते है कि जो निरन्तर स्थान वदलता रहता है उस के लिए समाज का अर्थ क्या होता है और जो किसी एक ही समाज मे आरम्भ से जन्मा, पला, शिक्षित हुआ उस का समाज क्या होता है। तो मै जिस अर्थ मे **आउटसाइडर** की चर्चा होती है उस अर्थ मे नही, पर वस्तुत· अपने 'समाज' मे **आउटसाइडर** रहा। लेखकीय संवेदन के नाते नही, वास्तव मे मेरी स्थिति यह रही कि किसी भी समाज से उस तरह की एकात्मता नही हुई जैसी किसी घर-परिवेश के साथ उस आदमी की होती है जो उस घर-परिवेश के अन्दर रहता है। मैने घर के अन्दर जब-तब रहते हुए भी उस घर को वाहर से देख-देख कर ही पहचाना। यह नही है कि वह भी एक पहचान नही होती, घर को वाहर से भी देख कर उस की एक पहचान होती है और घर के भीतर रह कर भी एक पहचान होती है—पर दोनो अलग-अलग होती है और अलग-अलग ढंग की छाप छोड़ती है।

फिर मेरी शिक्षा पिता जी के स्थानान्तरण के साथ-साथ कुछ दक्षिण भारत मे हुई, कुछ कश्मीर मे हुई। न तो यह हिन्दी प्रदेश था, न वहाँ मेरा कोई अपना समाज था। परिवार की पहचान तो मुझे थी, लेकिन परिवार के आगे समाज की पहचान के अवसर मुझे कम मिले। क्योकि आस-पास कुछ और लोग भी रहते है—अलग-अलग समाजो के सदस्य—इतने-भर से समाज नही वनता। मेरे पाठक के नाते आप का मूल भाव मेरे प्रति विरोध का ही हो, तो आप इस स्वीकारोक्ति पर कहेगे कि 'अव समझ मे आया कि क्यो यह व्यक्ति आरम्भ से असामाजिक प्राणी रहा है', वैसा भाव न हो तो आप सोचेगे कि 'इस व्यक्ति की कुछ सीमाएँ भी रही, जैसी औरो की भी होती है'। और अगर आप का मनोभाव सहानुभूति का हो तो आप यह भी देख सकेगे कि इस परिस्थिति से अपने समाज को देखने की एक तरह की तटस्थता मुझे मिली। इतना ही नही, आप शायद यह भी देख सकेंगे —और अगर देखे तो इसे मैं अपना सौभाग्य समझूंगा—कि नि सग और तटस्थ दृष्टि की इस सम्भावना का मैने कुछ उपयोग भी किया।

इस परिस्थिति का एक और लाभ मुझे मिला : भापा के सम्बन्ध मे दुराग्रहो से मैं अपेक्षया मुक्त रहा। एक तरह से मेरी भापा मे सीमा और विशेषता भी आप पहचान सकते है। आरम्भ से मेरी शिक्षा हिन्दी मे हुई —उस हिन्दी मे जिस का मैं इस समय उपयोग कर रहा हूँ : जिस मे पुस्तकें लिखी जाती है। आरम्भ से ही, घर मे भी, यही भापा वोली जाती थी। 'वोली' के रूप मे भी वही भाषा थी जो अध्ययन-विवेचन की भी भापा थी, जो पुस्तकों मे भी लिखी मिलती थी। ऐसे वहुत कम लोग होगे जिन की परिस्थिति ऐसी रही होगी। आम तौर पर हिन्दी के आज जो लेखक है वे घर पर एक 'वोली' वोलते है—वह वोली हिन्दी की भी हो सकती है या दूसरी भी—पर विचार-विमर्श के लिए दूसरी और 'साधु' भाषा से काम लेते है। वे सस्कृत या अग्रेज़ी मे सोचते है और हिन्दी मे लिखते हैं। यह वहुत वडी कठिनाई हम मे से अधिकांश लोगो के साथ है। मैंने कहा कि मेरा सौभाग्य रहा—सौभाग्य की सीमा होती है और सीमा मे एक सौभाग्य होता है, और दोनों मुझे मिले—कि मै आरम्भ से हिन्दी वोलने, हिन्दी में सोचने और हिन्दी मे लिखने वाला रहा—पर यह सभी साधु हिन्दी मे। आज भी हिन्दी जव वोलता हूँ तो एक तरफ कह सकता हूँ कि सहज भाव से, विना अटक या मानसिक अनुवाद के, वोलता हूँ; दूसरी तरफ यह वात भी उतनी ही सच होगी कि यह हिन्दी 'साधु' साहित्यिक भापा है, 'सहज' भापा नही है। मेरे लिए सहज हो कर भी नही, क्यों कि भापा की कसौटी तो समान है।

जिस समाज में मैं रहता हूँ उस की पहचान भी मैंने वाहर से की है वहुत-सी चीज़ें जो कि मैं जानता हूँ, जो मेरे आस-पास के लोगो को समाज के अंग और व्यवहार के रूप मे नियन्त्रित करती है, मेरे ऊपर कभी हावी नही हुई। उन से जो तनाव पैदा होता है, जिसे मै आस-पास देखता हूँ, जिसे इस लिए 'सच' मानना हूँ, और जिस की पहचान करना आवश्यक समझता हूँ, उस का मेरे लिए अपने जीवन मे महत्त्व कभी नही हुआ। मैं समाज मे काफी निर्लिप्त व्यक्ति के रूप मे रह सका। उदाहरण के लिए जात-पाँत के वन्धन—मै जानता हूँ कि ये हमारे समाज मे एक प्रवल सत्ता है : पर मैंने अपने को उन से वँधा हुआ कभी नही पाया या माना। वडी आसानी से मैं वे सारे नियम तोड सकता हूँ . तोडता आया हूँ और कभी 'तोड़ने' की नौवत नही आयी क्यो कि जो वन्धन मुझे वन्धन-सा अखरा ही नही उसे मैंने 'तोडा' भी क्या, वह तो अनहोना ही रह गया !

और उतनी ही आसानी से, उतने ही निर्द्वन्द्व भाव से, मैं जिस समय मे हू उसके कुछ नियम शिष्टाचार या शालीनतावश मानने लायक जान पड़ने पर उनको मान भी लेता हूँ : इस को ले कर मन मे कोई ग्लानि या अवसाद या अपराध का वोध भी नही होता और ऐसे नियम तोडने पर भी कोई अपराध का भाव, चिन्ता या तनाव नही होता। लेकिन अगर कोई कहे कि मेरे साहित्य मे कोई 'होरी' नही है, तो होरी का न होना स्वाभाविक है; उस से उस तरह का सम्वन्ध मेरा हो ही नही सकता था जैसा कि प्रेमचद का **गोदान** के होरी के साथ हो सकता था। लेकिन दूसरी तरफ प्रेमचद का कोई वास्तविक सम्वन्ध मालती या मेहता के माथ नही हो सकता था और नही हुआ जव कि मेरा हो सकता था। उम वर्ग के प्रेमचन्द के चरित्र कोई भी मुझे विश्वसनीय नही जान पडते। वे चरित्र उन के समाज के उस तरह के अग नही थे जैसे वे मेरे समाज के अग थे। उन की भाषा, उन के सोच का ढाँचा कुछ अलग प्रकार का होता था और उस की पहचान प्रेमचन्द को नही थी। यह मैं उन के साहित्य की पहचान के मन्दर्भ मे ही कह रहा हूँ। इस मे न उन के प्रति कोई निन्दा का भाव है, न आत्मप्रशसा का। मैं केवल उन की और अपनी परिस्थितियो के साथ इस वात को जोड रहा हूँ कि कुछ खास तरह की पहचान मेरे लिए सम्भव थी क्यो कि एक खाम तरह की दूरी या तटस्थता मुझे सुलभ थी और एक दूमरी तरह की पहचान उनके लिए सम्भव थी क्यो कि एक खास तरह की निकटता उन को सुलभ थी जो कि मेरे लिए सम्भव नही थी।

ये निजी वाते कहना मैने इस लिए उचित और आवश्यक समझा कि निरन्तर, जव से मैने लिखना आरम्भ किया, और वह भी हमेशा हिन्दीतर भाषा के वातावरण मे, हिन्दीतर भाषा के समाज मे रहते हुए, तो यह प्रश्न मेरे सामने हमेशा रहा कि एक जीवन्त भाषा की, रचना की भाषा की, पहचान मुझ को कैसे होगी, उम का उपयोग मैं कैसे कर सकूँगा, उसे कैसे जी सकूँगा ? यो आप कहे तो भाषा के वारे मे एक अतिरिक्त सतर्कता भी मुझ मे रही। यह सकट लगभग कभी नही रहा कि जो हिन्दी मे लिखता हूँ उस का एक छोर हिन्दी की या दूसरी किसी भाषा की किसी 'वोली' के चौखटे से वँधा लगता है। वल्कि थोडा-सा सकट दूसरी तरफ से हुआ : अन्विति या सरचना मे अग्रेज़ी के चौखटे का वह कुछ प्रभाव हो सकता है। पर भाषा की चेतना थी तो इधर भी सतर्कता थी। जो हो, आप उस भाषा की ओर देखे तो आप पायेगे कि जो लोग 'वोली' से हिन्दी मे,

आते हैं उन की भाषा में—अगर वे अंग्रेज़ी भी जानते हैं और अंग्रेज़ी मे सोचते रहे है तो—अंग्रेज़ी वाले चौखटे का प्रभाव उस से कुछ अधिक ही होता है क्यो कि उन के लिए बीच की भाषा--जो वे लिख रहे हैं—वह दो तरफ़ से आक्रान्त होती है, जब कि मेरे लिए वह थोडी-सी एक ही तरफ़ से आक्रान्त होती है। जब मैं अपने समकालीनों को, अच्छे हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों को—देखता हूँ, पाता हूँ कि वाक्य-रचना मे जहाँ वे अनुवाद नही भी कर रहे हैं, वहाँ भी उन के वाक्यो मे निहित अंग्रेज़ी ही होती है। और जब वे अनुवाद नहीं कर रहे है, हिन्दी ही लिख रहे है, तब भी स्वय उन को यह बात खटकती नही—और मुझे यह फौरन खटक जाती है। हालाँकि मैं अनुवाद का काम उन की अपेक्षा कहीं अधिक करता हूँ—अंग्रेज़ी से हिन्दी और हिन्दी मे अंग्रेज़ी दोनों। उस का कारण यही है, जैसा मैं ने कहा, कि एक संस्कारयुक्त हिन्दी मे ही मैंने पहले-पहल बोलना सीखा, उसी मे सोचना सीखा। तो हिन्दी का संस्कार मेरा इतना गहरा था कि मातृ-भाषा का जो प्रभाव लिखी-पढी भाषा पर होता है या एक चिन्तन-विवेचन की और उपार्जित भाषा का जो प्रभाव होता है, उन दोनों के दबावो को ज्यादा आसानी से पहचान सका और उन दोनो से ज्यादा आसानी से अपने को बचाये रख सका।

भाषा की चर्चा कर रहा हूँ तो एक बात और भी कहना चाहता हूँ। मैंने कहा है और लिखा है कि भाषा अस्मिता के साथ जुडी हुई होती है। अभी दो दिन पहले एक सभा में 'भाषा की अस्मिता' पर कुछ विचार हो रहा था तो मैंने कहा था कि भाषा की अस्मिता के साथ-साथ हमे 'अस्मिता की भाषा' पर भी विचार करना चाहिए। कितनी गहराई में हमारी अस्मिता, हमारी अपनी पहचान, हमारी अपनी भाषा के साथ जुड़ी हुई होती है और कितने गहरे में हमारी भाषा इस बात से प्रभावित होती है कि किस भाषा में हम अपने को पहचान रहे है और उस पहचान मे से कौन-सी भाषा निकल रही है। यह सम्बन्ध हमारी भाषा को भी निरूपित और नियन्त्रित करता है और हमारी अपनी पहचान को ही प्रभावित नही करता बल्कि यथार्थ को हमारी पहचान को भी प्रभावित करता है। अगर यथार्थ को पहचानने वाला मैं हूँ और उस 'मैं' की पहचान भाषा के साथ बँधी हुई है, तो स्वाभाविक है कि यथार्थ की पहचान भी भाषा के साथ बँधी हुई हो।

इस सुविधा और सौभाग्य के बावजूद कि मैं शुरू से ही हिन्दी का

व्यक्ति रहा, मै यह समझता रहा कि भाषा अस्मिता के साथ जुडी हुई है और मेरी भाषा आक्रान्त नही है। 'हिन्दी को खतरा है, हम उसे बचायें' —यह नारा मेरी समझ मे कभी नही आया। 'हमे खतरा है जिस से हिन्दी हमे बचा सकती है'—यह बात ज्यादा सही जान पडती रही। भाषा इस लिए आक्रान्त है कि अस्मिता आक्रान्त है। बार-बार हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि हम है कौन ? भाषा के बारे मे हमे चिन्ता होती है तो केवल इस लिए नही कि भाषा आक्रान्त है ' भाषा भी एक तरह आक्रान्त है, पर वह सकट दूसरे प्रकार का है ! आज भाषा पढने-लिखने-बोलने वाले जितने है उन की अपेक्षा ज्यादा समर्थ और ज्यादा सत्ता-संपन्न वे लोग है जो 'भाषा' बनाने वाले है—और जो भाषा को बनाते-बनाते भाषा समाज को बना रहे है ! लेकिन 'हम कौन हैं', इस सवाल का जवाब इन भाषा बनाने वालों पर निर्भर नही है, इन से अलग है। फिर भी जवाब बार-बार हमारे लिए सन्दिग्ध हो जाता है, और इस लिए भाषा के सम्बन्ध मे हम को नाना प्रकार की चिन्ताएँ होती है। और अगर उस स्तर पर हमे सन्देह नही होता या दुश्चिन्ता नही होती, तो भाषा के बारे मे भी हमे कोई चिन्ता नही होती, नही होनी चाहिए। जिसे मैंने हिन्दी कहा—चाहे तो विशेषण जोड कर उसे 'परिनिष्ठित' या 'साधु' हिन्दी भी कह सकते है —उस मे चालीस-एक भाषाओ के शब्द हैं। हम जानते भी नही कि अधिकतर जिन शब्दो से हमारा काम चलता है उन मे कितने हिन्दी के क्षेत्र के बाहर से आये है बल्कि भारत से भी बाहर से आये है; विदेशी मूल के शब्द है और हमारी भाषा मे ऐसे खप गये है कि हम उन्हे अलग पहचान नही सकते। अगर कोई कहता है कि अमुक शब्द बाहर का है तो हम चौंकते है और एकाएक हमे विश्वास भी नही होता। जैसे हम पहनावे से ही आरम्भ करे तो जो कुछ हम पहनते है उस के नाम प्राय. विदेशी है। एक धोती नाम ही भारतीय या सस्कृत मूल का है और एक साडी शब्द है जो सस्कृत मूल का है। बाकी जो भी हमारा पहनावा है, हमारी कल्पना मे चाहे देशी हो या विदेशी, सब के नाम बाहर के है– यानी सब पहनावा पराया है ! लेकिन फिर भी उस को लेकर हमे अस्मिता के मामले मे कोई संकट नही जान पडता रहा—इधर हाल तक।

पर इधर लेखको मे भी ऐसे लोग हो गये है जिन को अपने को भारतीय कहने मे भी झिझक होती है, जो कहते है कि मेरे लिए इस बात का कोई महत्त्व नही कि मैं भारतीय हूँ या नही हूँ, जो कहते है कि इस बात का भी

कोई महत्त्व नही कि मैं भारत की किसी भाषा में लिखता हूँ या बाहर की भाषा में लिखता हूँ; जो मानतेहैं कि इस सब से कोई कठिनाई उन के सामने नही आती। वे नही देखते कि यही कितनी बड़ी कठिनाई है कि वे कठिनाई के बोध से भी परे चले गये है!

लेकिन मैं भाषा की चर्चा कर के भाषा तक ही सीमित नही रह जाना चाहता,क्यों कि एक कृतिकार के लिए इतना ही काफी नही है। मैंने कहा कि भाषा के साथ अपनी पहचान का प्रश्न जुडा हुआ है और यथार्थ की पहचान का भी प्रश्न जुडा हुआ है। आज के सभी लेखक अपने को यथार्थ के लेखक मानते हैं। मैं भी मानता हूँ। लेकिन असल प्रश्न यह मान लेने के बाद आरंभ होता है। क्यों कि मान लेने के बाद हम पाते है कि सब के अपने-अपने अलग यथार्थ हैं लेकिन भाषा सब की एक है। भाषा मूलत: वह चीज़ होती है जो एक और अनेक के बीच एक समान प्रतिज्ञा पर निर्भर होती है। हम लोग आम तौर पर अपने सामाजिक प्रयोजनों के लिए भाषा से काम लेते हैं। निजी प्रयोजनों में से अधिकतर ऐसे हैं जो कि बिना भाषा के सिद्ध हो जाते हैं। क्यों कि दूसरो से जो प्रयोजन होता है उस के लिए भाषा काम आती है, इस लिए दो पक्षों में कुछ समान कन्वेंशन या प्रतिज्ञा या 'समय' उस के लिए अनिवार्य होता है। लेकिन यह जो हमारे लोकव्यवहार की भाषा होती है, रचनाकार उस भाषा से आरम्भ तो करता है, लेकिन—उस को कभी नकारे बिना—उसकी सीमा मे बँधा नही रहता। उस की शब्दावली वही होती है, उस के व्याकरण के नियम वही होते हैं, कभी-कभी कुछ थोडा-बहुत व्यतिक्रम होता है लेकिन व्यतिक्रम के भी नियम होते हैं और प्राय वही जो दो पक्षो के बीच जाने हुए हैं। पर लेखक को इस से आगे भी जाना होता है; और जब जाना होता है तो वह उन शब्दों का भी उपयोग करता है जिन के बारे मे कोई समान प्रतिज्ञा नही है। और जाने हुए शब्दों का भी 'समय' के बाहर 'नया' उपयोग करता है। जब ऐसा होता है, जहाँ ऐसा होता है, वहाँ सम्प्रेषण की कठिनाई आती है। यह सम्भव है कि कवि किसी शब्द का जो नया उपयोग कर रहा है, नये अर्थ के लिए उस का प्रयोग कर रहा है, वह अर्थ दूसरे तक पहुँचे— और यह भी सम्भव है कि न पहुँचे। जब पहुँचता है तो हम समझते है कि कवि ने भाषा को समृद्धतर बनाया, उस शब्द को एक नया अर्थ दिया। एक बार उस नये अर्थ को और उस की इस सम्भावना को हम पहचान लेते है तब वह हमेशा के लिए उस शब्द के साथ जुड़ जाती है, दो पक्षो के बीच हमारी

जो समान प्रतिज्ञा है, उस मे थोडी-सी वृद्धि भी हो जाती है। उस के वाद कोश भी कह सकते है कि इस शब्द से यह अर्थ भी निकाला जा सकता है, और जो ऐतिहासिक कोश है वे इस का भी सोदाहरण उल्लेख कर देते है कि पहले-पहल अमुक व्यक्ति ने इस शब्द का इस अर्थ मे प्रयोग किया था। तो यो निरतर अर्थ-वृद्धि होती रहती है और नये अर्थ समान प्रतिज्ञा मे सम्मिलित होते जाते है। फिर उस के वाद और कवि आते है जो थोडा और आगे वढते है।

जहाँ ऐसा विशिष्ट प्रयोग सफल नही होता, वहाँ कवि क्रमश एक 'निजी' भाषा की तरफ वढता है। सम्प्रेषण कठिन और कठिनतर होता जाता है। कवि समझता है कि एक नया अर्थ जो मुझे दीखता है उसे दूसरे तक पहुँचाने के लिए भाषा मे शब्द नही है, या समान प्रतिज्ञा नही है, तो या तो मै नया शब्द गढूँ, या एक प्रचलित शब्द जो उस के निकट-तम आता है, एक विशिष्ट सन्दर्भ मे रख उस से नया अर्थ निकालूँ। या विशेष प्रकार की ध्वनियो से या और किसी भी साधन से उस शब्द की अर्थवृद्धि करूँ। और ऐसा ही वह करता है। पर, हमेशा वह सफल नही होता। जहाँ वह असफल होता है वहाँ सम्प्रेषण की कठिनाइयाँ खड़ी होती है और एक निजी भाषा पैदा होती है। लेकिन जिन कारणो से कोई कवि निजी, दुरूह-दुर्वोध या अवूझ भाषा का सकट झेलता है, वे कारण रचना-धर्मिता के साथ अनिवार्य रूप से जुडे हुए है। अगर हम 'प्रयोजनवती' भाषा को अपनी अन्तिम सीमा मान कर उसी भाषा मे, उन्ही अर्थो के भीतर उसी 'समय' मे रचना करते है तो फिर आवृत्ति ही आवृत्ति होती है, नयी रचना नही होती, न शब्दो का नया सस्कार होता है और न हमारे सवेदन की क्षमता वढती है। अच्छी कविता का काम है सवेदन की क्षमता वढाना, मनुष्य की अपनी भी नयी रचना करना।

आज हम सब लोग जो लिखते है या लिखना चाहते है, इस सकट की स्थिति मे है। यथार्थ की पहचान इस सकट के साथ अनिवार्य रूप से जुडी हुई है। अभी मैंने कहा कि 'सब के यथार्थ अलग-अलग है'; इस वात के कई अर्थ और कई अनर्थ हो सकते है। जैसे भाषा मे एक समान प्रतिज्ञा है और वही वुनियाद है, उसी तरह यथार्थ मे भी एक समान रूप है, एक स्तर पर सव लोगो के यथार्थ एक-जैसे है, और उस से आगे हर-एक का अपना अद्वितीय यथार्थ होता है। हम जानते है कि सुई चुभने से दर्द होता है। यह उस का एक साधारण पक्ष है। लेकिन मेरी उँगली मे जब सुई

चुभती है तब मुझे जो दर्द होता है वह उस का अद्वितीय पक्ष होता है और उस के कई कारण है। एक यह तो है ही कि मेरा संवेदन उस को ग्रहण कर रहा है। आप सहानुभूति के आधार पर अनुमान तो कर सकते हैं वह दर्द 'कैसा' होगा क्यो कि उस से मिलता-जुलता दर्द उसी परिस्थिति मे आप को भी हुआ है, लेकिन वह दर्द अपने आप मे क्या है यह आप नही जानते। लेकिन इस बात की सच्चाई मान कर भी हम कह सकते है कि इस तरह की चर्चा से हम कही आगे नही जाते। लेकिन उस का एक दूसरा पहलू भी है। मेरा दर्द सिर्फ़ इस लिए अद्वितीय नहीं है कि वह इस एक जीव-सरचना का दर्द है जो सब दूसरो से आत्यन्तिक रूप से अलग है, समान होते हुए भी अलग है। बात इस से अधिक भी है: अद्वितीयता का एक सिलसिला है। मुझ को जब दर्द होता है, चोट लगती है, तो उस से पहले जितनी बार मुझ को दर्द हुआ है, जितनी बार चोट लगी है उस प्रत्येक बार की याद, उसकी एक अनुगूँज उस मे होती है। आपको जब उसी परिस्थिति मे वैसी ही सुई चुभती है तब भी क्रम तो वही होता है लेकिन आप को दूसरी चोटे, दूसरे दर्द, दूसरे कालो मे, दूसरी परिस्थितियो मे, याद आते हैं। कब किसने देखा था, किसने सहलाया था या कौन हँसा था—स्मृति-सस्कारो की शृंखला मे एक-सी घटना का रूप और मूल्य कितना बदल जा सकता है! तो इस लिए उस एक अनुभव की सरचना आप के लिए जो होती है वह आप के लिए अद्वितीय होती है और जो मेरे लिए होती है वह मेरे लिए अद्वितीय होती है। तो जीव मात्र की किसी भी अनुभूति के साथ एक जो वृत्त-संरचना अपनी गूँज और अनुगूँज देती है वह हर किसी के जीवन मे हर घटना के साथ अलग होती है। इस लिए इस समान आधार पर एक-सी घटना भी हर किसी के लिए अद्वितीय होती है। इस लिए मैंने कहा कि हर किसी का हर अनुभव अद्वितीय होता है—इस के बावजूद कि लोग सब एक-से होते है। और साहित्यकार जो एक-सा है उस को आधार मान कर, उस पर खड़े हो कर, जो हर चरित्र के लिए अद्वितीय है उस की पहचान कराता है। हर अच्छा साहित्य यह करता है। और उस पहचान के बाद जिस को वह पहचान होती है वह भी थोड़ा बदल जाता है और पहचानता है कि मैं बदल गया हूँ, मेरे संवेदन का कुछ थोड़ा-सा विस्तार हुआ, एक नयी दिशा मे अनुभव करना मेरे लिए सम्भव हुआ। जो साहित्य ऐसा नही करता उस से हमारा मनोरंजन तो हो सकता है, तत्काल हम उसे बड़ी रुचि से पढ सकते है, आसानी से समझ भी सकते हैं, लेकिन अगर

उसने हमारे संवेदन को वढाया नही, हमारी अपनी पहचान को थोडा विस्तृत नही किया तो उसे हम महान् साहित्य नही मानते। यथार्थ की पहचान के साथ यह एक प्रश्न जुडा हुआ है।

यथार्थ की चिन्ता हमारे साहित्य मे तभी से चली आयी है जव से शव्द और अर्थ के सम्वन्ध का विस्तार हुआ है। अर्थात् आरम्भ से ही चली आयी है क्यो कि शव्द की सत्ता का विचार आरम्भ से ही रहा है। लेकिन आज हम यथार्थ की चर्चा उस अर्थ मे नहीं करते जिस अर्थ मे प्राचीन काल में होती थी। वल्कि आज तो यह भी कह सकते है कि यथार्थ शव्द से वे चीजे भी हमारे सामने नही आती जो सौ-पचास वर्ष पहले आती थी। आज इस शव्द का सम्वन्ध अर्थ और अर्थवत्ता से वहुत कम रह गया है और स्थूल भौतिक तत्त्वो से ही वह वँध गया है—भौतिक वस्तु से, उस से हमारे सम्वन्ध से और उस सम्वन्ध से उत्पन्न होने वाले कार्य-कारणत्व से। इस चिन्ता-धारा की हमारी परंपरा मे कमी थी और उस का यहाँ प्रगट होना उपयोगी होता। लेकिन उस ने क्रमश: और सभी चिन्ताधाराओं को दवा दिया—और वह तर्क के वल पर उतना नही जितना आग्रह के वल पर। इस से हमारे चिन्तन-जगत् को गहरी क्षति पहुँची है और हमारा आलोचना-साहित्य वहुत छिछला हो गया है। सतह और सतही सरचना का महत्त्व उस चिन्तन और आलोचना मे वहुत अधिक है और भीतरी संरचना अथवा आभ्यन्तर सत्ता की कोई भी चर्चा सन्दिग्ध हो गयी है—सिवाय भौतिक पदार्थ की ही आभ्यन्तर सरचना के।

इस विषय पर मैं पहले भी कई वार चर्चा कर चुका हूँ और अपनी वात दोहराना नही चाहूँगा। यहाँ इतना संकेत काफी है कि मेरे चिन्तन मे यह वात भी रही है।

यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति के और भी पहलू है। यथार्थ को हम केवल वाहरी यथार्थ तक सीमित रखे या आभ्यन्तर तत्त्वो को भी महत्त्व दें? कला मे यथार्थ का रूप दूसरा होता है और एक की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए दूसरे का आविष्कार कला की सनातन समस्या है। एक समय था जव इन प्रश्नो के चिन्तन मे यह देश सव से आगे था। अतीत की पूजा से कोई लाभ नही है; फिर भी खेदपूर्वक यह तो स्वीकार करना होगा कि अव हम न केवल अपनी दृष्टि से मौलिक चिन्तन नही करते, वल्कि उस से कतराते है और पश्चिम से जो कुछ मिल जाये उसी के सहारे चलना श्लाघ्य समझते हैं। वल्कि इतना ही नही—पश्चिम मे भी कई

मौलिक चिन्ता-धाराएँ वहती रही हैं और आज भी वहती हैं, लेकिन हमने उन मे से केवल एक को इस तरह अपने ऊपर हावी हो जाने दिया है कि दूसरों की उपलब्धियों से परिचित होते हुए हम घवराते हैं। जो कुछ थोडा वहुत परिचय हमे मिलता रहा है वह इस लिए कि दूसरे विद्या-क्षेत्रो के कुछ लोग अधिक व्यापक दृष्टि से अध्ययन करते रहे है और उन्ही के माध्यम से लाये हुए विचार जव-तव हिन्दी आलोचक और अध्यापक तक पहुँच जाते हैं।

समाज-शास्त्र और नृतत्त्व के अध्ययन ने संस्कृति और परम्परा के वारे में हमारे चिन्तन को काफी विस्तार दिया है। इन क्षेत्रो मे जो गैर-मार्क्सी चिन्तन हुआ है वह भी मार्क्सवादी चिन्तन के साथ-साथ हम तक पहुँचता रह सका है, इस वात से हमें लाभ ही हुआ है। स्वय अपनी वात कहूँ तो इस सम्वन्ध मे मार्क्सवादी चिन्तन को अपर्याप्त पा कर ही मैंने दूसरी दार्शनिक परम्पराओ का भी अध्ययन किया। और फिर उन सव को एक तरफ रख कर भारतीय चिन्ता-धारा से चिन्ता-धाराओ से परिचय पाने का भी प्रयत्न किया। इन मानस-यात्राओ से मैं तो समझता हूँ कि मुझे लाभ ही लाभ हुआ। मैं अपने को भारतीय मानता और पहचानता हूँ और इस मे मुझे एक गौरव का भी वोध होता है, जो ऐसा नही है कि उदारता का शत्रु हो या कि दूसरी संस्कृतियो के वृत्त में रहने वालो के प्रति मुझे असहिष्णु वनाये।

मैं अपने को 'हिन्दू' कहना आवश्यक नही समझता क्यों कि यह नाम मध्य काल मे दूसरों के द्वारा अवज्ञा के भाव से दिया गया। लेकिन जिसे धर्म कहा गया उस की परिधि मे रह सका हूँ तो अपने को धन्य ही मानता हूँ। किसी मतवादी रूढ़ि से अलग धर्म की उद्भावना मैं संसार को भारतीय चिन्तन की वहुत वड़ी देन मानता हूँ। यह इस के वावजूद कि आज मेरे समकालीन इस की उपेक्षा करते हैं और धर्म ने जिस संकीर्णता को सम्पूर्णतया अस्वीकार किया था उसी संकीर्णता के सहारे अपनी धार्मिकता की कसौटी करते हैं। संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नही दिया जितना भारतीय धर्म ने; किसी ने स्वस्थ जीवन की उतनी गहरी नीव नही डाली जितनी भारतीय धर्म ने। अवश्य ही इस समझ तक पहुँचने में मुझे समय लगा और यह भी नही है कि यात्रा मे मैंने ठोकरें नही खायी। लेकिन यहाँ तक पहुँच कर मुझे जो सुख मिला है उसे वे ही लोग समझ सकते हैं जो निष्ठापूर्वक तीर्थ-

यात्रा कर के घर लौटते है।

मै जानता हूँ कि विश्वास-सम्बन्धी यह स्वाधीनता ही भारतीय धर्म की एक समस्या भी है। स्वाधीनता सब को नही सुहाती और अपनी सीमाएँ बाँध लेने मे लोगो को सुरक्षा दीखती है। अन्य सभी धर्म विश्वास के कुछ नुक्ते सामने रख देते है। उन पर विश्वास करने वाला धर्मवान् व्यक्ति माना जाता है और उन पर विश्वास न करने वाला 'काफिर' या इनफिडल। इस का दूसरा पक्ष यह है कि जो लोग चाह कर भी इन नुक्तो पर अपना विश्वास कायम नही रख सकते वे अपने को पापी या अपराधी मानते है। हर धर्म मे, जिस के साथ कुछ धर्म-बीजो पर आस्था की शर्त लगी हुई है, यह अपराध-भावना अथवा पाप-भावना पायी जाती है और आस्था का सकट भी कभी न कभी होता है। **भारतीय धर्म मे ऐसी कोई शर्त नहीं है।** इस लिए भारतीय मानस उस तरह के पाप-बोध से भी आक्रान्त नही होता जिस की पश्चिम के साहित्य मे इतनी चर्चा रही। यहाँ पर धर्म का आधार किसी विश्वास की रूढि नही रही बल्कि आचरण रहा है। निःसन्देह इस के अपने सकट होते है और वे सब यहाँ बार-बार प्रगट हुए है। आचरण की रूढियो मे बँध जाने से समाज मे जो विकृतियाँ आती है और जैसा पाखड पनपता है आज भी देखा जा सकता है। हमारे लिए पाखंड अपेक्षया कम कठिन है और हम उसे देर तक निबाहते चल सकते है। पश्चिम मे और इस्लामी जगत मे धार्मिक सुधार के जितने आन्दोलन हुए है उन सब का सूत्र यह रहा है, "अमुक बात कुफ्र अथवा अन्ध-विश्वास है, ऐसा न मान कर ऐसा मानो।" इस के विपरीत भारत मे धार्मिक सुधारो के सभी आन्दोलनो मे जोर किसी धर्म-विश्वास की रूढि पर न रह कर आचरण पर रहा है "ऐसा करना उचित नही है, अमुक आचरण के बदले अमुक आचरण करो।"

जिसे मैंने मानसिक स्वाधीनता कहा उस के कारण कुछ कठिनाइयाँ भी पैदा होती है जो इस लिए बढ जाती है कि दूसरे धर्मो मे मतवाद का महत्त्व इतना अधिक होता है। "दूसरे ऐसा-ऐसा मानते है, हम क्या मानते है ?" इस तरह का प्रश्न उठना अस्वाभाविक तो नही है, लेकिन "हम क्या मानते है ?" का जवाब वैसा नही होना चाहिए जो धर्म-बीजो के लिए उपयुक्त होता है। जवाब का रूप यह होना चाहिए, "हम यह मानते है कि मानव जीवन कुछ बुनियादी मूल्यो पर आधारित है; और ऐसा हम इस लिए मानते है कि हम लगातार यह पहचानते आये है कि इन मूल्यो के

सहारे जिया हुआ जीवन स्वस्थ, मंगलमय और लोक-कल्याणकारी होता है—और ऐसा होने मे सब के लिए आनन्दमय होता है।"

मुझे लगातार इस बात की जिज्ञासा रही है कि ये बुनियादी मूल्य क्या थे और क्या हैं। और इस जिज्ञासा के शमन के लिए मैंने अपने को केवल अध्ययन या विचार-विमर्श तक सीमित नही रखा। मैं यह भी कह सकता हूँ कि मेरा रचना-कर्म भी इस जिज्ञासा का ही एक पहलू है। मैंने 'कला-वादी' और 'कला के लिए कला' सम्प्रदाय का समर्थक होने के नाम पर बहुत गालियाँ खायी हैं; अवश्य ही आगे भी खाता रहूँगा। नि.सन्देह कला के प्रति, रचना-कर्म के प्रति मेरी निष्ठा रही है और आशा करता हूँ कि बनी रहेगी। लेकिन मानव जीवन-मात्र के बुनियादी मूल्यो के प्रति निष्ठा और साहित्य-मात्र मे उस की अभिव्यक्ति और उस का निर्वाह कैसे 'कलावाद' हो सकता है, यह वे ही जाने जो ऐसा लाछन लगाते है। यों उन की तसल्ली के लिए यह बात भी मै कह सकना हूँ कि एक दूसरा पक्ष भी है जो कम असहिष्णु नहीं है और जो मुझे इस लिए नास्तिक अथवा अनास्थावादी मानता और कहता रहा है कि मेरी निष्ठा दूसरे धर्मों के समान्तर 'हिन्दू' मतवाद की रूढियो पर न रह कर इन्ही बुनियादी मूल्यों पर रही है। मेरी समझ मे तो सच्चे धर्म-बीज यही है; क्यो कि धर्म ही वह है जो विश्व को धारण करता है, वह न्ही जिस का हम नुस्खा बना कर तावीज़ मे डाल कर पहन सकते है।

ये बुनियादी मूल्य या तत्त्व क्या है ? इन का आविष्कार मैंने नही किया है। आप पायेंगे कि ये सनातन मूल्य है और वस्तुतः सनातन धर्म कोई है तो इन्ही पर आधारित है, वह नही जिस के सनातनत्व का हमने उन्नीसवी शती मे आविष्कार किया जब 'आर्य समाजी' के सामने 'सनातनी हिन्दू' आ खड़े हुए। विस्तार ने इन मूल्यो की चर्चा या व्याख्या करने का यह न समय है, न स्थान; न मुझ मे उतनी योग्यता ही है। लेकिन अपने चिन्तन की धारा का संकेत देने के लिए उन मे से दो-एक का उल्लेख मैं यहाँ कर दे सकता हूँ।

सबसे पहले **सत्य** का उल्लेख करना उचित होगा, लेकिन यह ऐसा सर्वमान्य तत्त्व है कि उल्लेख के बाद इस की और चर्चा अनावश्यक हो जाती है। यो हम चाहे तो स्मरण कर सकते है कि दैनन्दिन आचरण मे सत्य की प्रतिष्ठा, जिस पर ब्राह्म समाज ने भी एक बार नये सिरे से बल दिया था, कैसे अतिरंजित परिणाम दे सकती है। श्री हेरम्ब मैत्र का

जीवन-चरित ऐसे उदाहरणो का भंडार है जो मानो ब्राह्म समाज के लोक-साहित्य का अग ही बन रहे है ।

ऋत का, आवर्ती काल का और आवर्तन के सर्वव्यापी नियम का दूसरा स्थान होगा। सभी कुछ नश्वर है, यह इस का एक रूप है, सभी कुछ फिर-फिर आता है यह उस का दूसरा रूप है। लेकिन सभी परिवर्तन एक नियम के अधीन होते है और वह नियम ही इस समूचे परिवर्तनशील जगत् को धारण किये हुए है, यह बुनियादी वात है। और यह सस्कार हमारे समाज मे कितना गहरा वैठा हुआ है यह दिखाने की जरूरत नही है। यही धारण करने वाला नियम धर्म है।

तप का स्थान चौथा है। आज के सुविधा-भोगी समाज मे भी तप का महत्त्व है। जो लोग तपस्वियो का उपहास नही करते है वे भी अपने विचारो और आचरण मे उन लोगो को आदर का स्थान देते है जिन्हे वे त्यागी-तपस्वी मानते है । भारत मे वडा नेता वही हुआ है जिसे लोगो ने त्यागी और तपस्वी माना—भले ही उस के विचार ऐसे रहे हो कि वुद्धि की कसौटी पर खरे उतरते न जान पडते हो। लेकिन तप का उल्लेख करने मे ऐसे नेताओ का उदाहरण देना भी उतना ही अनावश्यक है जितना वेद अथवा शास्त्र का प्रमाण देना। हमारे जीवन मे तप का आदर्श कैसे काम करता है, इस का एक मार्मिक उदाहरण आप को समाज सगठन के विलकुल दूसरे छोर से देता हूँ। मेरे अपने अनुभव मे एक विलकुल अनपढ रोगग्रस्त वुढिया ने मुझ से कहा था, "वेटा, दर्द तो वहुत है, लेकिन तकलीफ—तकलीफ तो मानने से होती है।" इस मनोभाव को पुस्तको मे उल्लिखित तप से जोडना कदाचित् कठिन जान पडे, लेकिन व्यवहार मे तप यही है कि कोई यह कह सके कि 'मैं' अपने दर्द से ऊपर हूँ और उसे अमान्य भी कर सकता हूँ। इसी का एक और भी हलका उदाहरण दिया जा सकता है। हम सभी क्यो ऐसा मानते है कि जो दवा 'लगती' नही या कडवी नही होती उस का असर कम होता है? क्या इस मे भी यही विश्वास निहित नही है कि कष्ट का एक आध्यात्मिक मूल्य होता है? और शरीर-पीड़न से आध्यात्मिक उन्नति ही क्या तप की वुनियाद नही है?

ये केवल कुछ-एक उदाहरण है। इन मूल्यो के लिए शास्त्र और पुराणो का आधार भी खोजा जा सकता है; फिर उस आधार पर व्याख्या भी हो सकती है और वाद-विवाद भी। लेकिन न उस मे मेरी

रुचि है, न वह मेरा प्रयोजन है। लेखक के नाते जो बात मैं कहना चाहता हूँ वह यह कि भारतीय समाज अब भी नैतिक मूल्यों की एक भित्ति पर खड़ा है जिस मे भौतिक सुख-सुविधाओं की समकालीन दौड़ के बावजूद अभी कोई दरार नही पड़ी है। विदेशी शिक्षा-दीक्षा के कारण जो लोग ऐसा कोई नैतिक आधार न मान कर केवल आर्थिक या केवल भोगवादी आधार मानना चाहते हैं, वे अपने लिए चाहे जो कुछ मानें और दूसरो को भी चाहे जो कुछ मनवाना चाहे, वर्तमान भारतीय समाज के गठन का सही रूप तो उनको पहचानना ही होगा। उन से भी अधिक लेखक को तो वह पहचानना ही होगा। मेरे सामने यह बात क्रमशः स्पष्टतर होती गयी है कि साधारण भारतवासी के अलग-अलग एक-एक कर्म को देख कर हमे चाहे जैसा लगे, पूरे समाज की कर्म-प्रक्रिया इस बात को स्पष्ट करती है कि भारत समग्र रूप से अभी तक यही मानता है कि विश्व के सारे कर्म-व्यापार एक नैतिक नियम के चौखटे मे बँधे हुए है। अगर मैं स्वयं इस बात को न भी मानूँ तो भी भारतीय समाज को समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि वह ऐसा मानता है। और मुझे अभी तक पर्याप्त कारण नही मिला कि मैं स्वयं भी ऐसा न मानूँ—जब कि यह जीवन का और आत्म-दर्शन का एक सन्तोषजनक आधार देता है।

अपनी दृष्टि अथवा अपनी स्थिति के बारे मे फिलहाल जो कुछ कहना मुझे उचित और सम्भव जान पडा वह मैंने कह दिया। ऐसा तो नही कह सकता कि जो कुछ कहा है उस मे सशोधन या स्पष्टीकरण की आवश्यकता नही हो सकती या इस के विरुद्ध भी कुछ बातें कही आप को मेरी रचना मे नहीं मिल जायेगी। लेकिन फिर भी मेरा निवेदन है कि इन बातो को आप मेरी वर्तमान जीवन-दृष्टि की एक रूप-रेखा मान ले सकते है। अब प्रश्न रहता है मेरी कृतियो से उन के सम्बन्ध का। मेरा स्वय तो इतना कहना काफी होना चाहिए कि 'अगर मैं ऐसा मानता हूँ तो इस की छाप आप को मेरी रचनाओं मे मिलनी चाहिए'; मेरे लिए यह आवश्यक नही है कि मैं स्वयं दिखाऊँ कि वह कहाँ मिलती है। और यह तो है ही कि अगर आप को रचनाओ मे ये बातें नही मिलती तो आप स्वतन्त्र हैं कि न केवल मेरे कहे को अमान्य कर दें बल्कि मेरी रचनाओ को भी इसलिए अविश्वसनीय करार दें कि उन मे आप को वह नही मिलता मैंने अपनी समझ और अपने दावे के अनुसार

उनमे रखा है। ऐसी परिस्थिति हो तो वहाँ वही कहना उचित होगा जो लारेंस ने कहा था और जिस की ओर मैं कई वार अपने पाठक का ध्यान आकृष्ट कर चुका हूँ—'कथा का विश्वास करो, कथाकार का नही'—रचना को प्रमाण मानो, रचना के वारे मे कलाकार की उक्ति को नही।

असल मे आज-कल हम लोग एक व्याख्या के युग मे रह रहे हैं जिस मे लेखक के कथ्य अथवा आत्म-साक्ष्य को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। यह केवल इस वात का लक्षण है कि रचना मे हमारी श्रद्धा कुछ कम हो गयी है। हम लोग यह भूल-से गये हैं कि रचना का काम कुछ **कहना** नही, कुछ **करना** है। **रचना हमें भी कुछ कर देती है**—महान् रचना हमे वदल देती है। इसी वात की ओर हम ध्यान दे तो रचना को भी हम अधिक सही ढग से पहचान सकते है। लेकिन क्यो कि रचना पर हमारा भरोसा कम हो गया है, इस लिए हम इस वात से भी थोडा शकित होते हैं कि उसने हमे वदल दिया; वल्कि यह प्रयत्न करते हैं कि वैसा वदलाव हम मे न आये। अज्ञात का एक भय यहाँ काम कर रहा होता है जव कि कला के सच्चे ग्रहण मे अज्ञात के प्रति एक खुलापन वल्कि समर्पण आवश्यक होता है। अज्ञात से वचने के लिए ही हम रचना को **रचना** के रूप मे न ग्रहण कर के उस का 'अर्थ' ग्रहण करना चाहते है।

रचना स्वतत्र है, अपरिभाषेय है; जव हम उस का अर्थ (जिसे हम अर्थ समझते है या जो हमे वताया जाता है कि अर्थ है) ग्रहण कर लेते है, रचना से हमे छुटकारा मिल जाता है और उस के अर्थ पर हम पूरी तरह कावू पा लेते है—इतनी पूरी तरह कि उस का जो चाहे अर्थ लगाये, जैसी चाहे व्याख्या करे! मैं जानता हूँ मैंने अपने लेखन के वारे मे जो कुछ कहा उस के द्वारा स्वय अपने लिए यह खतरा वढा लिया कि आप भी मेरी ही रचनाओ का इन वातो के आधार पर अर्थ लगाने लगे। लेकिन यह खतरा उठा कर भी मैं यह विश्वास करना चाहता हूँ कि आप रचना को रचना के रूप मे ही देख सकेंगे। मेरी वाते, ऐसा मैं विश्वास करना चाहता हूँ, इस मामले मे अपने गम्भीरतर उत्तरदायित्व की ओर ही आप का ध्यान दिलायेंगी। यह प्रयत्न तो मैने किया ही है कि आप पहचान सकें कि रचना-कर्म को मैंने किस गम्भीरता से लिया है। उस

गम्भीरता की गूंज आप में भी साहित्य के प्रति दूसरे भाव जगाये तो आप पर भी साहित्य अपना काम कर सकेगा—आप को बदल सकेगा। उसी में उस की सफलता होगी और मेरी सिद्धि।[1]

१. भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता मे 'मेरी स्थिति, मेरी कृति' शीर्षक से दिये गये भाषण का लिखित रूप।

जहाँ मैं खड़ा हूँ

आप एक लम्बे समय से रचना और आलोचना के केन्द्र में रहे हैं। आपका जो मूल्यांकन हुआ है उस के बारे में आप की क्या प्रतिक्रिया है? क्या आप को समझने की सही कोशिश हुई है?

मुझे इस से सन्तोष है कि लगातार आलोचना हुई है—जिस से समझा जा सकता है कि कुछ न कुछ उत्तेजना की सामग्री मेरे लेखन मे रही है। मेरे सन्तोप के लिए यही काफी है। प्रशंसा कभी अच्छी भी लगती है, पर हमेशा नही—तब तो बिल्कुल नही जब दीखता है कि उस के पीछे मूल्य-विवेक नही है या कसौटियाँ ही गलत है। वैसी प्रशसा से ग्लानि ही होती है।

प्रतिकूल आलोचना से आपने कुछ सीखा भी?

कुछ सीख सकते है तो उसी से। प्रशसा से क्या सीखना है? हालाँकि प्राय: अनुभव हुआ कि आलोचक ने मेरे लिए कुछ नयी बात नही कही है बल्कि बहुत-सा ऐसा कहा है जिसे मै जरूरी नही समझता। जब प्रतिकूल आलोचना एक जानी हुई प्रतिज्ञा या पूर्व-धारणा पर आधारित हो, तो स्पष्ट है कि मुझे भी पहले से पता होगा कि आलोचक क्या कहेगा! हाँ, यह फिर भी सीख सकता हूँ कि उस पूर्वग्रह को तोडने के लिए क्या कर सकता हू। यह सम्प्रेपण की समस्या है।

आप के विषय में इधर कुछ शोध-कार्य भी हुए हैं। उन्हे देख कर कैसा लगा आप को?

बहुत अधिक तो देखे भी नही है, जो देखे है उन से प्राय: बडी निराशा होती रही है। एक तो तीन-चार बने-बनाये ढर्रे है जिन मे तथाकथित 'शोध' सामग्री बैठा दी जाती है। दूसरे, नाम को 'मनोवैज्ञानिक',

'समाजशास्त्रीय', 'ऐतिहासिक', 'दार्शनिक' और 'गणितीय' तक शोध होते है, लेकिन इन विद्याओं से शोध का सम्बन्ध बहुत कम होता है और निर्देशक या परीक्षक भी इन विषयो के विद्वान् नही होते। हिन्दी का हर अध्यापक-निदेशक सर्वज्ञ होता है, ऐसा मान लेना मेरे लिए तो असम्भव है, उन्हें स्वयं ऐसा मानने मे सकोच क्यो नही होता वे ही जानें !

स्वाभाविक है कि इस तरह के शोध-कार्य मे जिन चीज़ो का महत्त्व होना चाहिए उन की उपेक्षा ही होती है। एक ही उदाहरण ले लीजिए : कथा या उपन्यास की विधा मे काल की अवधारणा की कितनी समस्याएँ उठती हैं और उन का हल निकालने के लिए उपन्यासकारो ने कितने प्रकार की युक्तियाँ निकाली हैं—किस तरह समस्याओं के समाधान की इस खोज ने ही उपन्यास की विधा के विकास को रूप दिया है। इस की कही चर्चा नहीं होती। विदेशी आलोचको के उद्धरण दे दिये जाते हैं—हिन्दी मे शोध का प्रधान अंग दूसरों के उद्धरण होता है !…और यह बता दिया जाता है कि भारतीय लेखक ने शिल्प की अमुक युक्ति विदेश के अमुक उपन्यासकार मे ली। (उस का भी कोई प्रमाण जरूरी नही है—परिचय या पूर्वापरता का भी नही !) कथा-वृत्त मे कोई आभ्यन्तर आवश्यकता भी हो सकती है जिस के कारण अमुक युक्ति ग्राह्य होती है—यह सवाल ही नही उठता। पश्चिम मे भी उपन्यास की विधा मे कोई नयी युक्ति क्यों आयी, किस आवश्यकता के कारण आयी और कहाँ तक उस समस्या को सुलझा सकी जिस के कारण वह आवश्यक हुई थी, यह सब पूछना तो दूर की बात हो जाती है।

इधर आप ने कुछ अलग से भी काल-चिन्तन किया है ? हम उस सम्बन्ध में आप के विचार जानना चाहेगे। विशेष रूप से हम यह जानना चाहेंगे कि क्या इतिहास से परे काल की अवधारणा हो सकती है ?

विज्ञान जब काल की नयी परिभाषा देता है तब विज्ञान की समस्याओं में ऐतिहासिक काल की समस्या आती है। हमारे अनुभव मे कोई भी घटना ऐतिहासिक क्रम से नही होती। ऐतिहासिक काल और अनुभव का काल—दोनो दो चीज़ें है। अनुभव की सरचना मे काल हमेशा उलटी दिशा मे चलता है। परिणाम पहले और कारण बाद मे अंकित होता है। भारतीय काल-चिन्तन में काल के एक से ज्यादा आयाम रहे। एक महाकाल

की धारणा भी रही।

इन सब प्रश्नो पर तो मेरी एक पुस्तक ही आ रही है—**संवत्सर,** इस लिए इसकी विस्तार से चर्चा नही करूँगा। लेकिन एक बुनियादी प्रश्न पूछा जा सकता है : अगर कथा—विशेष रूप से कथा, लेकिन साधारणतया काव्य-रचना मात्र—काल मे अवस्थित होती है, 'घटित' का एक रूप है, तो अगर हमारी काल की अवधारणा आदि-काल से ही अलग प्रकार की रही है, तब क्यो नही हमारा कथा-साहित्य और हमारा काव्य एक विशिष्ट प्रकार का होगा, विशिष्ट रूपाकार लेगा? ये विशिष्ट रूपाकार क्या है, क्या हो सकते है? अगर मैं भारतीय हूँ—और अगर नही हूँ, तो वही क्या अस्वास्थ्य नही है?—अगर मैं भारतीय हूँ तो मेरे लिए यह क्यो आवश्यक है कि मैं पश्चिमी उपन्यास ही लिखूँ, यानी कथा को एक पश्चिमी रूपाकार मे ही ढालूँ? या यह क्यो अनावश्यक है, या दोष है, या 'अनाधुनिकता' है, कि मेरी कथा भारतीय अवधारणाओ को आज के सन्दर्भ तक प्रक्षिप्त करे?

आप की कविता मे काल का क्या रूप है?

स्वभावत: कई रूप है। और जैसे-जैसे काल के अनेक आयामो की मेरी पहचान बढती गयी है वैसे-वैसे मैंने अपनी रचना मे भी उन्हे प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया है। बल्कि मैंने क्या प्रयत्न किया है—स्वाभाविक है कि अगर काल के विभिन्न आयामो का बोध मुझे है तो मेरे अनुभव की सरचना भी उन्ही के अनुरूप कई आयामो पर सघटित होगी। यो एक तत्त्व मेरी कविता मे शुरू से रहा है जिस की ओर एक-आध व्यक्ति का ही ध्यान गया है और वह भी ऐसे व्यक्ति का जो स्वयं आलोचक कम और कवि अधिक है—जैसे त्रिलोचन। यह है कविता मे नाटकीय तत्त्व या नाटकीय स्थितियो का प्रक्षेपण। और नाटकीय स्थिति स्पष्ट ही काल मे अवस्थिति का प्रश्न है, काल के आयामो को प्रस्तुत और सम्प्रेषित करने की समस्या का रूप है। इस दिशा मे मैंने अवश्य ही अंग्रेजी कवि रॉबर्ट ब्राउनिंग से भी कुछ सीखा। लेकिन सस्कृत और प्राकृत साहित्य से भी बहुत अधिक सीखा। दोनो का मुक्तक काव्य और सुभाषितो का भडार आज के कवि को बहुत कुछ सिखा सकता है—वस्तु अथवा अभिप्रायो की दृष्टि से नही बल्कि अनुभव की सरचना और उसे सम्प्रेष्य रूप दे सकने की दृष्टि से।

कतिपय आलोचक ऐसा मानते हैं कि 'असाध्य वीणा' आप की सर्वोत्तम उपलब्धि है।

उसे लोग अच्छा मानें, यह तो मुझे अच्छा ही लगेगा; लेकिन 'सर्वोत्तम' है इस का फ़ैसला तो तभी होगा जब जो कुछ लिखना है सब लिख चुकूंगा। मैं अभी से मान लूं कि अमुक एक रचना मेरी सर्वोत्तम रचना है—यानी थी—तो फिर और लिखूंगा क्यो ? बाकी किस को क्या अच्छा और क्या सब से अच्छा लगता है, यह निर्णय करने का उसे पूरा अधिकार है—दूसरों को वैसा मनाने का भी अधिकार है।

नये मूल्यों और नये प्रतिमानो की इधर जो चर्चा होती रही है उन के बारे में आप का क्या विचार है ?

इधर '**नयी कविता के प्रतिमान**' और '**कविता के नये प्रतिमान**' जैसे विश्लेषण किये गये। मैं दोनो से सहमत नही। किसी भी समय की कविता को उसी समय में पहचानने के लिए कुछ नये मानदड ज़रूरी होते है, हालाँकि यह आवश्यक नही है कि वे मानदंड कालान्तर मे भी बने रहे, यानी यों समझ लीजिए कि दो कसौटियाँ होती है; एक कसौटी पर हम अपने समय की रचना का मूल्याकन अपने समय मे ही करते है, और एक दूसरी कसौटी होती है जिस पर हम रचना को केवल पूर्ववर्ती ही नही वल्कि परवर्ती रचना के साथ भी जोड कर उस की परीक्षा करते है। यानी अपने समय की समकालीन परीक्षा मे सन्दर्भ केवल अतीत होता है (वर्तमान तो है ही), भविष्य नही, लेकिन किसी दूसरे युग की कविता का विचार करते समय हम केवल उस के अतीत तक सीमित न रह कर परवर्ती विकास को भी देखते हैं।

जब मैं कहता हूँ कि आज की कविता के आज मूल्यांकन मे सन्दर्भ केवल अतीत है, भविष्य नही, तो उस का अर्थ यह नही लगाना चाहिए कि मैं केवल किसी पुराने मानदंड से समकालीन कविता की जाँच का अनुमोदन कर रहा हूँ, वल्कि उस से ठीक उलटा। समकालीन कविता की समकालीन समीक्षा में हम पुराने निकप पर आज की रचना की परख नही वल्कि आज की रचना पर पुराने निकप की परख कर रहे होते है। कल जब हम आज की रचना की परीक्षा करेगे तब आज के निकप भी उतने ही परीक्षणीय हो गये होंगे जितने कि पुराने मानदंड आज है। मैंने कहा कि

दो कसौटियाँ होती हैं; और दोनो से हमे अलग-अलग तरह की लेकिन परस्पर-पूरक जानकारी मिलती है।

यह खेद की वात है कि अधिकतर नये प्रस्तावित मानदड साहित्य क्षेत्र के वाहर के है।

कुछ तो वहुत ज्यादा अन्दर के हैं—जैसे तनाव, विसंगति और विडम्वना !

हाँ, इन के आधार पर हम समझ सकते है कि कविता क्यो और कैसे लिखी जा रही है। उन से उस की 'प्रामाणिकता' का विवेचन सम्भव है। पर कालान्तर मे भी वह श्रेष्ठ रचना वनी रहेगी, इस का उत्तर इन से नही मिलता। महत्त्वपूर्ण यह है कि कोई रचना कितनी सम्प्रेष्य है। समाज से उस का रिश्ता क्या है ? सम्प्रेपण ही केन्द्रीय समस्या है—जिस की प्राय· उपेक्षा हुई है। वाचिक परम्परा मे समाज प्रत्यक्ष होता है। रचनाकार उसे तत्काल प्रभावित करता है और वह रचनाकार को। किन्तु दूसरी स्थिति मे रचना लिखी जाने के वाद वरसो पडी रहती है। फिर मुद्रित होती है। इस प्रकार मुद्रित साहित्य के युग मे दूरी वढ़ती है जो अलगाव (एलिएनेशन) पैदा करती है। यह परिस्थिति मे ही निहित है। यहाँ किताव मानों दीवार के रूप मे प्रेपक (कवि) और गृहीता (समाज) के वीच रहती है। जव प्रत्यक्ष नही है कि पढेगा कौन, तो कल्पित श्रोता को ही सम्वोधन सम्भव है। कवि अपने ही एक अंश को श्रोता वना कर कविता कहता है। उसी से वह जानता है कि सम्प्रेपण हुआ है या नही—कि कविता सप्रेष्य हो गयी कि नही। यह हो सकता है कि उस का यह निर्णय गलत भी हो; वह कितना सही है यह इस पर भी निर्भर करेगा कि वह कहाँ तक समग्र समाज से एकात्म है—क्यो कि जैसा वह स्वय होगा वैसा ही तो कल्पित श्रोता अपने भीतर से रचेगा। फिर भी सम्प्रेष्यता के वारे मे जिज्ञासा हर रचनाकर्म का अंग होती है: वह रचना-प्रक्रिया का एक अविभाज्य अग है।

विडम्वनाओं मे एक यह भी है कि आज लेखक जिस भारतीय समाज के लिए लिखता है उस का दो-तिहाई या तीन-चौथाई तो निरक्षर ही है। एक-तिहाई साक्षरो मे भी पढने वाले तो थोडे से ही है। फिर साक्षरों मे वहुत से साक्षर होते हुए भी अपेक्षया अधिक विद्या-विहीन है, क्यो कि वे पारम्परिक सभी कसौटियाँ खो चुके है; जव कि निरक्षरो मे कुछ ऐसे भी

हैं जिन के पास वाचिक परम्परा से अवशिष्ट कसौटियाँ वनी हुई है। इस से विडम्वना का रूप और भी जटिल हो जाता हैं।

क्यों कि आज का भारतीय लेखक सव से पहले आज के लिए लिखता है और भारत के लिए लिखता है, इस लिए यह जानते हुए लिखता है कि समाज का वहुत वड़ा भाग उसे पढेगा नही, पढ सकेगा नहीं; केवल अल्पाश पढ सकेगा; साथ ही वह यह भी जानता है कि उस अल्पांश का भी एक वड़ा हिस्सा अधिक अजनवी होगा—और समाज के वहुत वडे भाग का जो अंश कसौटियों से उतना अजनवी नही होगा, उस तक रचनाएँ पहुँचेगी नही क्यो कि वह निरक्षर होगा।

भविष्य में तो पहुँच सकती हैं ?

ऐसी आशा तो करनी चाहिए। मैं भी करता हूँ। लेकिन 'मै भविष्य के लिए लिख रहा हूँ' इस का अर्थ यह लगा लेना कि इस लिए आज का पाठक मेरे लिए महत्त्व नही रखता, वडा खतरनाक होगा। इस रपटन पर कई समकालीन लेखक फिसल चुके है। जो लेखक अपने काल के विवेकवान् पाठक को नहीं छू सकता वह भविष्य के वारे मे किसी अनुमान के सहारे खड़ा नही हो सकता। सिद्धान्ततः इस वात को हम सम्भव मान भी लें कि कोई लेखक, जिसे आज कोई नही समझता, भविष्य मे एकाएक महत्त्व पा जायेगा, तो भी इस के सहारे हम आज नही चल सकते। मैं जानता हूँ कि कुछ लेखक अपने ज़माने मे पागल समझे गये जिन्हे कालान्तर मे सम्मान मिला। लेकिन इस से यह परिणाम निकालने मे असमर्थ हूँ कि मेरा लक्ष्य ही यह होना चाहिए कि मैं अपने ज़माने मे पागल समझा जाऊँ।

क्या नयी कविता में भक्ति-तत्त्व को या श्रद्धा को आप विलकुल अप्रासंगिक मानते हैं ?

आप के प्रश्न का उत्तर देने से पहले एक-दो पारिभाषिक वातें स्पष्ट हो जानी चाहिए। 'नयी कविता' से आप का आशय आज का एक लेखन-सम्प्रदाय भी हो सकता है और आज की समस्त कविताएँ भी हो सकती हैं। फिर आप किसी चीज़ को 'अप्रासंगिक' कहते है, तो प्रश्न यह उठता है कि किस आधार-भूमि पर खड़े हो कर आप उसे तौल रहे है। मै मान लेता हूँ कि आप एक काव्य-आन्दोलन की वात न कर के समग्र समकालीन

कविता की बात कर रहे है। यह भी मान लेता हूँ कि आप का प्रश्न किसी भी प्रकार की श्रद्धा नही, धार्मिक श्रद्धा या भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखता है। इस सन्दर्भ मे मैं आप से पूछता हूँ कि अगर आप मानते है कि किसी समय यह देश श्रद्धालु, धर्म-विश्वासी और ईश्वर-भक्त था और आज वैसा नही है तो कही न कही तो टूटन या परिवर्तन दीखना चाहिए? विश्वास चाहे एकाएक टूटा हो, चाहे धीरे-धीरे जर्जर हुआ हो, साहित्य मे उस का प्रतिविम्व तो कही मिलना चाहिए। वह कहाँ है? एक श्रद्धावान् समाज कालान्तर मे श्रद्धाविहीन समाज वन गया तो उस संक्रमण के लक्षण कहाँ है? उस सक्रमण काल का साहित्य कौन-सा है? कही-कही आप को आध्यात्मिक शका का काव्य मिल जायेगा, लेकिन जिन कवियो की रचना मे मिलेगा उन्हे भी आप अन्ततोगत्वा आस्तिक कवि ही पायेगे। तव फिर प्रश्न का रूप कुछ वदल जाता है। अगर सक्रमण कभी हुआ ही नही, तव दो मे से एक वात माननी पड़ेगी : या तो भारतीय समाज आज भी श्रद्धावान् है, या पहले भी कभी नही था। अगर आज भी श्रद्धावान् है, तो भक्ति की चर्चा, या काव्य मे उस की अभिव्यक्ति, स्पष्ट ही प्रासगिक हो जाती है। और अगर पहले भी कभी श्रद्धावान् नही था, तव आज जो टूटन और आध्यात्मिक सन्त्रास वगैरह की चर्चा होती है, वह सव भी एक आयातित फैशन है, पाखंड है। आयातित इस लिए कि पश्चिम के साहित्य मे तो वह स्पष्ट दीखता है, और वहाँ उस का कारण भी दीखता है। यानी वहाँ हम देख सकते हैं कि श्रद्धा के टूटने का युग साहित्य में स्पष्ट प्रतिविम्वित है और विश्वास वनाए रखना चाहने पर भी उस मे असफल होने का आध्यात्मिक क्लेश भी साहित्य मे पहचाना जाता है। भारत मे ऐसा नही है।

स्वय आप के लेखन मे क्या भक्ति-चेतना है? और है तो उस का स्वरूप क्या है?

इस की चर्चा मुझे क्यो करनी चाहिए? रचनाएँ पाठक के सामने है: वह जो समझे! हाँ, इतना कह सकता हूँ कि लिखते समय अपने से वडा कुछ पहचानता हूँ—जो कुछ भी मैं मूल्यवान् समझता हूँ उस सव से वडा कुछ। उसे आप भक्ति-चेतना माने तो मुझे आपत्ति नही।

क्या आप की राय में कवि को राजनीति-निरपेक्ष रहना चाहिए?

मैं इसे इस रूप में रखूँगा कि कवि राजनीति से निरपेक्ष नही हो सकता, कविता राजनीति से निरपेक्ष हो सकती है।

राजनैतिक कविता के बारे में आप क्या सोचते हैं ?

वास्तव मे राजनैतिक कविता कुछ नही होती; कविता, कविता ही होती है। ऐसी हो सकती है कि राजनैतिक प्रेरणा से लिखी गयी हो, ऐसी भी हो सकती है जिस का राजनैतिक प्रभाव हो; जैसे कि ऐसी भी हो सकती है जिस की प्रेरणा या जिस का प्रभाव धार्मिक या आध्यात्मिक हो। फिर कविता ऐसी भी हो सकती है जिस मे किसी एक राजनीति-दर्शन का आभास मिलता हो—जैसे कि कविता ऐसी हो सकती है जिस मे किसी एक या दूसरे धर्म-दर्शन की झलक हमे मिले, उस की मूल्य-व्यवस्था की प्रतिष्ठा हो। ऐसे प्रभाव के कारण या उस मे निहित मूल्य-बोध के कारण आप कविता को धार्मिक या राजनैतिक आदि कह ले तो कह सकते है। और भी ब्यौरे मे जा कर ईसाई कविता या हिन्दू कविता या मार्क्सिस्ट कविता आदि भी कह सकते हैं। ऐसे पद निरर्थक नही हो जायेंगे, लेकिन इसी लिए कि यह स्पष्ट रहेगा कि ये विशेषण काव्य का मूल्यांकन नही कर सकते हैं बल्कि उस मे पहचाने जा सकने वाले तत्त्व की एक कोटि का निरूपण कर रहे हैं।

दूसरी ओर अगर राजनैतिक कविता से आप का आशय राजनैतिक लक्ष्यों की पूर्ति या राजनैतिक आन्दोलनो के समर्थन के लिए लिखी गयी कविता से है तो मैं कहूँगा कि ऐसी रचनाएँ राजनैतिक तो अवश्य हो सकती हैं, कविता वे नही भी हो सकती हैं। काव्य वे है या नही, इस का निर्णय उन की राजनैतिकता पर निर्भर नही करेगा। यानी यों भी कह सकते हैं कि 'राजनैतिक कविता' काव्य की विधा और उस के शिल्प का राजनैतिक उपयोग है।

नि.सन्देह किसी भी साहित्यिक विधा का ऐसा उपयोग किया जा सकता है और केवल राजनीति के लिए ही नही, और अनेक साहित्येतर उद्देश्यों के लिए भी, विज्ञापन के लिए भी कविता-कहानी का शिल्प काम मे लाया जा सकता है और काम मे लाया जाता है। कपडा और दवा और सब्ज़ी-तरकारी और मिठाई बेचने के लिए भी काम में लाया जा सकता है और लाया जा रहा है। हम चाहें तो 'राजनैतिक' कविता की तरह 'विज्ञापनीय' कविता की भी चर्चा कर सकते हैं और अपने क्षेत्र मे वह भी

उतनी ही सगत होगी। ऐसी 'कविता' की सफलता की कसौटी तो यही होगी न, कि जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह लिखी गयी उस मे योग देती है या नही ? अगर वह लक्ष्य साहित्यिक नही है तो वह कविता भी कविता नही है—सफल पद्य हो कर भी।

प्रतिबद्ध कविता के बारे में आप का क्या ख्याल है ?

यही कि प्रतिबद्ध लेखक की कविता है तो 'प्रतिबद्ध' कविता है। यदि प्रतिबद्ध लेखक की नही है तो फिर नही है। वह कविता है कि नही, इस की परख के लिए मै तो यह देखूँगा कि रचना की दृष्टि कितनी सच्ची है। दूसरे शब्दो मे यह देखूँगा उस प्रतिबद्धता की खूँटी कहाँ है।

सन् साठ के बाद की कविता पर आप की क्या प्रतिक्रिया है ?

उस मे मुझे ऐसा बहुत कम मिलता है जिस की मैं काव्य से अपेक्षा करता हूँ। भाषा के कुछ नये गुण मिल जायेंगे, कुछ नये बिम्ब मिल जायेगे, वगैरह। लेकिन इतना तो काफी नही होता। अच्छे काव्य मे सच्चाई की नयी पहचान होती है—ऐसी पहचान कि जिस के बाद पाठक अपने को भी एक नये रूप मे पहचानता है—यानी अपने मे उस नयी पहचान के सामर्थ्य को पहचानता है और यह भी देखता है कि इस प्रकार एक सीढी आगे बढ जाने के बाद अब पीछे लौटना सम्भव नही रहा है। इस अर्थ मे अच्छा काव्य ससार को बदलता है, चाहे कितना ही थोडा-थोडा कर के। इस गुण का '६० के बाद की कविता मे खासा अभाव है।

आप के सवाल का जवाब एक दूसरे ढंग से भी दे सकता हूँ। कुछ लोग तो, खैर, पुस्तके पढते नही और रखते भी नही; लेकिन जो लोग पढते है और पुस्तके सग्रह करते है उन की भी दृष्टियाँ अलग-अलग होती है। मैं अपनी बात कहूँ : कुछ पुस्तके ऐसी होती है जिन के बीच और जिन के साथ मैं रहना चाहता हूँ। यह जरूरी नही है कि रोज उन्हे पढूँ या सब को बार-बार पढूँ। लेकिन अपने आस-पास उन के बने रहने से एक अपना ससार बने रहने का बोध होता है। कुछ चित्र भी ऐसे होते है। और चीजे भी ऐसी होती है। इस कोटि की पुस्तको के अलावा कुछ ऐसी होती है जिन्हे हम इस लिए रखते है कि उन की किसी वक्त भी जरूरत पड सकती है। ये पुस्तके हमारे परिवेश या हमारे संसार को बनाने वाली नही होती, केवल सुविधा की दृष्टि से पहुँच के भीतर रखी जाती है। मैं

कहूँ कि साठोत्तरी कविता के बहुत से संग्रह मेरे पास हैं तो ऐसा इस लिए नहीं है कि उन के बीच में रहना चाहता हूँ या कि उन से मुझे अपने संसार के बनने का बोध होता है। उन्हें इस लिए रखता हूँ कि उन की ज़रूरत पड़ सकती है।

छन्दोबद्ध कविता का क्या भविष्य है ?

छन्द का अर्थ केवल तुक या बँधी हुई समान स्वर-मात्रा या वर्ण संख्या नहीं है। तुक छोड़ देते ही छन्द टूट जाता है, यह मैं नहीं मानता। छन्द योजना का ही एक नाम है। जहाँ भाषा की गति नियन्त्रित है वहाँ छन्द है। तुक इस संयोजन अथवा नियन्त्रण का केवल एक प्रकार है। हमारे काल में तो कविता ने प्रायः तुक को छोड़ कर अपने को उपलब्ध किया है—तुक द्वारा संयोजन में एक प्रकार की कृत्रिमता आती देख कर कविता ने नियन्त्रण और संयोजन के दूसरे स्तरों और प्रकारों का सन्धान किया है।

रूप तो छन्द से भी व्यापकतर चीज़ है। जहाँ कविता का प्रश्न होता है वहाँ छन्द से भी आगे बढ़ कर हम रूप का प्रश्न उठा रहे होते हैं—बल्कि उस रूप को पहचानने, आत्मसात् करने और सम्प्रेष्य बनाने का ही साधन छन्द है।

बोल-चाल की भाषा को सर्जनात्मक भाषा बनाने में क्या समस्याएँ आती हैं ?

बोल-चाल की भाषा को ले कर एक भ्रान्ति काफी दूर तक फैली हुई है। एक चीज़ है बोल-चाल की भाषा की अन्विति और काकु : एक दूसरी चीज़ है बोल-चाल की भाषा की शब्दावली। सर्जनात्मक भाषा का प्रश्न इन दोनों से आगे तक जाता है। कविता निरंतर विशिष्ट शब्दावली को छोड़ कर साधारण शब्दावली को अपनाने का प्रयत्न करती रही है : पद्य में प्रचलित और सम्भाव्य कृत्रिम अन्वितियों को छोड़ कर वह बोल-चाल की भाषा की सहज अन्विति के निकटतम आने का भी प्रयत्न करती रही है। लेकिन यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि रचनात्मक भाषा और बोल-चाल की भाषा एक हो गयी है। कवि जाने-पहचाने शब्दों का प्रयोग करता है, उन्हें यथासम्भव जाने-पहचाने या सहज-ग्राह्य अनुक्रम में ही रखता है, वैसी ही सरल विराम-योजना करता है, आदि। लेकिन उन्हीं शब्दों से

वह नये अर्थ की सृष्टि करता है। यानी शब्द परिचित हैं, लेकिन शब्द-प्रयोग विशिष्ट और रचनात्मक हो जाता है। एक हद तक तो यह साधारण अन्वित के विचलन से होता है; फिर यह परिचित शब्दो को ही अभूतपूर्व परिवेशो मे बैठाने से भी होता है, इत्यादि। कवि कभी अभिधा की अवज्ञा या उपेक्षा नही करता : लेकिन कभी अपने को उतने-भर से बाँध कर भी नही रखता। जो कवि केवल अभिधेयार्थ तक अपने को सीमित रखता है, उस की कविता उतनी ही इकहरी होती है जितना हमारा एक प्रयोजनवती भापा का साधारण व्यवहार। एक वार पढने मे ऐसी कविता चुटीली भी जान पड सकती है, लेकिन उस से आगे उस मे कुछ नही रहता। अखवार पढने वाले रोज नये अखबार की प्रतीक्षा करने है और कभी-कभी यह प्रतीक्षा आतुर भी हो सकनी है, लेकिन पढ लिए जाते ही अखवार रद्दी हो जाता है—या थोडे से लोगो के लिए उस दूसरी कोटि मे आ जाता है —'जिस की कभी जरूरत पड सकती है।'

मैं जानता हूँ कि आप के सवाल का पूरा जवाव यह नही है। सच कहूँ तो यह जवाव ही नही है। सर्जनात्मक भापा वनाने की समस्याओ का कोई अन्त थोडे ही है! हर कवि के लिए ही नही, हर रचना के लिए समस्याएँ अद्वितीय रूप मे आती है और रचना हो जाने के वाद ही वास्तव मे इस प्रश्न का सही विचार होता है कि यहाँ क्या समस्या थी और उस का क्या निराकरण हुआ। यानी रचनात्मक भापा की समस्याएँ भविष्यत् के रूप मे नही देखी जाती, अतीत के रूप मे ही दीखती हैं। यों हम ऐतिहासिक दृष्टि से लम्वी-चौडी सूची वना सकते है—जो दूसरो के लिए उपयोगी भी हो सकती हैं।

गद्य-भाषा और काव्य-भाषा मे भेद का क्या आधार हो ?

आधार क्या हो, इस का जवाव तो क्या दूँ! क्या भेद है, इस का कुछ सकेत तो मैने रख ही दिया। गद्य भी तो अनेक प्रकार का होता है। जहाँ प्रयोजन प्रधान है या किसी निर्भ्रान्त जानकारी का सम्प्रेषण अभीष्ट है, वहाँ गद्य इकहरा भी हो सकता है और वहाँ शब्दो का पर्यायत्व भी माना जा सकता है—एक शब्द के वदले दूसरा शब्द हम कोश से ले कर रख सकते है। लेकिन रचनात्मक गद्य मे स्थिति इतनी सरल नही रहेगी और हम क्रमशः उन जटिलतर स्थितियो की ओर वढते जायेगे जो काव्य-भापा के सामने आती है। यो कुछ मोटे भेद किये जा सकते हैं। वलाघात

और काकु का महत्त्व गद्य मे अधिक होता है। काव्य में स्वर-मात्रा का नियन्त्रण अधिक महत्त्व रखता है। स्वर-मात्रा का नियत्रण काव्य-भापा की गति को धीमा करता है। यह नियन्त्रण उस सतही नियन्त्रण से अधिक गहरा होता है जो गद्य में लक्षित होता है। इस गहराई के कारण ही काव्य मे वहुत कुछ ऐसा भी सरज भाव से कहा जा सकता है जो गद्य मे शील-विरुद्ध या सगोप्य या अश्लील तक जान पड़ सकता। गद्य की भापा मे जो भाव असयत जान पडते हैं काव्य-भापा मे इस गम्भीरतर अनुशासन के कारण संयत हो जाते है।

वुनियादी वात यह है कि गद्य का सीधा सम्वन्ध भापा से है; काव्य का भापा से नही वल्कि शव्द से और उस की सत्ता से।

आप अपने रचनात्मक विकास के क्रम में कुछ विशेष लेखकों से प्रभावित भी हुए होगे ? क्या कुछ नाम लेंगे ?

प्रभावित तो अनेको से हुआ हूँगा। लेकिन नाम गिनाना तो कठिन है· और उस मे जोखिम भी है। हम जो कुछ पढते हैं सभी से प्रभावित होते हैं। प्रभाव अनुकूल भी होते है, प्रतिकूल भी। फिर 'अच्छा लगने' और 'प्रभावित होने' मे अन्तर भी है—महत्त्वपूर्ण अन्तर। कई वार ऐसा होता है कि हम अपेक्षया साधारण लेखको से भी प्रभावित होते है—उन से कुछ सीखते भी हैं। नाम गिनाते समय लोग यह भी सोचते हैं कि 'अच्छे' और 'वडे' साहित्यकारो के नाम गिनाए जायें जिस से कि सुनने वाला यह भी जाने कि हम अच्छा साहित्य पढते रहे है। मैंने भी वहुत-सा अच्छा साहित्य पढा है—महान् कवियो और कथाकारो की चीजें पढी है—मैं भी चाहता हूँ कि आप ऐसा विश्वास करे। लेकिन मैंने ऐसा भी वहुत कुछ पढा है जो विलकुल घटिया था; और यह सिर्फ सम्पादक होने के नाते नही—मनोरंजन के लिए भी, वक्त काटने के लिए भी, जानकारी के लिए भी। और यह नही कह सकता कि इस घटिया साहित्य से भी कुछ सीखा नही : वल्कि उपन्यास और कथा की विधा मे तो यह भी कहा जा सकता है कि कई घटिया साहित्यकार वड़े कुशल शिल्प-विशारद होते है और शिल्प की दृष्टि से उन से अधिक सीखा जा सकता है।

बहुत पढ़ने से क्या रचनाकार की मौलिकता पर असर नहीं पड़ता ?

मैने कहा न कि असर तो सब-कुछ का पडता है। वैसे यह मैं मानता हूँ कि 'पडित' कवि की कविता कुछ अलग प्रकार की होती है या हो जाती है। सभी भापाओ मे ऐसे कवि हुए है जिन्हे पंडित कवि कहा गया है। पर मैं यह नही मानता कि पढने से मौलिकता घटती है—मौलिकता अगर होगी तो घटेगी क्यो ? पढने से कवि को लाभ भी हो सकता है, उस की रचना मे गहराई भी आ सकती है, व्यजना का क्षेत्र भी वढ सकता है। शर्त यही है कि कवि पाडित्य मे खो न जाये—अपने पाठक या सामाजिक को भूल न जाए।

क्या कुछ ऐसी भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं जिन्होने आप के लेखन को विशेष रूप से प्रभावित किया है ?

ज़रूर है और होगी। लेकिन लेखक का एक निजी जीवन भी होता है जिसे कम से कम उसे स्वय तो निजी ही रहने देना चाहिए। मैं तो निजी जीवन की सुरक्षा को हमेशा विशेप महत्त्व देता रहा हूँ और आज भी अधिक देता हूँ जव जीवन की निजता एक ओर यान्त्रिक सभ्यता के विकास से और दूसरी ओर व्यवसायी पत्रकारिता से और भी आक्रान्त होती जा रही है। यान्त्रिक सभ्यता का दवाव तो निर्वैयक्तिक माना जा सकता है। व्यवमायी पत्रकारिता की प्रवृत्ति ऐसी होती जा रही है कि उसे साहित्य के गुण-दोप मे रुचि नही रहती, न वह अपने पाठक का गुण-दोप-विवेक वढाती है। उस की दिलचस्पी साहित्यकार को उघाडने-उधेडने मे अधिक रहती है और इसी सनसनी की एक अस्वस्थ तलाश उसे रहती है—उसी के नशे की आदत वह वढाती है।

जिन घटनाओ ने मेरे लेखन को प्रभावित किया उन का प्रभाव लेखन मे मिलेगा ही। लेखन मे जितना मिलेगा उतना ही संगत होगा। नही तो जिस लेखक के जीवन की जानकारी हमे नही है क्या उस के साहित्य का मूल्याकन हमारे लिए असम्भव हो जाता है ? कालिदास या भवभूति के जीवन की घटनाओ के वारे मे हम कितना जानते है ? अवश्य ही उन के जीवन मे कुछ-न-कुछ महत्त्वपूर्ण घटित हुआ होगा !

इधर की आलोचना मे 'ईमानदारी' और 'प्रामाणिक अनुभूति' की माँग वहुत की गई है। एक लेखक के रूप मे आप इसे किस रूप में स्वीकार करते हैं ?

माँग तो अवश्य बहुत हुई है, लेकिन जिन लोगों ने माँग पर बहुत ज्यादा बल दिया उन सब ने उस की पूर्ति का भी उतना सात्त्विक प्रयत्न किया हो ऐसा तो मुझे नही लगता। असल में ये दोनो शब्द कुछ समकालीन मतवादी प्रवृत्तियों के साथ जुड़े हुए हैं और उन्ही के सन्दर्भ में समझे जा सकते हैं। पहले का कवि ईमानदार नही था, या उस से ईमानदारी अपेक्षित नही रही हो, ऐसा नही था; फिर भी ईमानदारी की उतनी चर्चा साहित्य और साहित्य-विवेचन के क्षेत्र में नही होती थी। क्यो कि ईमान जिन चीज़ो पर होता था या जिन चीज़ों पर होना आवश्यक माना जाता था—साहित्य में भी, सामाजिक जीवन में भी—उन के बारे मे पूरा समाज प्राय: एकमत था। यानी पूरे समाज का जीवन एक ही मूल्य-व्यवस्था से अनुशासित था। ईमान एक था, ईमानदारी एक थी। अब ऐसा नही है। लम्बे विश्लेपण का तो अवसर यह नहीं है, लेकिन मोटे तौर पर कहे कि मतवादी आग्रहो से विभाजित समाज मे अनेक मूल्य-दृष्टियाँ हैं और विभिन्न मूल्य-व्यवस्थाओं के अपने-अपने अनुयायी हैं जो दूसरे मतवादों और उन की मूल्य दृष्टियो पर शंका करते है। उन के लिए दल-निष्ठा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया है और साहित्यिक सम्प्रदायो में भी लगभग उतना ही महत्त्व रखता है जितना राजनैतिक सम्प्रदायों मे। इसी लिए ईमानदारी की इतनी चर्चा है और अपनी बिरादरी से बाहर के सभी लेखकों की ईमानदारी पर प्रश्न-चिह्न लगाया जाता है।

प्रामाणिक अनुभूति की बात भी ऐसी ही है, बल्कि शायद कुछ जटिल-तर है। प्राचीन युग मे और रीतिकाल तक 'प्रामाणिक अनुभूति' की कोई चर्चा नही होती। औचित्य का विचार होता है, जिस का सम्बन्ध कवि की अनुभूति से नहीं, अनुभूतियों के साधारणीकृत रूप से और काव्य में प्रस्तुत स्थिति के साथ उस रूप के सामजस्य से है। और परम्परा मे हमेशा कवि ऐसी बातों की भी चर्चा करते रहे जिन की अनुभूति का सवाल ही नही उठ सकता था। बल्कि यह भी कह सकते है कि प्रामाणिकता का अनुभूति से सम्बन्ध ही नही जोड़ा जाता था।

कवि की ओर से कोई दावा न हो कि वह जो लिख रहा है अनुभूति के आधार पर लिख रहा है, और फिर भी उसे बेईमान मानने की किसी को न सूझे—ऐसा क्यों था?

अनुभूति की बात कवि के व्यक्तित्व से जुडी हुई है। जिस काव्य मे कवि का व्यक्तित्व प्रधान नही होता, उस मे अनुभूति की दुहाई नही दी

जाती। वाचिक परम्परा का समूचा काव्य रीति-प्रधान है : उस मे कही कवि के व्यक्तित्व की छाप अपेक्षित नही है बल्कि उसे दोप भी माना जा सकता है। और उस मे कही अनुभूति का प्रमाण भी नही माँगा जाता है—यानी रचनाकार की अनुभूति का प्रमाण। बल्कि अनुभूति के प्रामाण्य का सवाल उठता है तो दूसरे पक्ष की अनुभूति को ले कर—गृहीता समाज की अनुभूति को ले कर। यानी सवाल यह नही होता कि कविता मे जो है उसे कवि की अनुभूति कहाँ तक प्रमाणित करती है (और वह कहाँ तक कवि की अनुभूति को प्रमाणित करता है)। सवाल यह बनता है कि वह कहाँ तक सामाजिक की अनुभूति मे प्रमाणित होता है—जो कि साधारणीकरण की साधारण समस्या का एक पहलू है।

पिछले दिनो के लेखन में कुछ शब्द बार-बार उछाले गए हैं जैसे 'यथार्थ', 'आधुनिकता-बोध', 'विद्रोह' और 'क्रान्ति' आदि। एक रचनाकार की हैसियत से आप के निकट इन शब्दो का क्या अर्थ है ?

सुनिए, जिन चीजो पर विस्तार से और हाल ही मे लिख चुका हूँ उन पर कुछ न कहलाइये तो कैसा ? 'यथार्थ' की ओर 'आधुनिकता-बोध' की और 'परम्परा' की 'प्रासगिकता' की काफी चर्चा मैंने की है—**भवन्ती** मे, **अन्तरा** मे, कहानी-सग्रह की भूमिकाओ मे और कुछ व्याख्यानो मे जो छप गए है या छप रहे है। उन बातो को दुहराने से भी लाभ नही है और यहाँ कोई चलता जवाब दे देने से कुछ सिद्ध नही होता।

'विद्रोह' और 'क्रान्ति'—इन के बारे मे ज़रूर कुछ सोचने को है। सोचने को है तो कहने को भी होगा। लेकिन अभी तुरन्त नही जानता कि क्या कहूँ। इन की जो परिकल्पना **शेखर : एक जीवनी** के चरित-नायक की थी वह आज मेरी नही है, इतना तो कह सकता हूँ। रोमानी भावना का मुलम्मा काफी-कुछ उतर चुका है। यह भी पहचानता हूँ कि अपनी दृष्टि के विकास से जो परिवर्तन होता है या हो सकता है वह अधिक गहरा और टिकाऊ होता है। यह भी कि जब हम दूसरे के विवेक से अपने विवेक को बडा मान कर जाने-अनजाने मूल्य-निर्धारण का ठेका ले लेते है, तब तेजी से और बलपूर्वक परिवर्तन तो ला सकते है; लेकिन वे टिकते नही और यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे सब सही ही होगे। बल्कि ऐसी हिंसा—शारीरिक या मानसिक या

और भी सूक्ष्म स्तर की हिंसा—उसी-उसी स्तर पर वैसी ही प्रतिहिंसा भी अवश्य जगाएगी।

क्या रचनाकार के लिए किसी खास विचारधारा को स्वीकार करना उस की रचना के हित में होता है ?

विचारधारा हर किसी की होती है—उस के बिना आदमी विवेकवान् प्राणी कैसे है ? लेकिन यहाँ विचार-धारा का अर्थ है एक जीवन-दृष्टि, एक मूल्य-पद्धति और आचरण अथवा कर्म के बारे मे एक वरीयता-प्राप्त दृष्टिकोण। और अगर इन के बिना जीना ही नही होता, तो यह सवाल कुछ महत्त्व नहीं रखता कि ये रचना के हित मे है या नही। लेकिन आप का प्रश्न शायद विचार-धारा से उतना नही जितना मतवाद से सम्बन्ध रखता है—फिर ये मतवाद चाहे राजनैतिक हो अथवा धार्मिक, चाहे कुछ और। मतवादो के बारे मे कहूँ कि वे जरूर रचना में बाधक हो सकते है। विचार-धारा और मतवाद मे यह भेद करना चाहूँगा कि जो विचार या मत या सम्प्रदाय भी लेखक के जीवन मे ऐसा रच गए है कि कर्म के बारे मे द्वैध या तनाव पैदा नही करते, उन्ही को मैं किसी रचनाकार की विचार-धारा कहूँगा, और उन से कोई अहित नही होता। जहाँ हमारा विवेक हमे एक प्रकार के कर्म की प्रेरणा देता हो—निजी जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कर्म की या सामाजिक कर्म की—और हमारा मतवाद एक दूसरे प्रकार के कर्म या आचरण का निर्देश देता हो, वहाँ समस्या होती है। सिद्धान्ततः तो ऐसा हो सकता है कि ऐसे द्विभाजित मानस का तनाव रचना के लिए भी प्रेरक हो, लेकिन वस्तुतः ऐसा नही होता है क्यो कि रचनाशील तनाव व्यावहारिक जगत् तक सीमित नही होते बल्कि उन की जड़ें अवचेतन तक फैली हुई होती हैं। इस लिए कहूँ कि मतवाद रचना मे सहायक नही होते। इस का मतलब यह नही है कि रचनाकार के अपने मताग्रह नही हो सकते या कि उस का सामाजिक कर्म उन से प्रेरित नही होना चाहिए। लेकिन वह क्षेत्र दूसरा है।

कविता के मूल्यांकन का आधार कविता में हो या कविता के बाहर ?

कविता के बाहर आप किस को मान रहे है ? कविता तो सम्प्रेषण

है और सम्प्रेषण मे हमेशा दूसरा पक्ष मौजूद है—उसे कविता के बाहर कैसे माना जा सकता है ? रही बात उन मूल्यो की जो कि पहले से प्रतिष्ठित चले आए है। उन के मामले मे देखना यह होगा कि वे किस सीमा तक कविता के नाम के है, सम्प्रेषण की नयी पृष्ठभूमि मे कहाँ तक कवि के सहायक है। यो तो मूल्याकन का आधार कविता को ग्रहण करने वाला पक्ष ही होता है। कवि तो रचयिता है, रचना का मूल्याकन थोडे ही करता है।

रचनाकार का बुनियादी सरोकार क्या होता है ?

इस सम्बन्ध मे मै तो सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे लिए महत्त्व की बात यह है कि अपने और अपने आस-पास के बीच जो सम्बन्ध है उसे जानने-पहचानने का प्रयत्न करूँ—उस के सभी स्तरो को उन की समग्रता और जटिलता मे और उस पहचान के सहारे उस स्वाधीनता को बढाऊँ और पुष्ट करूँ जो मेरे मानवत्व की सब से मूल्यवान उपलब्धि है।

मेरा आभ्यन्तर जगत भी मेरा आस-पास हो जाता है जब मै उस की ओर देखता हूँ : इस लिए अपने-आप से अपना सम्बन्ध पहचानना भी आस-पास से अपने सम्बन्ध की पहचान का ही एक पहलू हो जाता है। और मानव की स्वाधीनता मानव मात्र की होने के कारण अविभाज्य है : किसी एक की स्वाधीनता को विक्षत या सीमित कर के दूसरे की स्वाधीनता नही बढायी जायेगी।

रचनाकार की स्वतंत्रता से क्या अभिप्राय है ? कौन-सी शक्तियाँ उसे बाधित करती हैं ? रचना के लिए आदर्श राज्य-व्यवस्था कौन-सी है ?

मैं तो अभी तक मानता हूँ कि सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था वही है जिस मे शासन सब से कम हो। लेकिन यह मैं जानता हूँ कि यन्त्रोद्योग के विकास के साथ जीवन मे विराट् संगठन का महत्त्व बढता जाता है। उस पैमाने पर संगठन और व्यवस्था करना व्यक्ति के लिए सम्भव नही है। इस लिए सरकार का कार्यक्षेत्र निरन्तर फैलता जा रहा है। यह पहचानना जरूरी है कि सरकार हमे वही दे सकती है जो वह पहले हम से ले लेती है, शून्य मे से वह कोई समृद्धि या सुविधा या सुरक्षा या स्व-

तन्त्रता हमे नही देती। तो हमे सोचना होगा कि जब हम सरकार से कुछ माँगते हैं, तो उस अपेक्षा मे ही पहले ठीक वही चीज सौंप दे रहे हैं जिसकी हमे अपेक्षा है। इस लिए मैं चाहूँगा कि सरकार मे हमारी अपेक्षाएँ भी कम से कम हो अगर हम चाहते हैं कि हमारे जीवन मे उस के पंजे की पहुँच कम से कम रहे।

आदर्श राज्य-व्यवस्था कौन-सी हो, इस प्रश्न का उत्तर बिना उसे एक दूसरे प्रश्न के साथ जोड़े नही दिया जा सकता—कि आदर्श आत्मानुशासन कौन-सा हो। मैं चाहता हूँ कि राज्य की अपेक्षाएँ मुझ से कम से कम हो क्यों कि मैं मानता हूँ कि राज्य पर मेरी निर्भरता भी कम से कम हो।

यों रचनाकार की स्वतन्त्रता के आयाम दूसरे भी हैं। मेरी समझ मे स्वतन्त्रता एक बुनियादी मूल्य है। मेरा मानवत्व और मेरी स्वतन्त्रता एक-दूसरे मे अविभाज्य रूप से जुड़े हुए है। इस पर भी मैंने अन्यत्र लिखा है जिसे यहाँ नही दोहराऊँगा।

आज के यांत्रिक, तकनीकी और राजनैतिक दबाव के युग में साहित्य का क्या भविष्य है ?

ये सभी पूर्वानुमेय हैं—सभी प्रतिज्ञा और पूर्वानुमान के आधार पर आगे बढ़ते हैं। रचनाशील मानस अप्रमेय है। इसी में साहित्य का भविष्य है : वह अप्रमेय और अननुमेय मानव की सम्भावनाओ के उन्मेष का क्षेत्र है। साहित्य-रचना मे मनुष्य अपनी अकल्पित और अपूर्व सम्भावनाओ को पहचानता और आत्मसात् करता है। अपनी स्वाधीनता और अपनी रचनाधर्मिता को अभिव्यक्ति भी देता है, और स्वायत्त भी करता है। साहित्य असीम की देहरी है।

□□

१. प्रश्नकर्त्ता . डा० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, डा० परमानन्द, श्रीवास्तव तथा डा० केदारनाथ सिंह। (१९७५)

"उच्छिष्टाक ? जी नही, आज-कल उतना ही परोसना चाहिए जितने से मेहमान उँगलियाँ चाटता हुआ उठे। कम से कम इन मामले मे मैं परम्परावादी नही हूँ—या यो कह लीजिए कि अपनी पसन्द की परम्परा मे जुडना चाहता हूँ।"

कुट्टिजात-विनोदेन-२

उत्तर भारत का हर लेखक यानी हिन्दी-लेखक एक अजूबा होता है। लेकिन उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जब दक्षिण की सद्भावना यात्रा पर आये थे तब उन्होने अपने सद्भावना-प्रसार के दौरान एकाधिक बार कहा कि "आप लोग हमे ही अजूबा मानते है ? तब आप ज़रा 'अज्ञेय' से मिलिए—उन्हें तो हम भी एक अजूबा मानते है।" तब से कौतूहल था जो इस बात से और बढ़ गया कि मोहन 'राकेश' से उनके बारे मे पूछने पर उन्होंने कहा : "बात तो ठीक है—न मालूम अश्क कैसे एक फैक्ट सही बयान कर गया। पर ठहरिए, एड्वाइस उस की ठीक नही है—क्यों कि अज्ञेय से मिलने की राय मैं नही देता। वह अजूबा ज़रूर है, पर मीट करने लायक हरगिज़ नहीं—बल्कि उस से मिला तो जा ही नही सकता। मिलना तो मेरे जैसे यारबाश आदमी से चाहिए।"

इस लिए केरल मे भारतीय लेखक सम्मेलन के लिए जब वह इधर आये तो उन से मिलने उद्योगमंडल जा पहुँचा। वहाँ पहुँचा तो पता लगा वह घूमने कोचिन गये है; कोचिन में पूछ-ताछ कर निराश हो कर समुद्र की ओर घूमने चला गया तो देखा, एक 'हूह की ओट' काठ-चम्पे के झाड़ के नीचे बैठे रेती मे सीपियाँ खोज रहे है—अज्ञेय। अपने को सफल मान मैं उन के समीप जा कर रेती मे बैठ गया।

यह समझ कर कि मैं काठचम्पे की छाया का साझा करने आ बैठा हूँ, वह सारी छाया मेरे लिए छोड़ कर दूर जा बैठे और फिर सीपियाँ बटोरने लगे। जैसे किसी दूसरे का सामीप्य उन्हे पसन्द नही था।

मैं थोडा अप्रतिभ तो हुआ, पर साहस कर के फिर उन के पास चला गया। गलतफहमी बढ़े नही, इस ख्याल से मैंने कहा : अज्ञेय जी, मैं तो

आप ही के पास आया था।"

उन्होने हाथ से सीपियाँ गिर जाने दी, विस्मय दिखाते हुए कहा, "मेरे ?" और एक बार चारो ओर नजर दौड़ायी मानो कह रहे हों, सागर, सिकता, लहरें, सीपिया, काठचम्पे—इतना सब रहते हुए भी आप आये है मेरे पास ?

फिर वह बोले, "कहिए ?"

मैने जाडे मे ठडे पानी मे छलाँग लगाने के-से भाव से कहा, "अज्ञेय जी, आप को हिन्दी जगत् एक अजूबा क्यो मानता है ?"

वह मुस्करा दिये। एक सीपी उठा कर उसे घुमा-फिरा कर देखते हुए बोले, "क्यों मानता है, यह तो आप हिन्दी जगत् से पूछिए, मैं कैसे बता सकता हूँ ? मैं तो यही बता सकता हूँ कि मै क्या मानता हूँ—और उस के बारे मे भी यह चेतावनी आप को अवश्य दूँगा कि लेखक अपने बारे मे जो बताये उस पर विश्वास कभी मत कीजिए—उस की रचना जो बताये उसी को प्रमाण मानिए।" फिर मानो मुझ पर अनुकम्पा दिखाने के भाव से बोले, "यो शायद हिन्दी जगत् ठीक ही मानता है : अजूबा तो हूँ।"

"राष्ट्रभाषा के बारे मे आप की क्या राय है ?"

"देखिए, मैं तो लेखक हूँ न ? मुझे हिन्दी से प्रेम है, राष्ट्रभाषा मे मेरी दिलचस्पी नही है।"

"तो आप हिन्दी को राष्ट्रभाषा नही मानते ?"

"मेरे लिए वह प्रश्न बेमानी है। हिन्दी लिखता-बोलता हूँ, उस मे मेरी रुचि है। और भी जिन भाषाओ मे साहित्य लिखा-पढा है—देशी या विदेशी—उन मे भी मेरी रुचि है। जिन बोलियो मे लोगो का सहज जीवन अभिव्यक्ति पाता है उन मे भी मेरी रुचि है। यानी जिस-जिस साहित्य मे जितनी रुचि है उस-उस की भाषा मे भी उतनी ही। जिस साहित्य के बारे मे कुछ नही जानता, उस मे रुचि है यह कहना तो सही न होगा : हाँ, कौतूहल का दावा कर सकता हूँ।"

हम तो समझते थे राष्ट्रभाषा-राजभाषा के सवाल मे आप की बडी दिलचस्पी होगी।"

"सवाल मे दिलचस्पी और चीज है—उस मे दिलचस्पी मुझे भी है, पर राजभाषा मे क्यो हो ? मुझे राज चलाना नही है। और राज मुझे चलाये इस मे मदद मै दूं, ऐसी कोई लाचारी मै नही देखता। सच बात

है कि मैं प्रवृत्ति से अराजकतावादी हूँ—राज का ज़ोर जितना मुझ पर से हट जाय, राय की ज़रूरत जितनी कम महसूस करूँ, उतना ही अपने को भाग्यवान् समझूँगा।"

"पर हमारे दक्षिण में तो हिन्दी की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की बड़ी चर्चा है।"

"सुनिए, आप को इस साम्राज्यवाद के हौए की एक बात सुनाऊँ। कोई सोलह-सत्रह वर्ष पुरानी बात है। मैं दक्षिण मे घूमता हुआ कोट्रालम् गया था। ज्ञात हुआ कि रामस्वामी नायकर वही है; एक मित्र ने पूछा कि क्या उन से मिलना चाहूँगा—तमिल के बड़े विद्वान है और भाषा-प्रेमी है। मैंने हामी भर दी। पर रामस्वामी नायकर एक हिन्दी लेखक से मिलने को तैयार नही हुए—उन का कहना था कि वह 'किसी उत्तरी साम्राज्यवादी से मिलना नही चाहते।' जो मित्र यह जवाब लाये थे कुछ संकुचित थे, पर नायकर का जवाब तो नायकर का जवाब था, उस का वह क्या करते ? अपनी ओर से इस मनोवृत्ति की चर्चा करने को तैयार थे।

"मैंने पूछा, 'आप बताइये कि उत्तर का साम्राज्यवाद कही है और साम्राज्य कही है ? केन्द्र मे शासन के शिखर पर अभी तक दक्षिणी बैठा रहा। देश-रक्षा दक्षिणी के जिम्मे है। विदेश नीति को दक्षिणी चौपट कर रहा है। वित्त और व्यापार आपका है। शिक्षामन्त्री आप का नही तो कम से कम हिन्दी का समर्थक तो नही माना जाता। फिर कहाँ का साम्राज्य और कैसा साम्राज्यवाद ?'

"उन्होंने कहा, 'मैं थोड़े ही कह रहा हूँ। पर जो कहते है वे तो निरे शासन की नही, सास्कृतिक साम्राज्यवाद की बात करेगे। नायकर भी ऐसा ही सोचते हैं शायद।'

"मैंने हँस कर कहा, 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ? जो शंकराचार्य भारत दिग्विजय करने गये थे वह आप के दक्षिण के थे। अब भी हमारे सब से उत्तरी तीर्थ बदरीनाथ पर आप का राज्य है। हमारे इतिहास का सब से बडा सास्कृतिक आन्दोलन भक्ति का था, वह दक्षिण से फैला। धर्म-ग्रन्थों मे वेदो को आज कोई पढ़ता नही, जो पढते है वे जितना काशी को प्रमाण मानते हैं उतना ही कांची को भी। **विष्णु पुराण** और **भागवत पुराण** दोनो आप के है। वैष्णव मत भी आप का, शिव भी आप का : चित भी और पट भी। रह गये शाक्त—सो उस सम्प्रदाय मे

और जिस का हाथ हो हिन्दी उत्तर भारत का तो नही है। पूर्व का कहिए तो वे भापा-क्षेत्र आप के साथ है, आप के साथ नही तो उत्तर भारत के विरुद्ध तो है ही और वे भी उत्तर के साम्राज्यवाद की वात करते है। और कुछ देन कश्मीर की है सो कश्मीर का हाल आप जानते ही है। ये सब उत्तर के साम्राज्य के लक्षण है, या कि दक्षिण की घुस-पैठ के ? क्या हमे भी 'दक्षिणी इनफिल्ट्रेशन' का डरौना अपनी खेती मे खडा करना होगा ?"

अज्ञेय थोडी देर चुप रहे। फिर उन्होंने कहा, "सुनाने की वात तो इतनी ही थी। यो वात-वात मे यह वात भी उठी थी कि उन का नाम रामास्वामी नायकर कैसे हुआ : न 'राम' तमिल का शब्द, न 'स्वामी' न 'नायक', (वाकी तमिल की रह गयी सिर्फ 'अर्'।)—क्या सस्कृत का यह राज्य साम्राज्यवाद नही हुआ ? मैंने इतना ही कहा था कि उन का नाम मैंने तो नही रखा, न किसी हिन्दी वाले ने। वल्कि अव तो हिन्दी मे भी ऐसे वहुत मिल जायेंगे जो सस्कृत के विरोधी है।"

मैंने पूछा, "आप की क्या राय है ?"

वह वोले, "आप ने मुझे अजूवा कहा न ? हिन्दी के वहुत-से लोग तो मुझ से इसी लिए नाराज है कि मै हिन्दी पर सस्कृत का साम्राज्य चाहता हूँ। समझे आप—हिन्दी के लिए मैं हिन्दी-विरोधी हूँ क्यो कि हिन्दी लिखता हूँ।"

मैंने कहा, "नायकर को यह मालूम होता तो शायद आप से खुद मिलने आते—"

"या क्या जाने, वही हिन्दी के समर्थक हो जाते।" कह कर अज्ञेय हँस दिये।

मैंने कहा, "तमिल वालो को इसका गर्व है कि उन की भाषा एक हज़ार साल से विल्कुल ज्यो की त्यो है, जव कि और सव भारतीय भापाओ की कुल विकास परम्परा ही हज़ार साल से कम की है।"

अज्ञेय : "तो अगर तर्क को उलट कर कहे कि जितने अर्से मे और जगह एक समूची भापा वन कर खडी हो गयी उतने मे तमिल ने कुछ नये शब्दो या प्रयोगो का भी आविष्कार नही किया—तो ? यो यह वात है विल्कुल गलत, क्यो कि वताइये, तमिल अगर कही से कुछ ग्रहण न करती तो यह नाम 'रामस्वामी' आता कहाँ से ?"

मैंने हँस कर उत्तर दिया, "नाम तो उत्तरी साम्राज्यवाद से आया

न। ऐसे आयात को छोड़ दें तो—"

"यानी जो बदला उस को छोड़ दें तो बाकी बिल्कुल नहीं बदला। जी हाँ, वह तर्क तो बिल्कुल नीरन्ध्र है, अभेद्य है। इस तरह संस्कृत के लिए कहा जा सकता है कि जो वैदिक संस्कृत वेदो के ज़माने में थी, वही आज भी वैदिक संस्कृत है। बाकी आज जो सस्कृत बोलते है थोड़े-से लोग, वे जो बोलते हैं यह तो बाद की चीज़ है—पर वैदिक संस्कृत ज़रा भी नही बदली। लेकिन इसके अलावा आप यह तो बताइये कि न बदलना भाषा का गुण कब से है? हमारे लिए तो यह तर्क भी हो सकता कि वैदिक संस्कृत भी बदलती रही—पर आप दक्षिण के लिए तो वेदो का प्रमाण मानेंगे नही—तो यही कहूँ कि मैं सचमुच देखता कि हज़ार वर्ष मे किसी भाषा में कुछ नहीं बदला तो मानता कि हजार वर्ष पहले वह भाषा जड़ हो गयी थी।"

"तो आप तमिल का दावा गलत मानते है?"

"मैं यह कैसे कहूँ? उन्हे यही मानना अच्छा लगता है तो मानें। विशेष अर्थ मे शायद माना भी जा सकता है—जैसा मैंने कहा। एक तमिल है जो कभी नही बदली; एक तमिल है जो बोली जाती है जिस में बहुत कुछ मिलावट है। कल तक संस्कृत मिला कर हम खुश थे, आज अँगरेज़ी मिलाना पसन्द करते हैं। पर वह सब तो मिलावट है—बेगाना तत्त्व है। तमिल तो तमिल है—प्यूर टैमिल—जो न कभी बदली न बदल सकती है। अब देखिए न, आज मिलावट के ज़माने मे सब कुछ मिलावटी होता है; आटे मे खड़िया मिट्टी, चीनी मे बालू, हलदी मे लकड़ी का बुरादा, घी मे चरबी—पर असल चीज तो असल चीज़ है। हम खाते रहें चाहे वनस्पति तेल, पर घी तो घी रहेगा—हजार क्यो, पाँच हज़ार साल से घी भी ज्यो का त्यो है, दूध भी—और दूध देने वाली गाय भी। वैसे ही तमिल शुद्ध तमिल है—**टैमिल इज़ प्यूर टैमिल**। यह अन्तिम बात मैंने आधुनिक शहरी तमिल मे कही है। हिन्दी मे भी एक आधुनिक शहरी हिन्दी बोली जाती है—बहुत-से एजुकेटेड हिन्दी राइटर्स मॉडर्न हिन्दी स्पीक करते है।"

मुझे याद आया कि दो-एक दिन पहले ठीक ऐसी भाषा मोहन राकेश से सुनने को मिली थी। यही मैंने कहा भी, और साथ कहा कि अश्क प्राय. तो ऐसी नही बोलते थे, कभी-कभी तैश मे ज़रूर—

अज्ञेय ने बात काटते हुए कहा, "हाँ, राकेश तो अपने को मॉडर्न

यानी शहरी राइटरो का अगुवा मानते है न। और अश्क के बारे मे आप ने ठीक कहा, वह सिर्फ तैश मे आने पर ही थोडी देर के लिए एजुकेटेड हिन्दी राइटर हो जाते हैं।"

मैंने पूछा, "लेकिन राजभाषा के मसले का होगा क्या। आप ने कहा कि सवाल मे तो आप की दिलचस्पी है, राजभाषा मे नही तो ?"

अज्ञेय . "मैं तो समझता हूँ कि अब हड़बडी से कोई फायदा नही है। पन्द्रह साल पहले सवाल आसानी से हल हो सकता था—यानी और कई सवालो से कम मुश्किल था जिन का हल हम खोज रहे थे। थोडी-सी गडबडी होती—पर जहाँ सौ तरह की गडबडी थी वहाँ एक-सौ-एक हो जाने से कोई अलग लक्ष्य भी न करता। अब हम ने समस्या को पन्द्रह गुना बढा लिया है, और उसे हल करने के सकल्प का केवल पन्द्रहवाँ हिस्सा बाकी रह गया। और आदर्शनिष्ठा ? उसे तो देश का विभाजन स्वीकार करने के साथ-साथ अवकाश दे दिया गया था।"

तो अब करना क्या चाहिए ?"

शिक्षा का आधार भारतीय भाषाओ को बनाना चाहिए। बुनियादी बात वही है।"

"पर उस से आगे ? जैसे दूसरी भाषा का प्रश्न? हिन्दी या अँगरेज़ी या दोनो की अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न ? क्या आप त्रिभाषा सूत्र के पक्ष मे हैं ?"

"पहली बात पहली बात है। यानी प्रदेशो मे प्रदेश की भाषाओ की प्रतिष्ठा। उस से आगे जरूरी नही है कि सीढी-दर-सीढी चला जाये। बल्कि मेरी समझ मे तो रस्सी को दोनो सिरो से पकड़ना चाहिए। दूसरा छोर एक नया त्रिभाषा सूत्र है—मेरा अपना—"

मैंने उत्सुकता से पूछा, "वह क्या ?"

"सांस्कृतिक भूगोल या जीवन-व्यवस्था की दृष्टि से हमारे अब प्राय: तिकोने देश की तीन भुजाएँ है। तीनो प्रदेश-समूहो के भाषा-समूहो मे से एक-एक भाषा ले कर क्या हम नही चल सकते ? अगर हम चार द्राविड भाषाओ को कहे कि आपस मे तै कर के अपने मे से एक को दक्षिण की सामान्य भाषा मान ले, और इसी प्रकार पूर्व की भाषाओ मे से भी एक का चुनाव करा ले—उत्तर-पश्चिम हिन्दी-हिन्दुस्तानी पर एकमत हो ही जायेगा—तो इन तीन भाषाओ के सहारे हमारा त्रिभाषा फार्मूला चल सकता है।"

"लेकिन इस से एक भाषा की वात तो फिर भी रास्ते मे रह जायेगी।"

'एक भाषा की वात नही, हम रास्ते पर आ जायेगे—एक भाषा के। मैंने कहा न कि एक भाषा के लिए अव हड़वड़ाना नही चाहिए? मेरे त्रिभाषा सूत्र से एक भाषा न भी हुई तो उधर वहुत प्रगति तो होगी—कई वडे फायदे हो जायेंगे।"

"कुछ उदाहरण देंगे ऐसे फयदो के?"

"मसलन् सव से वडा फायदा यह कि यह साम्राज्यवाद की वात खत्म हो जायेगी। आप का दक्षिण ही लीजिए : या तो आप चारो मे से किसी एक भाषा पर सहमत हो जायेगे—या नही होगे। हो जायेंगे, तो अगर चार मे मे एक विना साम्राज्य माने चुनी जा सकती है तो पन्द्रह मे से क्यो नही चुनी जा सकती? लोग सवाल को सही दृष्टि मे देख सकेंगे : सव की सुविधा की दृष्टि से।" कुछ रुक कर वह वोले : "या फिर एकमत नही होगा। तव फिर आज उत्तर को या हिन्दी को जो गालियाँ दी जाती हैं, उन की वौछार दूसरी ओर मुड जायेगी—आप सव एक-दूसरे को साम्राज्यवादी कह कर कोसने लगेंगे। इसी प्रकार अन्यत्र भी : जव सभी सव को साम्राज्यवादी मानने लगेंगे तव फिर से लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा हो जायेगी।"

मैंने कहा : "यह कैसा लोकतन्त्र?"

"क्यो, इसी परिभाषा पर तो आज दक्षिण इतना जोर दे रहा है—'सव को समान अवसर' नही, 'सव को समान कठिनाई'— असुविधा का समान वितरण। इस लिए सव को गाली खाने की समान पात्रता और लाचारी।"

मैं थोड़ी देर चुपचाप देखता रहा : क्या अज्ञेय सचमुच यह प्रस्ताव कर रहे है या मज़ाक कर रहे हैं? लेकिन सारा हिन्दी जगत् साक्षी है कि अज्ञेय आभिजात्य उर्फ मनहूसियत का वातावरण साथ ले कर चलते हैं—मज़ाक उन के पास नही फटकता। वही फिर वोले · 'फायदे और भी होगे।"

"क्या?"

"कोई भाषा अपने सिर्फ पुरानी होने की दुहाई नही देगी; नयी हो सकने का सामर्थ्य ही अधिक महत्त्व पायेगा। न वदलना गुण नहीं माना जायेगा, वदल सकना गुण होगा। सव आज की ज़रूरतों की कठोर

चुनौती का सामना करेंगी—हजार साल पहले की सुविधाओ के गुलगुले गलीचो पर पडी इतरार्ती न रहेगी। हज़ार साल पहले के शुद्ध रूप का गर्व बेमानी हो जायेगा। इस से सब भाषाओ को लाभ होगा—कोई राजभाषा बने या न बने। आप बताइये—यह क्या कम लाभ होगा ?"

मैंने नही सोचा था कि सवाल मेरी ओर मोड़ दिया जायेगा। अचकचा कर बोला, "हाँ-आँ—"

उन्होने कहा, "फिलहाल इतना हो जाये तो मैं सन्तुष्ट हूँ। आज की आवश्यकताओ की चुनौती का सामना हमारी भाषाएँ करने लगेंगी तो अपने-आप सही रास्ते पर आ जायेगी। राजभाषा की समस्या हल हो जायेगी।"

हम दोनो थोडी देर चुप रहे। फिर अज्ञेय ने कहा, "गणित मे आप की रुचि है ? मैंने सुना है, हर दाक्षिणात्य की होती है। रुचि ही नही, प्रतिभा।"

मैंने विनय दिखाते हुए कहा, "रुचि तो है।"

"असल मे भाषा की समस्या का हल गणित से मिल सकता है।"

"वह कैसे ?"

"अब देखिये मान लीजिए एक भाषा कहती है, हजार साल मे हम मे ज़रा भी परिवर्तन नही आया। हम आज भी ठीक वही है जो हज़ार साल पहले थे। इस बात को गणित की भाषा मे कहे तो यह समीकरण बना

$$\text{भा} = \text{भा} + १०००$$

बना न ?"

मै ने पूछा, "आगे बताइये।"

अज्ञेय ने एक सीपी से सामने रेती पर लिखते हुए कहा : "अब इस का हम विस्तार कर सकते है :

यदि	$\text{भा} = \text{भा} + १०००$
तो	$\text{भा} = (\text{भा} + १०००) + १०००$
अतः	$\text{भा} = (\text{भा} + १००० + १०००) + १००० + \cdots$
.	यो ∞ तक

हो गया न ?"

"हाँ, समीकरण मे पहला पद यदि ठीक है तो आगे सब सिद्ध होता है।"

"सिद्ध होता है। इस का अर्थ क्या हुआ ? कि भा ही एक मात्र सत्य है, बाकी १०००+१०००+१००० का अनन्त तक योग सब सिफ़र है। यानी एक भा यथार्थ है तो बाकी सब सख्या अर्थहीन है, शून्य है। अब इस का फिर साधारण भाषा मे अनुवाद करें तो मतलब हुआ कि भारत की पचास-साठ-सत्तर करोड़ जनसख्या तो शून्य है, अस्तित्व ही नही रखती, और एक भाषा एक आत्यन्तिक और स्वयसिद्ध सच्चाई है।"

मैंने कहा, "अज्ञेय जी, ऐसा तर्क आप को शोभा नही देता। पहले समीकरण मे १००० एक हज़ार वर्ष के लिए था, एक हज़ार जन-संख्या के लिए नही। समीकरण की कोटियाँ यो बदली नही जा सकती।"

अज्ञेय ने विचलित हुए बिना कहा, "आप यह कहना चाहते है कि १०००+१०००+१००० वर्षो का योग अर्थहीन सिद्ध हो जाना आप मान लेंगे, पर यह नही मानेंगे कि इतनी जनसख्या का योग अर्थहीन है। यही न ?"

मैंने सिर हिलाया।

"यानी आप के लिए समय अर्थहीन हो जाने से भी मानव अर्थहीन नही हुआ। मेरे लिए दोनो एक ही बात हैं। जिस के अस्तित्व के दो आयाम हम ने माने—देश और काल—उस का एक आयाम उड़ा देने से भी वह वही रहेगा यह मैं नही मान सकता। काल का आयाम अर्थहीन सिद्ध होने से भी मनुष्य के अनस्तित्व की प्रतिज्ञा हो जाती है।

मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "वह हो जाती होगी, पर आप के गणित के समीकरण से तो वह नही निकलता न।"

"क्यो नही : वह समीकरण बीज-गणित का था, यह परिणाम रेखा-गणित का है। दोनो गणित। और आप कहें कि एक विधा से दूसरी विधा मे नही जा सकते तो कहना होगा कि आप आधुनिक साहित्यकार नहीं हो सकते, और चाहे जो हो जायें। बल्कि किसी भी कला के कलाकार नही हो सकते—क्यो कि आज-कल तो दूसरी विधा मे जाये बिना पहली

विधा ही नही बनती—यानी विधान्तर ही विधा है।"

मैने हताश हो कर कहा, "अज्ञेय जी, इस तर्क से तो विपयान्तर ही विषय होगा।"

अज्ञेय खुल कर हँसे (अश्क जी कृपया नोट लें)। बोले, "चलिए, यहाँ आ कर हम-आप एक हो गये। इसी को हमारी-आप की भेट कहा जाये?"

मैने मन ही मन सोचा, "भेट तो यह किसी पत्र-पत्रिका की होगी—" और यह भाव मेरे चेहरे पर आ गया होगा, पर तब तक अँधेरा उमड कर रेती पर छा गया था और सागर की ओर बढने लगा था, इस लिए हम लौट आये।

(मैंने यह इटरव्यू अपनी तत्कालीन टीप के आधार पर लिखा है। टीप और इस लेख मे दो वर्ष से अधिक का अन्तराल है, फिर इसे अज्ञेय से दुबारा प्रमाणित भी नही कराया गया, पर मेरा विश्वास है कि यहाँ उन से कहलायी गयी बातो का वह प्रतिवाद नही करेगे।)[1]

१ 'कुट्टिचातन्' की इस पा० टि० पर 'अज्ञेय' की पा० पा० टि० भी कदाचित अपेक्षित है। दोनो १९६७-६८ की कृतियाँ है और तभी घटित हुई (आत्मानुभूत और आत्मघटित मे भेद अज्ञेय १९३९ से करते आये है, दे० **शेखर : एक जीवनी** की भूमिका)। तब तक 'कुट्टिचातन्' और 'अज्ञेय' का घनिष्ठ सम्बन्ध सर्व-विदित नही था, अनन्तर वह स्वीकार कर लिया गया—कुट्टिजात यक्ष की पहचान हो गयी। एक भले ही विकारक मुकुर मे देखा गया यह आत्म-बिम्ब भी आत्म-साक्षात्कार का एक प्रकार माना जायेगा और पाठक के लिए रोचक होगा, यह आशा ही इस के यहाँ दिये जाने का कारण है।

लेखक और प्रकाशक

कुछ लेखक मुझ से शायद इस बात पर ईर्ष्या भी कर सकते है कि प्रकाशक के साथ मेरा पहला साक्षात्कार मेरी पहली रचना को ले कर नही हुआ। लेकिन मैं इस को अपना दुर्भाग्य मानता हूँ। क्योकि बाद मे स्वयं मुझे जो अनुभव हुए, और दूसरो के अनुभवों के जो प्रामाणिक वृत्तान्त मुझे मिले उन के आधार पर मैं कहता हूँ कि नये लेखक और प्रकाशक का संघर्ष लेखक-जीवन का एक बहुमूल्य अनुभव है, और इस संघर्ष से अछूते रह जाना बच जाना नही, बल्कि वचित हो जाना है। शरीर पर के घाव जिस प्रकार सूर की सूरमाई का परिचय देते है, और व्रणहीन शरीर वीरता को भी सन्देहास्पद बना देता है, उसी प्रकार किसी लेखक के कभी प्रकाशक से चोट न खाने का अर्थ भी यह लिया जा सकता है कि वह वास्तव मे लेखनोपजीवी नही है—शौकिया लिख-लिखा लेता है, निरा 'एमेच्योर' है। सच पूछिए तो मैं भी आरम्भ मे लेखन-जीवी नही था। मेरी पहली पुस्तक जब छपी तब मैं जेल मे सरकार की मेह-माननिवाज़ी से लाभ उठा रहा था, और दूसरी पुस्तक यद्यपि छपी मेरे जेल से आ जाने के बाद, तथापि प्रकाशक से उस की लिखा-पढी कुछ अनुग्रहशील सम्पादको की मध्यस्थता से पहले ही हो गयी थी। लेकिन इस प्रकार लेखक-जीवन की मेरी दीक्षा मे जो कमी रह गयी थी उसे बाद के अनुभवो ने पूरा कर दिया। करेले के नीम चढा होने मे फिर भी कोई कसर रह गयी होती, तो वह अपनी दो-एक पुस्तको का प्रकाशक स्वय बन कर मैंने पूरी कर ली!

अकसर सुना जाता है कि लेखन और प्रकाशन अन्योन्याश्रित है: एक के बिना दूसरे का कल्याण तो हो ही नही सकता, जीवन भी सम्भव नही है। यह कुछ वैसी ही बात है जैसी यह, कि विज्ञान प्रगति का साधन

है। अणु-बम और उद्‌जन-बम वैज्ञानिक प्रगति के सूचक हैं, नि सन्देह; लेकिन प्रगति किस दिशा मे ? प्राणिशास्त्र और वनस्पति-शास्त्र मे परस्पर आश्रय के दो रूप बताये जाते है एक जिसे 'सहजीविता' कह सकते हैं— जिस में दो प्राणी या उद्‌भिज एक दूसरे को जीवन की सुविधा देते चलते है; दूसरी जिसे परोपजीविता कहा जाता है और जिस मे एक प्राणी या उद्‌भिज दूसरे के सहारे जीता हुआ उस का प्राण-रस चूस लेता है और उस के विनाश का कारण बनता है। आदर्शों की बात अलग है—आदर्श मे विज्ञान मूलत. कल्याणकारी है और प्रकाशन भी मूलत. कल्याणकारी है। लेकिन समकालीन वास्तविकता देखे तो मानना होगा कि प्रकाशन भी लोक-कल्याण से उतना ही दूर है जितना कि विज्ञान।

वाल्मीकि के समय प्रकाशक नही थे। उस से **रामायण** की कल्याण-कारिता मे कुछ कमी आयी हो ऐसा नही जाना गया। व्यास इस हद तक आधुनिक हो गये थे कि उन्होने एक शीघ्रलिपिक को **महाभारत** बोल कर लिखा दिया था; लेकिन प्रकाशक तब भी नही थे। महाभारत-रूपी ज्ञान-महार्णव इस लिए सूख गया हो, या उस के लेखक की उपजीविका मारी गयी हो, इतिहास मे इस का कोई प्रमाण नही मिलता। प्रकाशक और लेखक का सम्बन्ध साँप और नेवले का है, अथवा साँप और मेढक का अथवा साँप और छछूंदर का—इस बारे मे बहस हो सकती है; लेकिन सच मानिए कि हर हालत मे साँप प्रकाशक ही है! बाकी यह लेखक की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह मेढक की तरह लील लिया जाता है, या कि छछूंदर की तरह 'गीलै बनै न बनै बिनु गीलैं' की स्थिति मे प्रकाशक के गले मे अटका रहता है, या कि फिर नेवले की तरह उस पर हावी हो उठता है। लेकिन कोरी सिद्धान्त-चर्चा छोड कर अपने अनुभव पर आवें।

अभी मैं जेल ही मे था कि एक प्रकाशक ने एक पुस्तक की पांडुलिपि देखने को मँगायी थी। उस के बाद आज तक न वह पाडुलिपि देखने को मिली, न उस का कुछ और पता लग सका। अब तो वह प्रकाशक महोदय भी स्वनामधन्य हो गये है इस लिए उन के बारे मे अधिक कुछ कहना अशोभन होगा। और एक थे, जिन्हे पाडुलिपि के साथ एक सस्क-रण के कागज के दाम भी दिये थे। तब तक इतना सीख लिया था कि पुस्तक की प्रतिलिपि ज़रूर अपने पास रखनी चाहिए, इस लिए पुस्तक का तो उद्धार हो सका; लेकिन वह रुपया उन्होने किस हिसाब मे बराबर कर लिया, यह आज तक न जान पाया। एक ऐसे भी मिले जिन्हे पुस्तक उन

की ओर से स्वय छपा कर दी; यह सज्जन छपाई का हिसाब-विमाव तो क्या चुकाते, पुस्तक ही बेच कर खा गये। लेखक का दुर्भाग्य यह है कि वह जब ऐसे अनुभव सुनाता है, तो उस का स्वर भी अभियोक्ता का स्वर नही होता, क्योकि सुनने वाले सब उसी को अभियुक्त ठहराते हैं—क्यो उस ने ऐसी मूर्खता की ? बचपन मे कथा सुनी थी कि गुड एक बार भगवान् के पास फ़रियाद ले कर गया कि "भगवान्, मुझे बचाइये, जो मुझे देखता है खाने को दौडता है।" भगवान् जी ने जरा मुसकरा कर कहा, "भैया, तनिक दूर खड़े हो कर बात करो"—क्योकि गुड को इतना निकट देख कर स्वयं उन का जी ललच आया था। कुछ वैसी ही दशा बेचारे लेखक की है।

जिन दिनो मैं लाहौर मे था उन दिनो, हमारे पडोस में एक नया बैंक खुला था। मुझे तो बैंक से काम ही क्या पड़ता, लेकिन एक मित्र ने बताया कि उस बैंक में जो कोई नया हिसाब खोलने जाता था उस की बड़ी खातिर होती थी। मैनेजिंग डायरेक्टर साहब स्वयं उस से मिलते थे और उसे चाय पिलाते थे। लेकिन एक बार रुपया जमा कर जो व्यक्ति फिर रुपया निकलवाने आता उस को बिलकुल दूसरी ही स्थिति का सामना करना पडता। या तो मैनेजर या बडे एकाउंटेंट साहब की अनुपस्थिति के कारण चैक पास न हो सकता, या फिर चैक काटने वाले के हस्ताक्षरों मे कोई त्रुटि निकल आती, या कोई दूसरी अड़चन बता दी जाती। अब तो कड़े नियन्त्रण के कारण बैंकों मे ऐसी हरकतें बहुत कम हो सकती हैं, लेकिन प्रकाशकों के लिए यह बायें हाथ का खेल है। आप अगर कुछ भी जाने हुए लेखक हैं तो पांडुलिपि ले कर प्रकाशक के पास जाइये, आप की खातिर कर के वह पांडुलिपि तो हथिया लेगा। अगर उस को आशा हो कि आप कापीराइट भी उसके नाम कर दे सकते है तब तो वह आप की पत्नी के लिए साडी और बच्चों के लिए खिलौने से ले कर अन्न-कष्ट के समय देहरादून के बढ़िया बासमती चावल आप के घर पहुँचाने तक सभी तरह के उपचार कर सकता है। लेकिन एक बार अधिकार उसे दे दीजिए—बस उस के बाद राह चलते आप को पहचान ले तो भी समझिए कि मुरव्वत दिखा रहा है !

या फिर दूसरा पैंतरा यह हो सकता है कि पाडुलिपि की बात सुन कर ही आप को एहसान से लाद दे। अगर आप नये लेखक हैं तब तो निश्चय मानिए कि उसका रवैया यही होगा। "अजी साहब, आज-कल

कौन जनरल पुस्तकें छापने का साहस कर सकता है ? आज-कल तो आप जानते है सिर्फ रीडरे चलती है। हम ने अमुक की पुस्तक छापी थी, पाँच प्रतियाँ भी नही बिकी और अमुक की पुस्तक—हम जानते थे कि उस की एक भी प्रति नही बिकेगी, लेकिन बेचारे की बुरी हालत थी—हम ने सहानुभूतिवश छाप दी। आखिर प्रकाशक भी तो इनसान है !"

वैसे कुशल प्रकाशक इस पैतरे की परिधि के अन्दर भी कई तरह की नफासत दिखा सकता है। जैसे, "अच्छा अब आप आये है तो रख जाइये पाडुलिपि ! मै देखूंगा—" और फिर क्लर्क से कह दे कि 'यह महाशय फिर आये तो भीतर मत आने देना, या कोई बहाना बना कर टाल देना।' या यह भी हो सकता है कि, "देखिए साहब, यह किताब छपने-छपाने की तो है नही। लेकिन आप ने परिश्रम किया है—यह लीजिए पचास रुपये ले जाइए—पुस्तक के राइट हमारे नाम लिख जाइये—हमारे पास पडी रहेगी—और नही तो यही समझ लीजिएगा कि हमारे पास अधिक सुरक्षित है।"

इसी का और भी परिष्कृत, और इस लिए और भी खतरनाक रूप यह होता है कि "साहब, आप तो जानते है इस युग मे चीज नही बिकती, नाम बिकता है। चीज़ कितनी ही अच्छी हो, जब तक उस के साथ कोई बडा नाम न हो, कोई उसे पूछता ही नही। और बडा नाम हो तो उस के साथ चाहे जो कबाड जोड दीजिए चल जायेगा !" इस के बाद प्रकाशक अपने कथन की पुष्टि मे ब्यौरेवार बता देता है कि किस-किस नेता के नाम से कौन-कौन सी रद्दी पुस्तके छपी या बिकी या पुरस्कृत हुई है, और कौन-कौन से महद्ग्रन्थ या तो पाडुलिपि के रूप मे ही दीमको द्वारा खा लिये गये है या छप कर चाट-पकौडी या परचून लपेटने के काम मे आते रहे है—केवल इस लिए कि उन के लेखक पहले ख्यात-नाम नही थे।

लेखक का हौसला पस्त करने के लिए इतना काफी होना चाहिए। इस के बाद वह या तो अपने कागज-पत्तर लपेट कर मुँह लटकाये चल देगा या फिर—जैसी कि प्रकाशक आशा कर रहा है—किंकर्तव्य भाव से उसी से पूछेगा, "तो फिर आप ही कुछ सलाह दीजिए न ?"

प्रकाशक ने तो यह भूमिका रची ही है सलाह देने के लिए ! वह कहता है, "आप तो साहित्यकार है, आदर्श के लिए लिखते है। नाम का मोह आप को तो है नही। मेरी राय तो यही है कि आप ऐसी तरकीब कीजिए कि आप की चीज भी लोगो के सामने आ जाये और

आप को कुछ लाभ भी हो जाये। असल चीज़ तो यही है कि उत्तम साहित्य अधिक से अधिक लोगो के सम्मुख आये, लेखक के नाम से क्या आता-जाता है? आखिर पुराणो-उपनिषदो के लेखको का किसे पता है?"

इस तरह की थोड़ी और प्रभावोत्पादक बात-चीत के बाद वह उपाय यह बताता है कि लेखक पांडुलिपि उसे दे दे, वह किसी प्रसिद्ध व्यक्ति से अच्छे पैसे दिलवा देगा और उसके नाम से पुस्तक छपवा देगा। इस से लेखक को पारिश्रमिक भी मिल जायेगा और उस की पुस्तक भी प्रकाश मे आ जावेगी, उधर प्रसिद्ध व्यक्ति भी प्रसन्न और साथ-साथ थोडा और प्रसिद्ध हो जावेगा, और प्रकाशक को भी थोड़ा-सा लाभ हो जावेगा। इस प्रकार सब को लाभ भी हो जावेगा और लोक-कल्याण भी—'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' के आदर्श का इस से अच्छा निर्वाह और क्या हो सकता है?

इतनी बात तो प्रकाशक आसानी से कह सकता है। लेखक उसे समव्यथी न मानेगा तो भी व्यवहार-कुशल यथार्थवादी तो मान ही लेगा। इस से आगे प्रकाशक यह बताना आवश्यक नही समझेगा कि वह 'प्रसिद्ध व्यक्ति' शायद किसी पाठ्यक्रम समिति का सदस्य भी है, या कि कागज़ के कंट्रोलर का रिश्तेदार है, या सिमेंट के परमिट दिला सकता है। उसे साध कर प्रकाशक भविष्य मे अपना कौन-सा काम निकलवाने की आशा कर रहा है, ऐसी घरेलू बातो से लेखक को क्या मतलब हो सकता है?

या यह भी हो सकता है कि 'प्रसिद्ध व्यक्ति' और कोई न हो कर प्रकाशक की पत्नी ही हो—या कि स्वयं प्रकाशक ही हो और पुस्तक उसी के नाम से छपने की बात हो रही हो। ऐसा अकसर देखा गया है कि प्रकाशक एक प्रकाशक के रूप मे छोड कर और हर रूप मे प्रसिद्ध होना चाहता है—चाहे आलोचक के, चाहे कवि के, चाहे कवयित्री के पति के—या और नही तो कवयित्री के पाणि-पार्थी के रूप मे ही सही! वह भी न हो तो सम्पादकत्व तो कही गया नही है—जो पुस्तक प्रकाशक छाप रहा है उस पर सम्पादक के रूप मे अपना नाम तो वह दे ही सकता है।

प्रकाशक का—या प्रकाशक और लेखक के सम्बन्ध का—यह चित्र एकांगी जान पड़ सकता है। क्या ऐसा असम्भव ही है कि प्रकाशक लेखक का हितैषी हो और सत्साहित्य के प्रणयन और प्रचार मे योग दे सके? असम्भव तो नही है। विदेशो मे इस के कई उदाहरण मिल जावेंगे। भारत